Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म तथा समाजवाद

गुरुदत्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

167920
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म तथा समाजवाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म तथा समाजवाद

आर्ष साहित्य
Complete Vedic Books Store
Yog, Vedic, Ayurvedic, Relegious
All Yog & Organic Products
(M) 9541317278, 8869821498

गुरुदत्त

081
167920

Central Library
167920
Gurukula Kangri (Deemed University) Haridwar

हिन्दी साहित्य सदन, नई दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

© शाश्वत संस्कृति परिषद् १९६७

R
089.9143
GUR-D

मो० 7065618655, 9213527666
हिन्दी साहित्य सदन
2, बी.डी. चेम्बरस, 10/54, देशबन्धु गुप्ता रोड़,
करोल बाग, दिल्ली-110005

प्रकाशक : हिन्दी साहित्य सदन
३०/९०, पी कनॉट सर्कस
नई दिल्ली-१, फोन : ३३६ ३५ ५७
मुद्रक : त्रिवेणी ऑफसेट
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032
फोन : 2288175

167920

₹100-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्ष साहित्य
Complete Vedic Books Store
Yog, Vedic, Ayurvedic, Relegious
All Yog & Organic Products
(M) 9541317278, 8869821468
Web.: aarshsahitya.com

भूमिका

मानसिक दासता का यह लक्षण है कि व्यक्ति अपने स्वामी के गुणगान करने लगता है। शारीरिक दासता और मानसिक दासता में अन्तर होता है। शरीर से दास व्यक्ति मालिक की आज्ञा का पालन तो करता है, परन्तु वह उसको श्रेष्ठ नहीं समझता।

यह अवस्था प्रायः हिन्दुओं की मुसलमानी राज्य में रही। हिन्दू मुसलमान नबाबों और बादशाहों की नौकरी करते थे, परन्तु वे उनको कभी भी अपने से श्रेष्ठ नहीं मानते थे। उनके शरीर तो दास थे, परन्तु मन स्वततंत्र थे और बुद्धि से अपने ज्ञान-विज्ञान को अपने आकाओं के ज्ञान-विज्ञान से श्रेष्ठ मानते थे।

यह स्थिति, अंग्रेजों के डेढ़ सौ वर्ष के राज्य से सर्वथा बदल गई। जहाँ इस्लामी राज्य के सात सौ वर्ष में हिन्दू शारीरिक दासता में रहते हुए भी मानसिक दृष्टि से स्वतन्त्र रहे थे, वहाँ डेढ़-दो सौ वर्ष के अंग्रेजी राज्य में हिन्दुओं ने धीरे-धीरे शारीरिक स्वतन्त्रता तो प्राप्त कर ली, परन्तु मानसिक दासता में फँसते गये। सन् १७५७ से आरम्भ हुई शारीरिक दासता (Political dominance) को सन् १९४७ में पार कर भारतवासी शरीर से (Politically) स्वतन्त्र तो हो गए परन्तु इन्हीं दो सौ वर्षों में हम स्वाभिमानी और अपने धर्म एवं ज्ञान-विज्ञान में निष्ठा रखने वाले न रहकर, अपने भाषा-भाव, वेश-भूषा में योरोप के दास बन गये।

यह चमत्कार जो मुसलमान सात सौ वर्षों में नहीं कर सके, वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंग्रेजी ने दो सौ वर्षों में कैसे कर दिखाया ? इसका रहस्य, सरकारी शिक्षा-पद्धति में और सरकारी भाषा के रूप में अंग्रेजी भाषा के व्यापक प्रचार में छुपा है।

अवस्था यह हो गई है कि इस देश में मानसिक दृष्टि से स्वतन्त्र लोग तो विरले ही मिलेंगे और मानसिक दासों की भरमार हो गई है। मुख्य रूप में मानसिक दास दो प्रकार के हैं। एक वे जो बरमला कहते हैं कि उनके पूर्वज अज्ञ, असभ्य और रूढ़ियों में फँसे हुए थे; अब योरोप के ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश से भारत उन्नत्ति के पथ पर चल पड़ा है। वे अंग्रेजी भाषा के ज्ञान-विज्ञान की खिड़की मानते हैं और कहते हैं कि इस खिड़की से आ रहे ज्ञान के प्रकाश से देश जगमगा रहा है।

दूसरे प्रकार के दास वे हैं, जो किन्हीं कारणों से सभी अपने पुराने बुजुर्गों का नाम लेते हैं, परन्तु प्रत्येक योरोप से आई नई वस्तु और विचार को अपने देश की प्राचीन परम्पराओं में पहले ही उपस्थित बताते हैं। दोनों ही दास-प्रवृत्ति वाले कहे जायेंगे।

मानसिक दृष्टि से स्वतंत्र लोग जिनकी संख्या देश में बहुत कम रह गई है और जिनकी संख्या अंग्रेजी काल की शिक्षा पद्धति के चालू रहने से और भी कम हो रही है, वे हैं जो न तो किसी पुरानी बात को आँखें मूंदकर स्वीकार करने के लिए तैयार हैं, न ही किसी वर्त-मान युगीन बात को बिना विचार किये स्वीकार करने की इच्छा रखते हैं। ये लोग स्वतन्त्र मन और निष्पक्ष बुद्धि से प्राचीन का अध्ययन करते हैं और नवीन से उसकी तुलना करते हैं। ये मन से स्वतंत्र हैं।

वर्तमान पुस्तक, 'धर्म तथा समाजवाद' को हम इन्हीं स्वतंत्र लोगों की दृष्टि से लिख रहे हैं। हमने दोनों पक्षों को सम्मुख रखा है और उससे अपने निष्कर्ष निकाले हैं।

इस पुस्तक की आवश्यकता इस कारण अनुभव हुई है कि देश की काँग्रेसी सरकार, समाजवाद को बलपूर्वक चला रही है। यह सरकार काँग्रेस के राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्ति में किये गए प्रयत्न से प्राप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मान-प्रतिष्ठा के बल पर एवं पुलिस सेना व शिक्षा के बल से समाजवाद जैसी थोथी पद्धति को लोगों के गले उतार रही है।

इससे भी बढ़कर दुःखदायी स्थिति यह है कि हिन्दू विचारधारा पर आधारित राजनीतिक दल कांग्रेस द्वारा प्रचारित समाजवाद से लाभ उठाने के लिए, यह घोषित करने का यत्न कर रहे हैं कि भारतीय विचारधारा में भी समाजवाद विद्यमान है। इन दलों में हिन्दू महासभा अपने क्षीण हो रहे प्रभाव को बचाने के लिए हिन्दू समाजवाद के विचार का प्रसार कर रही है और भारतीय जनसंघ अपनी मन्द गति से बढ़ रहे प्रभाव को गति देने के लिए समाजवाद के मुख्य-मुख्य विचारों को स्वीकार कर रहा है। यह समाजवाद के नाम को तो स्वीकार नहीं करता, परन्तु राज्य द्वारा भूमि, सम्पत्ति एवं आय पर सीमा बाँधी जानी स्वीकार करता है। यह दल आर्थिक प्रजातंत्र को राज्य द्वारा लाने की घोषणा करता है। यह दल व्यक्ति को समाज की उपज मान, समाज के अधिकार द्वारा व्यक्ति के व्यक्तितत्व को निःशेष करने में विश्वास प्रकट करता है। यह दल मज़दूर और कर्मचारी का हड़ताल करना एक जन्म-सिद्ध अधिकार मानता है। इत्यादि।

हम इन दोनों के प्रयासों को, भले ही वे सामयिक उपयोगिता के लिए स्वीकार किये गए हों, देश, राष्ट्र एवं भारतीयता के लिए शुभ प्रभाव वाले नहीं मानते।

इस कारण इस पुस्तक के लिखने की आवश्यकता अनुभव हुई है। पुस्तक में हमने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि समाज में धर्मवाद का प्रचार होना चाहिए। धर्मवाद वास्तव में धर्म (कानून) के अन्तर्गत व्यवहार को कहते हैं। हमने धर्म और धर्मवाद की व्याख्या पुस्तक में की है। साथ ही बताया है कि इसका आधार आस्तिकवाद है।

आस्तिकवाद केवल ईश्वर को मानना ही नहीं है, वरंच इस जगत् के पूर्ण रहस्य (त्रैतवाद) को समझना है। भोग (प्रकृति), भोक्ता (जीवात्मा) और नियंता (देव) के परस्पर सम्बन्ध को जाने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिना मनुष्य की कल्पना असम्भव है। मनुष्य को जाने बिना मनुष्य-समाज की बात करना मिथ्या और अनर्गल है।

जो लोग यह नहीं जानते कि मनुष्य क्या है, वे मानव समाज की बात कैसे कर सकते हैं ? मनुष्य को एक मिट्टी का ढेला मानने वाले मनुष्य समाज को एक वस्तुओं का संग्रहालय ही बना देंगे। मनुष्य समाज की यह कल्पना भारतीय नहीं।

मनुष्य का आत्मा अपने सांसारिक बंधनों को तोड़कर स्वतंन्त्र होना चाहता है। जो समाज जीवात्मा के इस स्वाभाविक प्रयास में बाधा डालने वाला होगा, वह समाज नहीं होगा, प्रत्युत एक बंदीगृह बन जायेगा । मनुष्य पर बंधन केवल धर्म का है। हमने धर्म की व्याख्या पुस्तक में संक्षेप में कर दी है। साथ ही समाजवाद के विषय में स्पष्ट शब्दों में प्रमाण सहित व्याख्या की है। दोनों वादों में किसी प्रकार का ताल-मेल दिखाई नहीं देता।

निःसंदेह, हमारे विचार में, धर्मवाद और समाजवाद एक नहीं, ये परस्पर विरोधी पद्धतियाँ है। धर्मवाद कल्याण का सूचक है। कारण यह कि यह मनुष्य को अधिक से अधिक स्वतंत्रता प्रदान करता है। समाजवाद समाज के नाम पर व्यक्ति को बंधनों में जकड़ने वाला है।

यह कहा जाता है कि भूमण्डल में अकिंचनों की संख्या अधिक है। अतः उनका राज्य बहु-संख्या को सुख-सुविधा देने वाला होगा। यह मिथ्या कथन है। समाजवाद व्यक्ति के लिये, चाहे वह अकिंचन हों, चाहे सम्पन्न, बन्धनों का सूचक है। यह समाजवादी देशों की वर्तमान स्थिति से स्पष्ट है। वहाँ खाने, पहनने, रहने, विचार करने, व्यवहार करने, विचार व्यक्त करने, अभिप्राय यह कि प्रत्येक मानव-क्रिया-कलापों पर समाज अर्थात् राज्य द्वारा नियम-उपनियम बनाकर नियंत्रण रखा गया है। किसी भी व्यक्ति को स्वतंत्रता से आगे बढ़ने की स्वीकृति नहीं।

यह मिथ्या सिद्धान्त है कि सबको साथ लेकर बढ़ो। सत्य यह है कि बिना किसी को हानि पहूँचाए स्वेच्छा से बढ़ने का नाम स्वतंन्त्रता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। यह धर्मवाद में ही सम्भव है।

दोनों वाद पूर्णतया वर्णन नहीं किये जा सकते। पुस्तक में स्थान की सीमा थी, इस पर भी दोनों का चित्र यथासम्भव स्पष्ट दिया गया है।

हमें आशा है कि इससे पाठक वर्ग की ज्ञान में वृद्धि होगी और भारतीय समाज में क्षीण हो रहे स्वतन्त्र वर्ग में वृद्धि होगी।

—गुरुदत्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-क्रम

प्रथम भाग

अध्याय			पृष्ठ
प्रथम—मनुष्य	...	...	६
द्वितीय—मनुष्य की उत्पत्ति	...	...	२०
तृतीय—आत्म-तत्त्व	...	...	३१
चतुर्थ—आत्मा-परमात्मा	...	...	३६
पंचम—मनुष्य और कर्म-अकर्म	...	...	५५
षष्ठ—धर्म	...	...	६४
सप्तम—अर्थ-व्यवस्था	...	...	७०
अष्टम—राज्य	...	...	७७
नवम—समाज	...	...	८६
दशम—समाज और व्यक्ति	...	...	६३
एकादश—समाज और राज्य	...	...	११०
द्वादश—समाज, राज्य और अर्थ	...	...	१२४
त्रयोदश—समाज और वर्ग	...	...	१४१
चतुर्दश—आर्थिक समानता	...	...	१५८

द्वितीय भाग

प्रथम—समाजवाद के लक्षण	...	...	१६६
द्वितीय—समाजवाद की पृष्ठभूमि	...	...	१७७
तृतीय—सेंट साइमन	...	...	१८८
चतुर्थ—चार्ल्स फॉरार	...	...	१६४
पंचम—रौबर्ट ओवन	...	...	१६६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय			पृष्ठ
षष्ठ—मार्क्स और एंजल : कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र		...	२०७
सप्तम—अर्थ-व्यवस्था	...	...	२२३
अष्टम—परिश्रम और पूंजी	...	...	२२९
नवम—पूंजी-निर्माण	...	...	२३५
दशम—'कैपिटल' की कुछ अन्य बातें	...	...	२४३
एकादश—कम्युनिज़्म की अव्यवहारिकता	...	...	२४६

तृतीय भाग

प्रथम—समाजवाद का यथार्थ रूप	...	...	२५५
द्वितीय—राज्य का समाजवादी रूप	...	...	२६७
तृतीय—समाजवाद और प्रजातन्त्र	...	...	२८२

चतुर्थ भाग

प्रथम—धर्म-व्यवस्था	...	...	२९९
द्वितीय—वर्ण-धर्म	...	...	३०४
तृतीय—आश्रम-धर्म	...	...	३११
चतुर्थ—धर्म में व्यवस्था देने वाले	...	...	३१७
पंचम—धर्मानुसार शासन	...	...	३२२
षष्ठ—समाजवादी राज्य और धर्म-राज्य में अन्तर		...	३२९
सप्तम—समाजवाद की मुख्य बातें और धर्म		...	३३४
अष्टम—निष्कर्ष	...	...	३४६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथम भाग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथम अध्याय

मनुष्य

जब हम समाजवाद पर विचार करते हैं तो प्रश्न उत्पन्न होता है कि किनका समाज ? निःसन्देह हम मनुष्य-समाज पर विचार कर रहे हैं। अतः इस विचार का प्रारम्भिक बिन्दु मनुष्य है।

मनुष्य क्या है ? वह कैसे इस सृष्टि पर उत्पन्न हुआ और उसका क्रिया-कलाप क्या है ? वह किस कारण-वश कार्य करता है; कार्य करने के लिए उसने कौन-कौनसे साधन एकत्रित कर लिए हैं और क्या कर रहा है ? मनुष्य पर विचार करते ही ये सब और अनेकों अन्य प्रश्न उत्पन्न हो जाते हैं।

यह दर्शन शास्त्र का एक महान् प्रश्न है कि मनुष्य क्या है, इसमें क्या-क्या तत्त्व मिले हैं और फिर इसका प्रादुर्भाव इस पृथ्वी पर कैसे और क्यों हुआ है ? सब देशों के दार्शनिकों ने इस प्रश्न पर विचार किया है। अनेक विचार प्रस्तुत किये गए हैं और फिर उन विचारों की पुष्टि में अनेक युक्तियाँ उपस्थित की गई हैं। विचारों की पुष्टि के लिए प्रमाण भी एकत्रित करने का यत्न किया गया है।

भारत के प्राचीन वाङ्मय में भी जगत् और उसमें प्राणी-सृष्टि के प्रश्न पर प्रकाश डालने का यत्न किया गया है। अर्वाचीन भारतीय दार्शनिक तो प्रायः योरोप के दार्शनिकों की परिपाटी का अनुसरण ही करते हैं। अतः अर्वाचीन विचार का ज्ञान तो योरोपीय दार्शनिकों के अध्ययन से ही ज्ञात हो जायगा। हम प्राचीन भारतीय विचार और अर्वाचीन योरोपीय विचार, दोनों दृष्टियों से मनुष्य प्राणी की मीमांसा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत करेंगे।

जगत् में सब पदार्थों को, सर्वप्रथम दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। जड़ पदार्थ और जीव पदार्थ। जड़ और जीव में भेद स्पष्ट दिखाई देता है। जड़ पदार्थ चेतना रहित होते हैं। जीव पदार्थ चेतना युक्त होते हैं। चेतना के लक्षण किये गए हैं। न्याय दर्शन में चेतना के लक्षण लिखे हैं—सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष, ज्ञान और प्रयत्न।

न्याय दर्शन में चेतना और आत्मा का अपरिहार्य सम्बन्ध माना है। इस कारण ये लक्षण आत्मा के भी माने गये हैं। लिखा है—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिंगमिति।[1]

वैशेषिक दर्शन में भी लिखा है—

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तर्विकाराः

सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिंगानि॥[2]

इच्छा (पदार्थों की प्राप्ति की अभिलाषा), द्वेष (दुःखादि की अनिच्छा अर्थात् उनसे वैर), प्रयत्न (सुख प्राप्ति और दुःख निवारण के लिये यत्न करना), सुख और दुःख (का अनुभव), ज्ञान अर्थात् दोनों में भेद जानना और विवेक, ये आत्मा के लक्षण हैं। वैशेषिक दर्शन में इनके गुणों के अतिरिक्त प्राण, अपान, आँखें खोलना बन्द करना, अर्थात् इन्द्रियों से कार्य लेना, मन अर्थात् संस्कारों का संचय इत्यादि और अधिक लिखे हैं।

ये सब गुण उनमें पाए जाते हैं, जिन पदार्थों में जीव रहता है अर्थात् जिनको जीवित (living) पदार्थ कहते हैं।

वर्तमान विज्ञान में भी जड़ पदार्थ तथा जीवधारियों में पृथकता का वर्णन किया गया है। प्राणी शास्त्र (Biology) में प्राणी (living object) उनको माना है, जो (१) भोजन ग्रहण कर उसे अपने शरीर का अंग बना लेते हैं; (२) अपने समान सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं; तथा (३) अपनी सुरक्षा में यत्नशील रहते हैं।

भारतीय दर्शन शास्त्र में और अर्वाचीन विज्ञान में जीवित पदार्थ

१. न्याय दर्शन १-१-१०; २. वैशेषिक दर्शन ३-२-४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लक्षणों में परस्पर अन्तर है। यहाँ हम दोनों द्वारा बताये लक्षणों में गुण-दोष न बताकर यही प्रकट करना चाहते हैं कि प्राचीन अथवा अर्वाचीन ज्ञान-विज्ञान जगत् के पदार्थों को दो श्रेणियों में विभक्त करते हैं। एक श्रेणी है जड़ पदार्थों की और दूसरी श्रेणी है जीवित पदार्थों की। जीवित पदार्थों के लक्षण ऊपर दोनों पद्धतियों के अनुसार लिख दिये हैं।

यह देखा गया है कि जीवित पदार्थ ही अर्थात् एक प्राणी (living-body) ही प्राणी का निर्माण कर सकता है। जड़ पदार्थ से प्राणी की उत्पत्ति नहीं हो सकती। आधुनिक वैज्ञानिक जीवन के इस रहस्य को समझने का यत्न कर रहे हैं। इस रहस्य को समझकर वे जड़-पदार्थ से ज़ीवधारी उत्पन्न करने का यत्न करना चाहते हैं। अभी तक वे इस रहस्य को जान नहीं सके और जड़ से चेतन की उत्पत्ति बिना जीवधारी की सहायता के नहीं कर सके।

वैज्ञानिक यह कर सकेंगे अथवा नहीं ? कहना कठिन है। कुछ भी हो भारतीय मत यह है कि जब शरीर का निर्माण वैसा किया जा सकेगा, जैसा एक जीवधारी रज और वीर्य के संयोग से कर सकता है, तब आत्मा उस शरीर में आकर निवास ग्रहण कर लेगा। आत्मा के वैसे शरीर में निवास करने पर ही जीव अर्थात् प्राणी की सृष्टि पूर्ण होगी। आधुनिक वैज्ञानिक एक प्राणी का निर्माण जड़ पदार्थ से नहीं कर सका। कारण यह है कि उस बीज का निर्माण करने में अभी तक वह अशक्त सिद्ध हुआ है, जैसा बीज प्राणी अपने जीवित शरीर से निर्माण करने की शक्ति रखता है।

भारतीय मतानुसार बीज का निर्माण आत्मा और परमात्मा की संयुक्त शक्ति के बिना नहीं हो सकता और ईश्वरीय विधान से इस पृथ्वी पर प्राणी की उत्पत्ति के लिए बीज का निर्माण रज और वीर्य के संयोग की प्रक्रिया से ही सम्भव है।

वर्तमान युग के वैज्ञानिक बीज (germ-cell) का निर्माण अपनी विधि से करना चाहते हैं। भारतीय मत है कि यदि वे ऐसा कर भी सकें तो भी उसमें आत्मा के निवास के बिना वह बीज प्राणी नहीं बन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकेगा। दूसरे शब्दों म उसमें वे लक्षण उत्पन्न नहीं होंगे जो न्याय तथा वैशेषिक दर्शन में जीवधारी के वर्णन किये हैं अथवा जो आज का वैज्ञानिक अपने प्राणी-शास्त्र में जीवित पदार्थ (living body) के लक्षण बताता है।

कुछ लोग समझते हैं कि आत्मा तथा परमात्मा हो अथवा न हो, प्राणी का निर्माण प्रयोगशाला में सम्भव है और वे ऐसा करने में लीन हैं। इस विश्वास से वे नित्य नये परीक्षण कर रहे हैं।

जैसा कि हम लिख चुके हैं हमारा केवल इतना बताने से प्रयोजन है कि प्राणी (living object) जड़ पदार्थ से भिन्न है और जड़ पदार्थ प्राणी में बदला नहीं जा सकता। दोनों भिन्न-भिन्न श्रेणी के पदार्थ हैं।

प्राणियों में भी अनेक श्रेणियां हैं। उन सब में वे गुण पाये जाते हैं जिनका उल्लेख न्याय, वैशेषिक अथवा आज का प्राणी शास्त्र (Biology) करता है। इस पर भी एक श्रेणी दूसरी श्रेणी से भिन्न है। मुख्य रूप में दो श्रेणियां हैं। स्थावर तथा जंगम। स्थावर वे हैं, जो एक स्थान पर स्थिर रहते हैं। इनको वनस्पति जगत् (vegetable kingdom) कहते हैं। जंगम उनको कहते हैं जो एक स्थान पर स्थिर नहीं। वरं चलते-फिरते रहते हैं। इनको जन्तु (animal kingdom) कहते हैं।

मनुष्य, प्राणी अर्थात् जीवित पदार्थ है। अतः यह जन्तु (animal) है।

जन्तुओं में भी अनेक प्रकार हैं। इनको जातियां कहते हैं। यूं तो वनस्पतियों में भी जातियां हैं। जातियों का सम्बन्ध योनि अर्थात् उनके उद्गम स्थान से है। एक प्रकार की योनि में उसी प्रकार की योनि रखने वाले जन्तु उत्पन्न होते हैं। बन्दर की योनि से बन्दर और रीछ की योनि से रीछ ही उत्पन्न हो सकता है। इसी प्रकार मनुष्य की योनि से मनुष्य ही उत्पन्न होता है।

आज के वैज्ञानिक न केवल यह कहते हैं कि जड़ से चेतन पदार्थ बने हैं वरंच उनका तो कहना है कि चेतन पदार्थ भी आरम्भ में एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही प्रकार के थे और धीरे-धीरे उनमें भेद होते-होते आज जन्तुओं में अनेक जातियाँ दिखाई देने लगी हैं। मनुष्य भी आदि जन्तु (amoeba) की ही सन्तान है।

आज के वैज्ञानिकों का यह कहना कि जड़ से ही चेतन निर्माण हुआ है, अभी कल्पना क्षेत्र की बात ही है। जड़वादी दार्शनिकों ने बहुत लम्बी-लम्बी कल्पना की उड़ानें लगाई हैं, परन्तु ये अभी कल्पना की उड़ान मात्र ही हैं।

इसी प्रकार भारतीय अद्वैतवादियों का यह मत कि जगत् का आदि पदार्थ एक परमात्मा ही है, भी एक वाद (theory) मात्र है। यह अभी एक असिद्ध विचार है। जैसे जड़वादियों का यह कथन कि आदि पदार्थ केवल जड़ (matter) ही है, एक विचार मात्र ही है। ये दोनों वाद प्रमाण एवं युक्ति से सिद्ध नहीं किये जा सके। सत्य क्या है, कहना कठिन है, परन्तु युक्ति यह मानती है कि प्रकृति और आत्म-तत्त्व दो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं और जहाँ दोनों में संयोग हुआ है, वहाँ जीवन (life) के लक्षण जैसे वैशेषिक तथा न्याय-दर्शन में वर्णन किये हैं, प्रकट हो जाते हैं।

भारतीय वाङ्मय में दो प्रकार के आत्म तत्त्व माने हैं। वेद में लिखा है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥[1]

श्वेताश्वतर-उपनिषद में भी लिखा है—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥[2]

ऋग्वेद में आत्मा, परमात्मा को प्रकृति रूपी वृक्ष पर बैठे हुए बताया है। आत्मा उस वृक्ष (प्रकृति) के फल खाता (भोगता) है और परमात्मा केवल साक्षी मात्र है।

उपनिषद् में बताया है कि ईश्वर सर्वज्ञ है, जीव अज्ञ है। ईश्वर सर्व समर्थ है और जीव असमर्थ है। ये दोनों अजन्मा अर्थात् अनादि

१. ऋ० १-१६४-२०; २. श्वे० १-९;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। एक अजन्मा प्रकृति है। वह प्रकृति जीव के लिए भोग्य सामग्री है। विश्वरूप आत्मा (परमात्मा) तो अनन्ता और अकर्ता है। जब कोई इन तीनों को ब्रह्म (महान्) मानता है, वह (ज्ञानवान्) हो जाता है।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय शास्त्र मानता है कि एक प्राणी में तीन तत्त्व विद्यमान होते हैं। प्रकृति (matter) दूसरे जीव और तीसरे परमात्मा। परमात्मा तो सर्वव्यापक है, परन्तु आत्मा एक प्राणी में ही व्यक्त होता है।

आधुनिक वैज्ञानिक ऐसा नहीं मानता। वास्तव में यह (प्राणी) विज्ञान का विषय भी नहीं है। विज्ञान तो अभी जड़ पदार्थों के विश्लेषण में लगा है। इसकी पहुँच चेतना के क्षेत्र तक नहीं हुई। पहुँच हो भी जाए तो भी यह दर्शन को पार नहीं कर सकती।

एक अंग्रेजी लेखक विल्ल ड्यूरान्ट (Will Durant) अपनी पुस्तक The Story Of Philosophy के प्राक्कथन में लिखते हैं— Science gives us knowledge but only philosophy can give us wisdom.

उनका कहना है कि सायंस पदार्थों का ज्ञान करा सकती है, परन्तु बुद्धि की प्राप्ति तो दर्शन द्वारा ही हो सकती है। इसका अभिप्राय यह है कि वैज्ञानिक-परीक्षण तस्तुओं का ज्ञान करा सकते हैं, परन्तु उसमें क्यों का उत्तर विज्ञान नहीं दे सकता। इसके लिए दर्शन शास्त्र (Philosophy) ही सहायक होगा।

उदाहरण के रूप में विज्ञान ने परीक्षण किये और पता किया कि प्राणी का बीज (Germ-cell) प्राणी की सहायता के बिना नहीं बन सकता। यह क्यों है इसका उत्तर विज्ञान नहीं दे सकता प्रत्युत दर्शन शास्त्र (Philosophy) देगा।

इसी प्रकार परमाणु अन्तर्गत कणों के विश्लेषण से पता चला है कि जब प्रोटोन (Proton) नष्ट होता है तो वह शक्ति में विलीन हो जाता है। वैज्ञानिकों ने प्रोटोन को विनष्ट कर शक्ति तो प्राप्त कर ली, परन्तु यह प्रोटोन क्यों बना ? इसका उत्तर वैज्ञानिक नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दे सकता। यह उत्तर दार्शनिक देगा।

सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी के योरोपीय दार्शनिक तत्कालीन वैज्ञानिकों के आश्रय अपना दर्शन-शास्त्र चलाने लगे। उनके विचार को सीमा वैज्ञानिकों ने निश्चय की थी और परिणाम यह हुआ कि तत्कालीन दार्शनिक पंगु हो नास्तिक बन गये।

सुकरात ने अपने 'दर्शन' (Philosophy) का आधार विज्ञान नहीं बनाया था। उससे पहले भी यूनान में कई दार्शनिक हो चुके थे। थेल्ज़ (Thales) हरक्लिप्टस (Hercliptus) तथा परमेनाईडीस (Parmenides) इत्यादि। वे प्रायः बाह्य पदार्थों, अर्थात् प्रकृति और नापी-तोली जा सकने वाली वस्तुओं के विषय पर ही लिखते तथा कहते रहे। परन्तु सुकरात ने कहा—That is very good······but there is an infinitely worthier subject for philosophers than all these trees and stones and even all those stars, there is the mind of man. What is man and what can he become?

(यह सब कुछ ठीक है···परन्तु इनसे कहीं अधिक योग्यतर विषय दार्शनिकों के विचार के लिये है। इन पेड़ों, पत्थरों और उन सब तारागणों से भी अधिक उपयुक्त विषय है मनुष्य का मन। मनुष्य क्या है और यह क्या बन तकता है?)

इस प्रकार दृश्य संसार के विषय में विचार करने के स्थान सुकरात मानव आत्मा के विषय में जानने का यत्न करता रहा था।

योरोप के सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी के दार्शनिक स्पिनोज़ा, वाल्टेयर, रूसी, हर्बर्ट, स्पैन्सर, फ्रैडरिक, नीज़्शे, सब के सब तत्कालीन विज्ञान से अपने विचारों को सीमा बांधते थे। इस कारण ये प्रायः मनुष्य और मानव समाज के बाहरी रूप के विषय में ही विचार कर सके थे।

फ्रैडरिक नीज़्शे (Friedrich Nietzsche) के विषय में कहा जाता है कि Nietzsche was the child of Darwin and the brother of Bismark.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये लोग रईसों के राज्य (Aristocracy), जनता के राज्य (Democracy), विकासवाद (Evolution theory) पर लिखते रहे। इनकी दृष्टि इस जगत् और मानव जन्तु के गम्भीर तत्त्व की ओर जा ही नहीं सकी।

इनके विपरीत कठोपनिषद् के नचिकेता कहते हैं :

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो
यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढ़मनुप्रविष्टो।
नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥[१]

(हे महाराज! मरने के पश्चात् जीव रहता है या नहीं रहता? मुझे बताइये कि महान् परलोक क्या है? मुझको अन्य कुछ नहीं चाहिए।)

इससे पूर्व यमराज से दिया गया सांसारिक वैभव पुत्र, कलत्र, धन, दौलत सब कुछ वह अस्वीकार कर चुका था। उसने अपनी अभिलाषा आत्मतत्त्व के विषय में जानने की ही प्रकट की।

कहने का अभिप्राय यह है कि दर्शन का स्थान विज्ञान अर्थात् निरीक्षण से प्राप्त ज्ञान को पार करके है, न कि उसके अन्तर्गत।

यही कारण है कि जब विज्ञान आत्मतत्त्व के विषय में कुछ नहीं जान सका तो उस विज्ञान की बँधी सीमा में रहने वाले दार्शनिक नास्तिक हो गये। वे पूर्ण संसार की घटनाओं को पार्थिव पदार्थों के आधार पर वर्णन करने लगे। इन्होंने प्राणी की चेतनता को भी, गंधक के तेज़ाब से हाईड्रोजन उत्पन्न करने वालों की भांति तेज़ाब और क्षारों का मिश्रण मान लिया।

मनुष्य एक प्राणी है। प्राणियों में वह जन्तु है। जन्तुओं में वह सर्वश्रेष्ठ है।

प्राणी, जैसा कि भारतीय शास्त्र मानते हैं, प्रकृति, जीव और परमात्मा के संयोग को कहते हैं। मनुष्य दूसरे प्राणियों से इस बात में श्रेष्ठ है कि इसमें बुद्धि-यन्त्र अन्य प्राणियों से अधिक उन्नत है।

१. कठो० १-१-२९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शारीरिक बल और शारीरिक आकार-विस्तार में तो अन्य कई जन्तु इससे श्रेष्ठ हैं। रूप-रंग में भी कई जंगली जानवर अधिक सुन्दर दिखाई देते हैं, परन्तु पृथ्वी पर सब जलचरों तथा नभचरों से अधिक विकास-योग्य बुद्धि-यन्त्र मनुष्य को ही मिला है।

यह ठीक है कि सब मनुष्यों की बुद्धि एक समान विकसित नहीं होती, न ही एक समान विकास पा सकती है। इस पर भी यह निश्चित बात है कि मनुष्य की बुद्धि भू-मण्डल के अन्य सब जीव-जन्तुओं की बुद्धि से अधिक विकास-योग्य है। एक साधारण मनुष्य किसी भी साधारण जन्तु से अधिक विकास-योग्य बुद्धि रखता है। अतः मनुष्य एक बुद्धिशील प्राणी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीय अध्याय
मनुष्य की उत्पत्ति

सायंटिस्ट (वैज्ञानिक) किसी भी बात को तब तक मानने के लिये तैयार नहीं होता, जब तक वह उसको अपनी प्रयोगशाला में बनाकर न देख ले।

परन्तु डार्विन के विकासवाद को वैज्ञानिक बिना किसी प्रकार का परीक्षण किये कैसे मान बैठे, यह एक न समझ में आने वाली बात है। डार्विन ने तो केवल यह कहा था कि बहुत से जीव-ज़न्तुओं के अध्ययन के उपरान्त यह समझ में आता है कि सब प्राणी एक आदि प्राणी की सन्तान हैं। यह एक वैज्ञानिक का कथन नहीं था प्रत्युत एक दार्शनिक का कथन था। दार्शनिक के कथन की परीक्षा युक्ति से ही की जा सकती है। दार्शनिकों की बात दार्शनिक ही सिद्ध अथवा असिद्ध कर सकते हैं। इसी कारण विस्मय होता है कि इसको एक वैज्ञानिक तथ्य कैसे मान लिया गया ? विज्ञान में अतुल उन्नति, और तकनीकी चातुर्य में असीम विकास हो जाने पर भी वैज्ञानिक जन्तुओं की कोई भी नवीन जाति निर्माण नहीं कर सके। युक्ति भी इस बात की पुष्टि नहीं कर सकी कि मनुष्य की-सी बुद्धि किसी इतर जीव-जन्तु में उत्पन्न हो सकती है।

साथ ही डार्विन का विकासवाद, जड़ से चेतन प्राणी के निर्माण को प्रयोगशाला में सिद्ध करना तो दूर रहा, युक्ति में भी ठहर नहीं सका। प्रथम जीव कैसे बना अथवा कहाँ से आया, विकासवाद नहीं बता सका। अतः अधिक से अधिक हम विवासवाद को एक लंगड़ा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Ro 89.9143
GUR-D
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
Central Library
167920
Gurukula Kangri University Haridwar

वाद ही कह सकते हैं। यह एक वैज्ञानिक तथ्य तो है ही नहीं।

इसके विपरीत दर्शन-शास्त्र विशेष रूप में भारतीय दर्शन-शास्त्र पृथ्वी पर प्राणी की उत्पत्ति का वर्णन अधिक स्पष्ट और विचार-युक्त ढंग से करते हैं। भारतीय शास्त्र इस पृथ्वी पर मानव-सृष्टि तथा पशु-पक्षी इत्यादि भी सृष्टि का एक विषद् वृत्तान्त बताते हैं।

यह ठीक है कि भारतीय विवेचना का आधार आस्तिकवाद है। अर्थात् भारतीय दर्शन-शास्त्र यह मानता है कि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक परमात्मा है। उसके आधार पर ही सृष्टि, जड़ और चेतन, की उत्पत्ति का वर्णन भारतीय-शास्त्र करता है।

आत्म-तत्त्व की उपस्थिति के विषय में तो हम आगे चलकर लिखेंगे। यहाँ हम यह कहना चाहते हैं कि आत्म-तत्त्व को मानकर भारतीय दर्शन-शास्त्र सृष्टि की उत्पत्ति की एक प्रक्रिया बताते हैं। वह प्रक्रिया डार्विन के बिकासवाद से अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होती है।

वेदों में संक्षिप्त रूप में तथा अलंकार बांधकर सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। ऋग्वेद में लिखा है :

अग्नि मीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।[1]

इस मन्त्र ता अर्थ इस प्रकार है—

अग्नि-रूपी परमात्मा जो जगत् रूपी सृष्टि के निर्माण से पहिले भी था, वह यज्ञ कर रहा है, जिससे सबका कल्याण होता है।

इसी भाव को श्वेताश्वर उपनिषद् में इस प्रकार लिखा है—

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य, इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः।
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपा :॥[2]

परमात्मा एक ही है। वह इन लोकों को बनाता है और उन पर शासन करता है।

सबके भीतर वह ठहरा हुआ है। समय पर वह विश्व का निर्माण करता है और फिर प्रलयकाल में सबको अपने में समा लेता है।

इससे कुछ अधिक व्याख्या में ऋग्वेद के मंत्र १-९५-१ में सृष्टि की

१. ऋ० १-१-१; २. श्वे० ३-२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्पत्ति के विषय में लिखा है। उसमें अग्नि(शक्ति)जिसको परमात्मा का निर्माता रूप माना है, दो प्रकार की मानी है। ये अग्नियाँ दिन-और रात की भाँति एक-दूसरे के बालक का पोषण करती हैं। परमात्मा की कर्तृ शक्ति दो रूपों में प्रकट होकर दोनों द्वारा बन रही सृष्टि का पालन करती है।

इसकी तुलना वर्तमान युग के वैज्ञानिकों के इलेक्ट्रॉन (Electron) और प्राटॉन (Proton) से की जाये तो अर्थ अधिक स्पष्ट हो जायेंगे।

इससे भी अधिक स्पष्ट वृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा। उपनिषदकार कहता है—

ब्रह्म दिन के उषा काल (सृष्टि के आरम्भ) में परमात्मा का यज्ञ (सृष्टि उत्पत्ति का कार्य) आरम्भ हुआ। प्रकृति ने आत्मवान् होने की इच्छा की; इससे प्रकृति में गति उत्पन्न हुई। उस गति से समुद्र की भाँति विशाल करोड़ों-पद्मों मीलों में आपः (महत्) उत्पन्न हुआ। उसमें पुनः उसी आत्मा के बल से चक्राकार गति उत्पन्न हुई और हिरण्यगर्भ (नैबुला) बना। इससे सूर्य तथा नक्षत्र बने।[1]

नक्षत्रों में धर्म की व्यवस्था बनी (नियम से कार्य करने का चलन हुआ) तो उन पर सृष्टि हुई।[2]

इस प्रकार सृष्टि-उत्पत्ति का अति संक्षिप्त परन्तु स्पष्ट विवरण वेद आदि ग्रन्थों में मिलता है। इसकी अधिक व्याख्या तो पुराणादि ग्रन्थों में पाई जाती है।

उदाहरण के रूप में पृथ्वी पर जब देवता धर्म-बद्ध होकर (अर्थात् प्राकृतिक दिव्य पदार्थ, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, वरुण इत्यादि नियम पूर्वक) कार्य करने लगे तो यहाँ पर एक विराट् पुरुष बना। परमाणुओं की चक्राकार गति से एक चलायमान वृहत् अण्डाकार गोला बना। अपनी चक्राकार गति से उत्पन्न अभिकेन्द्रीय बल (Centrifugal force) से वह गोला टूट गया और उसमें से अनेकों प्रकार के प्राणी उत्पन्न हुए।

जब सब प्राकृतिक शक्तियाँ और पदार्थ जीवन को चलाने योग्य

१. वृहदा० अध्याय १, ब्राह्मण २; २. वही;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो गए, तब परमात्मा की शक्ति से और आत्माओं के संयोग से गर्भ-पिण्ड की भाँति एक महान् अण्डाकार विराट् पुरुष बना। वह बड़ा हुआ और जगत् के सब पदार्थों की भांति चक्राकार गति में घूमने लगा। इस गति से उत्पन्न अभिकेन्द्रिय बल से वह अण्डाकार विराट् पुरुष फूटा और उससे जीव-जन्तु उत्पन्न हुए।[1]

यह भी सम्भव है कि उस समय की पृथ्वी पर की अवस्था में एक के स्थान अनेकों विराट् पुरुष बने हों। उल्लेखनीय बात इस प्रक्रिया में यह है—

१—विराट् पुरुष के फूटने पर सब प्राणी एकदम बने;

२—सब प्राणी पूर्ण बने। अर्थात् उनके सब अंग-प्रत्यंग पूर्ण थे;

३—प्रत्येक प्राणी में परमात्मा की शक्ति का वास था। प्रत्येक में आत्मा की उपस्थिति थी और प्रत्येक का शारीरिक गठन पूर्ण था। अर्थात् उनमें मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ तन्मात्रा इत्यादि की उपस्थिति थी;

४—ये जीव-जन्तु आदिकाल में भी वैसे ही थे, जैसे आज हैं। अन्तर था इनकी बुद्धि में विकास का। फिर उस विकास से उत्पन्न सुख-सामग्री पीछे हुई। इसके लिए भी कुछ आत्माएँ पूर्व कल्प के श्रेष्ठ कर्मफलों से इस विराट् पुरुष से उत्पन्न शरीरों में आयीं और वे अपने पूर्व कल्प के संचित ज्ञान से वेदादि शास्त्र कहने लगीं। यही ज्ञान का स्रोत मनुष्य को उन्नति करने में सहायक हुआ।

इस ज्ञान से अन्य जीव-जन्तु (पशु पक्षी इत्यादि) तो लाभ नहीं उठा सके, परन्तु मनुष्य की विकासशील बुद्धि इससे लाभान्वित हुई।

परमात्मा की कर्तृ शक्ति, जिसको वेदों में अग्नि नाम से स्मरण किया है, पुराणादि ग्रन्थों में उसको ब्रह्मा, प्रजापति इत्यादि नामों से लिखा गया है, उसने सब-कुछ बनाया, जिसमें प्राणी-सृष्टि और मनुष्य भी हैं।

जब मनुष्य तथा अन्य जीव-जन्तु बन गए तो ममुष्य अपनी बुद्धि के आश्रय और ऋषियों द्वारा बताये ज्ञान से लाभ उठा, इस पृथ्वीपर सुख-पूर्वक रहने लगा।

---

१. भा० पु०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगभग यही प्रक्रिया उन सब प्राचीन विद्वानों ने लिखी है जो परमात्मा और आत्मा के अस्तित्व को मानते थे।

यूं तो परमात्मा के अस्तित्व पर विश्वास न रखने वाले मनुष्य सदा रहे हैं, परन्तु किसी न किसी कारण प्राचीन नास्तिकों के लेख इत्यादि कुछ अधिक नहीं मिलते। उनका लेख आस्तिकों के ग्रंथों में ही मिलता है और वहां पर उनके सिद्धान्तों को त्रुटिपूर्ण बताकर उन सिद्धान्तों के कारण ही उनके विनाश का उल्लेख भी है। परन्तु योरोप के कुछ प्राचीन दार्शनिकों के लेख मिलते हैं जो परमात्मा के अस्तित्व पर सन्देह करते थे। अरस्तु उन में एक था। ये दार्शनिक, सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में कुछ स्पष्ट लिख नहीं सके।

योरोप के अर्वाचीन दार्शनिक जो इस काल की वैज्ञानिक उन्नति से चकाचौंध हो, भौतिकवाद के पीछे चल पड़े हैं, वे सृष्टि-उत्पत्ति का एक चित्र प्रस्तुत करते हैं। इस काल के वैज्ञानिकों और दार्शनिकों के गुरु डार्विन हुए हैं। ये महानुभाव दक्षिण अमरीका के जंगलों में तथा कुछ गरम जलवायु वाले द्वीपों में घूमते हुए यह देख चकित रह गये कि जीव-जन्तु एक क्रमबद्ध शृंखला में खड़े किये जा सकते हैं। इस शृंखला के एक किनारे पर सरलतम जीवन का जीव (अमीबा) होगा और दूसरे किनारे पर विषमतम जीवन का प्राणी (मनुष्य) होगा। इन दोनों के बीच शेष सब जीव एक शृंखला में इकट्ठे किये जा सकते हैं।

डार्विन का उक्त कथन इस सृष्टि पर वस्तु-स्थिति का वर्णन करता है। परन्तु इससे अगला कथन कि भूख-प्यास, शीत-गर्मी तथा जीवन की अन्य आवश्यकताओं ने प्राणियों में परिवर्तन और भेद-भाव उत्पन्न किये हैं, सिद्ध नहीं होता। उदाहरण के रूप में उसने लिखा है कि स्थल पर जब बड़े-बड़े जन्तु छोटों को खाने लगे तो छोटे जन्तुओं में पंख बन गये, और वे जीवन के भय से उड़कर बच गये। ये पक्षी बने। कुछ अन्य जन्तु जल में घुसकर जीवन बचा सके और वे जलचर बन गये।

यह और इसी सम्बन्ध के अन्य कथन केवल कल्पना मात्र हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनका प्रमाण कुछ नहीं तथा यह बात होती हुई कहीं न तो देखी गई है, न ही इसके प्रमाण मिलते हैं।

कई जन्तुओं की जातियां विलुप्त हो गयी हैं और उनके कंकाल देखे गये कहे जाते हैं। जो जन्तु प्राकृतिक वातावरण को सहन करने की शक्ति रखते थे, वे बच गये और पृथ्वी पर इस समय दिखाई देते हैं। यह सब ठीक है, परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि सब जीव की सन्तान हैं।

साथ ही जीवन (life) अभिप्राय यह कि चेतना कैसे बनी ? इस रहस्य का उद्‌घाटन ये वैज्ञानिक नहीं कर सके।

इन अधूरी बात कहने वाले वैज्ञानिकों से निश्चित की गयी सीमा में विचार करने वाले दार्शनिक हर्बट, स्पैन्सर, हेगेल इत्यादि भी जीव-सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन नहीं कर सके।

एक ओर परमात्मा तथा आत्मा (आत्म-तत्त्व) के अस्तित्व में विश्वास रखने वाले तो सृष्टि पर जीव-सृष्टि की एक प्रक्रिया का वर्णन करते हैं। उसकी एक संक्षिप्त सी व्याख्या हमने ऊपर दी है। उनका कहना है कि परमात्मा, आत्मा और प्रकृति के संयोग से जीवों का बीज बना। उनका यह भी कहना है कि परमात्मा तो सर्वव्यापक और सर्व शक्तिमान होने से सब स्थानों पर सब समय उपस्थित रहता है, परन्तु प्राणी का बीज निर्माण तब होता है जब आत्मा जो पुरुष और स्त्री में विद्यमान होता है, अपना सहयोग देता है। आत्मा के सहयोग के बिना प्राणी का निर्माण सम्भव नहीं।

आज के वैज्ञानिक भारतीय दार्शनिकों की इस बात को नहीं मानते। यह इसलिए कि वे अपने किसी उपकरण (apparatus) से बीज बनाने में आत्मा के सहयोग को देख नहीं सके। वे शरीर का सहयोग तो देखते हैं, परन्तु शरीर में आत्मा की उपस्थिति को न मानने से वे शरीर के सहयोग के साथ-साथ आत्मा के सहयोग को नहीं मानते।

परन्तु वे जीवित शरीर के बिना किसी भी जड़ पदार्थ से प्राणी का बीज निर्माण नहीं कर सके। इस अवस्था में भी वे आत्मा के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तित्व को स्वीकार करने वाले दार्शनिकों की बात को स्वीकार न कर केवल हठ-धर्मी ही प्रकट कर रहे हैं।

आत्म-तत्त्व के अस्तित्व में युक्ति तो हम अगले प्रकरण में लिखेंगे। यहां हमारा कहना यह है कि जड़वादी अर्थात् वे लोग जो जड़ से ही चेतन की उत्पत्ति मानते हैं, इस उत्पत्ति को न तो सिद्ध करके दिखा सके हैं, न ही उसकी किसी प्रक्रिया का युक्ति-युक्त वर्णन उपस्थित कर सके हैं।

इसके विपरीत, आत्म-तत्त्व की पृथक् और स्वतंत्र उपस्थिति मानने वाले एक प्रक्रिया का वर्णन करते हैं। वह प्रक्रिया पूर्णतया सन्तोषजनक न प्रतीत होते हुए भी जडवादियों के अज्ञ विवरण से अधिक माननीय प्रतीत होती है।

वास्तव में आस्तिकों पर भार इस बात का पड़ जाता है कि वे इस जगत् में आत्म-तत्त्व की उपस्थिति को सिद्ध करें। यदि यह स्पष्ट हो जाये कि पूर्ण जगत् के व्यवहार में और प्राणी के व्यवहार में आत्म-तत्त्व की उपस्थिति है, तब तो सृष्टि के आदि में प्राणी का बन सकना और नित्य प्राणियों का बनना स्पष्ट हो जायेगा और समझ में आने लगेगा।

जड़वादी इस आधारभूत बात (आत्म-तत्त्व की उपस्थिति) को न मानकर सब-कुछ अनर्गल हीं वर्णन करते हैं। उनसे वर्णित जड़ पदार्थों की बातें तो ठीक सिद्ध हो रही हैं, परन्तु जो कुछ भी उन्होंने चेतन जगत् के विषय में कहा तया लिखा है, वह न केवल असत्य सिद्ध हुआ है वरंच भ्रमोत्पादक है और भू-मंडल में अव्यवस्था तथा दुःख की सृष्टि करने वाला है।

प्राणी जगत् की सर्वोत्कृष्ट विभूति मनुष्य है और मनुष्य की उत्पत्ति अंग-प्रत्यंग सम्पूर्ण आदि सृष्टि में ही हुई थी। प्रथम मनुष्य वस्त्रविहीन था और बिना घर के था; अन्य सब प्राणियों की भाँति यह जंगलों में तथा सम जलवायु (Temperate climate) वाले स्थानों पर रहता था।

मनुष्यों में कुछ ऋषियों की उत्पत्ति हुई। उन्होंने मनुष्यों को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन के ढंग सिखाये। साथ ही धर्मपूर्वक रहना सिखाया।

मनुष्य एक बुद्धिशील प्राणी होने के कारण वस्तुओं के विषय में सीखने लगा। बुद्धिशील से हमारा अभिप्राय यह है कि वह ऐसी बुद्धि रखता था और रखता है जिसमें विकास सम्भव है। ऋषियों के उपदेश ने मनुष्यों को सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत करने का ढंग सिखाया।

ये ऋषि ब्रह्मा (परमात्मा) के मानस पुत्र कहाये और इन द्वारा दिये गए उपदेश वेद कहाये। मानस पुत्र से अभिप्राय है परमात्मा के ज्ञान से परिचित। अर्थात् उस ज्ञान से परिचित जो परमात्मा मनुष्य को देना चाहता था।

महाभारत में लिखा है—

ब्रह्मणो मानसाः पुत्रा विदिताः षण्महर्षयः।
मरीचिरत्र्यंगिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ॥[1]

परमात्मा के छः मानस पुत्र विख्यात हुए हैं। उनके नाम हैं: मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह तथा क्रतु। इनके अतिरिक्त भी कई ऋषि हुए। वे विख्यात नहीं हुए।

महाभागवत पुराण में दस पुत्रों के नाम दिये हैं। उक्त छः के अतिरिक्त भृगु, वशिष्ठ, दक्ष और नारद भी मानस पुत्र बताये हैं।

एक झलक उस ज्ञान की भी हम दे देना चाहते हैं जो इन ऋषियों ने मनुष्य मात्र को दिया।

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः।
देवो देवेभिरागमत् ॥[2]

(सृष्टि उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखने वाला) अग्निस्वरूप परमेश्वर (होता) सब पदार्थों का देने वाला है और सबको अपने में लेने वाला है; (कविक्रतु) ज्ञानवान् निर्माता (सत्य) है और (चित्र श्रवस्तमः) अद्भुत उपदेश को देने वाला है। (देवः) वे देने वाले (देवेभिः) विद्वान (आगयतः) हमको प्राप्त हों।

वायो तव प्रपृञ्चती धेना जिगाति दाशुषे।
उरूची सोमपीतये ।[3]

१. महा भा० आदि० ६५-१०; २. ऋ० १-१-५; ३. ऋ० १-२-३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(वायो) पूर्ण जगत् में गति उत्पन्न करने वाले परमात्मा, (तव) तेरी (धेना) वेद वाणी (प्रपृञ्चती) पूर्ण ज्ञान देने वाली है। यह (दाशुषे) दूसरों को ज्ञान देने वालों को (जिगाति) प्राप्त होती है। और वह (सोम-पीतये) पदार्थों का सार और ज्ञान (उरूचि) कराती है।

अश्विना पुरुदंससा नरा शवीरया धिया।
धिष्ण्या वनतं गिर: ।।[१]

(अश्विना) हे स्त्री पुरुषो, (पुरदंससा) तुम बहुत प्रकार के कर्म करने में कुशल हो; (नरा) सब जीव जन्तुओं में नायक अर्थात् श्रेष्ठ हो; (धिष्ण्या) शत्रुओं अर्थात् विरोधियों का दमन करने में योग्य हो, (शवीरया धिया) ज्ञान युक्त बुद्धि: (गिर: वनतम्) तथा वाणियों का प्रयोग करो।

इस प्रकार का उपदेश ऋषि लोग उस समम उत्पन्न हुए मानवों को देते थे।

इन उपदेशों से मनुष्यों की बुद्धि में विकास हुआ। इस विकास में लाखों वर्ष नहीं लगे। बुद्धि के विकास में कुछ वर्षों की ही आवश्यकता होती है। यह हम इस युग में भी देख रहे हैं। बालक कुछ ही वर्षों में सज्ञान पुरुष बन जाता है। वर्तमान वैज्ञानिक उन्नति भी जो बुद्धि का ही खेल है, एक-दो शताब्दियों में ही सम्भव हुई है।

यह ठीक है कि उस प्राचीनकाल में बुद्धि का विकास एक ऐसी दिशा में हुआ था, जो आजकल के ज्ञान की दिशा नहीं, परन्तु जिस दिशा में हुआ, वह अद्भुत था। मानवता का ज्ञान अर्थात् मनुष्य में इतर जीव-जन्तुओं से विशेषता का ज्ञान मनुष्य को आज से भी अधिक था।

यह इस पुस्तक का विषय नहीं कि ऋषि-महर्षियों के ज्ञान की तुलना आजकल के वैज्ञानिकों के ज्ञान से की जाये। इस पर भी जब हम मानव समाज के विषय में लिखेंगे, तो दोनों के ज्ञान की बात स्पष्ट हो जायगी।

---

१. ऋ० १-३-२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक बात तो हमने ऊपर लिखी है। डार्विन के विकासवाद को हमने चुनौती दी है। हमारा यह कहना है कि यह विकासवाद वैज्ञानिक तथ्य नहीं है। यह एक दार्शनिक की कल्पना मात्र है। इसका आधार जड़वाद है। अर्थात् डार्विन ने सृष्टि की उत्पत्ति की कल्पना प्रकृति से ही, बिना किसी चेतन शक्ति के सहयोग के, वर्णन करने का यत्न किया है। यह यत्न एक असफल यत्न है। कारण यह कि पूरी श्रृंखला में मार्मिक कड़ी कि जड़ से प्रथम जीव अथवा जीव के बीज की उत्पत्ति कैसे हुई, इसका वर्णन नहीं किया जा सका।

दूसरी ओर भारतीय विचारधारा का आधार है आत्म-तत्त्व की मान्यता। आत्म-तत्त्व को मानकर बीज की उत्पत्ति की कल्पना अधिक सफल हुई है। भारयीय विद्वानों का कहना है कि चेतन की मीमांसा जड़ पदार्थों की भाँति नहीं की जा सकती। उन पर परीक्षण भी प्रयोगशाला में नहीं किये जा सकते। कारण यह कि यह आत्म-तत्त्व इन्द्रियों का विषय नहीं। इस पर भी इसकी उपस्थिति अकाट्य युक्तियों से सिद्ध हो सकती है।

हमने प्रथम अध्याय में यह सिद्ध किया है कि मनुष्य एक चेतन जन्तु है। यह सब जन्तुओं से श्रेष्ठ है। इसकी श्रेष्ठता इसकी बुद्धि में है। इसकी बुद्धि पृथ्वी पर के सब जलचर तथा नभचर जन्तुओं से अधिक विकास करने की सामर्थ्य रखती है।

इस दूसरे अध्याय में हमने यह बताया है कि मनुष्य तथा अन्य प्राणियों की उत्पत्ति कैसे हुई। इसमें हमने भारतीय विचार बताया है। जब पृथ्वी पर जलवायु बना और भूमि पर वनस्पति इत्यादि उत्पन्न हो गईं, तब परमात्मा की अद्‌भुत शक्ति से और आत्मा के संयोग से एक विराट् पुरुष बना और उस विराट् पुरुष के फट जाने पर उसमें से भाँति-भाँति के जीव-जन्तु बन गये। हमने यह भी बताया है कि माँ के गर्भ में भी जीव की उत्पत्ति अर्थात् बीज की उत्पत्ति परमात्मा और माता-पिता की आत्मा के संयोग से ही सम्भव होती है।

विराट् पुरुष के बनने के समय पृथ्वी पर प्रकृति की वही अवस्था थी, जो माता और पिता में रज और वीर्य कोषाणु के बनने के समय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती है। उस अवस्था में ही, आत्म-तत्त्व के संयोग से बीज की उत्पत्ति सम्भव है।

विराट् पुरुष से सब प्राणी तथा जीव-जन्तु अंग-प्रत्यंग में पूर्ण वैसे के वैसे ही उत्पन्न हुए, जैसे आज माँ के पेट से निकलते समय अथवा अण्डे से बाहर निकलते समय बने होते हैं।

हमने यह भी बताया है कि कुछ ऋषि भी विराट् पुरुष से उत्पन्न हुए और उनके दिये ज्ञान से आदि मनुष्यों में बुद्धि का विकास हुआ था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तृतीय अध्याय

आत्म-तत्त्व

आज के वैज्ञानिक तथा सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी के दार्शनिक तो चेतन और जड़ में भेद का कारण वर्णन न कर सके। वे यह तो मानते हैं कि जड़ से ही चेतन की उत्पत्ति हुई है और होती है, परन्तु वे इसमें कोई कारण नहीं बता सके कि क्यों चेतन माता-पिता के सहयोग के बिना जड़ चेतन में बदल नहीं सकता ? अतः उनके आत्म-तत्त्व के मानने अथवा न मानने से कुछ भी सिद्ध नहीं होता।

इस पर भी यह मानना पड़ेगा कि वर्तमान युग में भी जिस-जिस वैज्ञानिक तथा दार्शनिक ने जड़ चेतन की समस्या पर विचार किया है, वह इसी परिणाम पर पहुँचा है कि जड़ के अतिरिक्त भी एक सत्ता है और उसके सहयोग से ही जीव की उत्पत्ति सम्भव हुई है।

उदादहरण के रूप में एक विख्यात वैज्ञानिक, सर ऑलिवर लॉज एक पुस्तक 'सायंस ऐंड रिलीजन (Science and Religion) में लिखते हैं--

Once you realise that consciousness is something greater, something outside the particular mechanism which it makes use of, you realise that the survival of existance is natural, is the simplest thing. It is unreasonable that the soul should jump out of existance when the body is destroyed. We ourselves are not limited to the few years that we live on this earth. We shall go on

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

without it. We shall certainly continue to exist. We shall certainly survive. Why do I say that ? I say it on definite scientific grounds.[1]

इस कथन का अर्थ इस प्रकार है—एक बार आप इसको देखें कि चेतनता उस मशीन से जो इसका प्रयोग करती है, बड़ी है और इसके अतिरिक्त है, तो आप समझ सकेंगे कि जीवन का चलता रहना एक स्वयं-सिद्ध और एक सरल-सी बात है। यह अयुक्तिसंगत है कि शरीर के नष्ट हो जाने पर आत्मा एकाएक अस्तित्वहीन हो जाये। कुछ वर्ष जो हम इस पृथ्वी पर रहते हैं, हमार जीवन की सीमा नहीं। हम इसके (पृथ्वी के) बिना भी जियेंगे। निश्चय ही हम (जीवन के उपरान्त भी) रहेंगे और मरने के पीछे भी होंगे। मैं यह क्यों कहता हूँ ? मेरे कहने का आधार स्पष्ट रूप में वैज्ञानिक है।

सर ऑलिवर लॉज इस शताब्दी के आरभ में एक अति विख्यात वैज्ञानिक हो चुके हैं। ये एफ़० आर० एस०, डी० एस-सी०, एल० एल० डी० की उपाधियों से विभूषित थे।

आप लिवरपूल विश्वविद्यालय के प्रोफेसर थे, बिरहंगम विश्वविद्यालय के प्रिंसिपल, फिज़िकल सोसायटी लंदन के अध्यक्ष, रिसर्च फिज़िकल सोसायटी के प्रधान और ब्रिटिश ऐसोसिएशन के प्रधान थे।

यह पुस्तक 'सायंस एण्ड रिलिजन' लंदन में सात वैज्ञानिकों की निरन्तर सात दिन तक हुई कॉन्फरेंस का परिणाम थी। ये सातों के सातों वैज्ञानिक अपने काल के अति प्रसिद्ध विद्वान् थे। कॉन्फरेंस १९१४ में हुई थी।

इसी पुस्तक में एक अन्य स्थल पर लिखा है—

The old Materialistic school—Heckel's School, if you like—which, let me tell you, is hopelessly out of date and antiquated.[2]

हैकल जैसे जड़वादियों का भौतिकवाद अप्रमाणित और युग से दूर हो चुका है।

1. Science & Religion, Page 24
2. Ibid. Page 63

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुन: लिखा है—

Not very long ago, it was to some extent fashionable in scientific circle to be an agnostic. But to-day a man who glories in his ignorance is blamed and lionised. The attitude is quite out of fashion. Thanks to the labours of Science.[1]

कुछ ही काल पहिले वैज्ञानिकों में नास्तिक होना फ़ैशन माना जाता था. परन्तु आज एक व्यक्ति जो इस प्रकार की अज्ञानता में गर्व करता है, निन्दनीय माना जाता है। हमको विज्ञान की उन्नत्ति का धन्यवाद करना चाहिए।

अन्य भी कई योरोपीय विद्वान हुए हैं जो इस विषय में आत्म-तत्त्व की उपस्थिति मानते हैं।

एक अन्य पुस्तक The Nature and Origin of Life में विज्ञ लेखक लिखता है—

Dead matter cannot become living without coming under the influence of matter previously living. This seems to me as sure a teaching of science as the law of gravitation.[2]

(जड़ पदार्थ किसी चेतन पदार्थ के प्रभाव में आये बिना चेतन नहीं हो सकता। मुझको यह नियम वैसा ही वैज्ञानिक प्रतीत होता है, जैसा भू-आकर्षण का नियम।

परन्तु आत्म-तत्त्व के विषय में भारतीय दार्शनिक सब पर बाजी ले गए हैं। आत्म-तत्त्व की सिद्धि के लिये वेदादि शास्त्रों के प्रमाण तो उनको ही दिये जा सकते हैं जो वेद को ईश्वरीय ज्ञान पहिले ही मानते हों। परन्तु जो किसी भी ईश्वरीय ज्ञान को मानते नहीं, उनके समक्ष ही इसके अस्तित्व को सिद्ध करने की आवश्यकता थी। जो ईश्वर को ही नहीं मानते तो ईश्वरीय ज्ञान को क्या मानेंगे? अत: बिना वेद-शास्त्र के प्रमाण के आत्म-तत्त्व की सिद्धि भारतीय दार्शनिकों ने की है।

1. Ibid, pp. 85-86; 2. p. 173

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेदान्त दर्शन और सांख्य दर्शन इस विषय में उल्लेखनीय हैं । यहाँ हम यह बता दें तो ठीक होगा कि भारतीय वाङ्मय में छः दर्शन हैं। दार्शनिक तो अनेकों हो चुके हैं, परन्तु उनके विचार की छः प्रकार की शैलियाँ हैं। ऊपरी सतह पर ये छः दर्शन भिन्न-भिन्न और परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। वास्तव में ये ऐसे हैं नहीं। ये भिन्न-भिन्न विषयों पर दार्शनिक विवेचनाएँ हैं। अपने-अपने विषय के प्रतिपादन के इनके अपने-अपने ढंग हैं। इस कारण किसी एक दर्शन शास्त्र में दूसरे के विषय का उल्लेख नहीं है और प्रत्येक की अपनी-अपनी युक्ति है।

उदाहरण के रूप में सांख्य-दशन में आत्म-तत्त्व के कारण जड़ जगत् और जीव जगत् में अन्तर सिद्ध करने का यत्न किया गया है; परन्तु आत्म-तत्त्व एक ही प्रकार का है अथवा दो प्रकार का है, इस विषय पर कुछ नहीं लिखा। न्याय दर्शन में आत्म-तत्त्व को दो प्रकार का माना है और ऐसा सिद्ध करने का यत्न किया है। इसी प्रकार वेदान्त में पूर्ण चराचर जगत् का कारण परमात्मा को माना है; परन्तु वह उपादान कारण है अथवा निमित्त कारण है, इस विषय में नहीं लिखा। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि सांख्य एक ही आत्म-तत्त्व को मानता है अथवा वेदान्त जगत् के उपादान कारण को मानता ही नहीं। दर्शनकारों ने ये पक्ष अपने लेख के विषयान्तर होने से वर्णन नहीं किए।

हमने लिखा है कि आत्म-तत्त्व को वेदान्त दर्शन ने सिद्ध किया है। जो युक्तियाँ दर्शनकार ने दी हैं, उनमें से कुछ हम यहाँ लिखना चाहते हैं। लिखा है—

जन्माद्यस्य यतः ।[1]

जिससे जन्मादि होता है। जन्मादि से अभिप्राय है बनना-बिगड़ना। हम नित्य देखते हैं कि ब्रह्माण्ड में वस्तुएँ बनती हैं और बिगड़ती हैं। इनको बनाने और बिगाड़ने वाला कोई होना चाहिए। अपने-आप न कुछ बन सकता है, न ही बिगड़ सकता है।

१. ब्रह्मसूत्र १-१-२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगत् में सूर्य, चन्द्र, तारागण इत्यादि एवं पृथ्वी पर भी पेड़, पक्षी इत्यादि बनते हैं अथवा विनष्ट होते हैं। ऐसा स्वयमेव नहीं हो सकता। स्वयमेव कहीं होते नहीं देखा जाता। सृष्टि का नियम है कि बिना किसी करने वाले के कोई कर्म होता नहीं। तब यह मानना पड़ेगा कि सूर्य, चन्द्र, तारागण इत्यादि को बनाने वाला कोई है। तारागण नष्ट होते दिखाई देते हैं। इनके नाश करने वाला कोई होना चाहिये। पेड़ का बीज, प्राणी का बीज कौन बनाता है? यह अपने आप नहीं बन सकता।

वैज्ञानिकों ने बीज का विश्लेषण कर इसमें मिले तत्त्वों को ढूंढ लिया है। इस पर भी उन तत्त्वों को इकट्ठा कर रख दें तो ये बीज नहीं बन सकते। इसको बनाने वाला कोई है। वह परमात्मा है।

एक पत्थर का ढेला किसी स्थान पर रख दिया जाये तो वह स्वयमेव चल नहीं सकता, परन्तु पृथ्वी, चन्द्र सूर्य, तारागण निरन्तर चल रहे हैं। इनको बनाने वाला कोई होना चाहिए। यह परमात्मा है।

यह है अभिप्राय, उक्त सूत्र का।

इसी प्रकार लिखा है—

शास्त्रयोनित्वात्—[1]

जो शास्त्र की योनि है। शास्त्र का अर्थ ज्ञान से है। जिससे ज्ञान मिलता है, वह परमात्मा है।

यह देखा गया है कि मनुष्य स्वयमेव ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य को ज्ञान की प्राप्ति किससे हुई? वह परमात्मा है।

डार्विन इत्यादि दार्शनिक यह मानते हैं कि मनुष्य बार-बार भूलें कर ज्ञानी हुआ है। उनका सिद्धान्त है ट्रायल एण्ड ऐरर (trial and error) अर्थात् भूलें कर-करके सबक सीखना। यह उन्नति का मार्ग है।

परन्तु प्रश्न तो यही है कि कौन सबक सीखता है? एक पत्थर

१. ब्रह्मसूत्र, १-१-३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के टुकड़े को अग्नि में फेंक दें। वह पत्थर का टुकड़ा गर्म होकर टूट-फूट जाता है। पुनः आग जलने पर वह पुनः अग्नि में डाला जा सकता है, परन्तु दूध का जला मनुष्य, छाछ भी फूंक-फूंककर पीता है। तो मनुष्य अथवा प्राणी में एक बार दुर्घटना होने से सबक सीखने वाला कौन है ?

सूत्रकार कहता है कि यह आत्म-तत्त्व है। इस सूत्र का अर्थ है—ज्ञान जिससे पैदा होता है वह आत्म-तत्त्व है। मनुष्य अथवा कोई भी प्राणी बिना ईश्वर की सहायता के ज्ञानवान नहीं हुआ, न ही हो सकता है।

एक 'सोशलोजिस्ट' (समाजशास्त्री) का यह कहना है कि मनुष्य सबक सीखता है वातावरण से। मिस्टर आर० एम० मैकिवर और चार्ल्स एच० पेज अपनी पुस्तक 'सोसायटी' में लिखते हैं—

The growth of self : Study of the process in which the child develops the capacity for society furnishes us a second body of evidence of the fundamental unit-whole interrelationship. The emergence of the capacity for social life is an aspect of the growth of self-hood, of personality. The child does not merely imitate the social usages of adults, as a parrot might pick up a language. He is cretainly imitative, but in the process of imitation his own social nature is gradually revealed.[1]

(स्वयमेव उन्नति करना—उस प्रक्रिया का अध्ययन जिससे एक बच्चा समाज में रहने की योग्यता प्राप्त करता है, एक दूसरी प्रकार के प्रमाण उपस्थित करता है, जिससे व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध पर प्रकाश पड़ता है। सामाजिक जीवन की योग्यता का प्रस्फुटित होना स्वयमेव उन्नति करने के एक पक्ष का द्योतक है। बच्चा केवल बड़ों की नकल कर, एक तोते के किसी भाषा के सीख जाने की भाँति, सामाजिक व्यवहार ग्रहण ही नहीं कर लेता। वह निश्चय नकल तो

1. p. 46 (1962);

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करता है, परन्तु इस नकल करने की प्रक्रिया में उसकी अपनी सामाजिक प्रकृति भी प्रकट होती है।)

यह समाजशास्त्री दूसरे समाज शास्त्रियों से अधिक गम्भीर दृष्टि रखता हैं, परन्तु वह वास्तविक बात को तो छोड़ ही गया है। वास्तविक बात है एक बच्चे और जड़ पदार्थ में अन्तर की।

उक्त लेखक का यह कहना है कि बच्चा केवल नकल ही नहीं करता वरन् नकल करते-करते कुछ अपनी ओर से भी संयोजित करता है। यह ठीक है, परन्तु इससे भी अधिक यह है कि वह नकल भी क्यों करता है? एक पत्थर का टुकड़ा किसी दूसरे पत्थर की नकल नहीं करता। तोता भी नकल करता है तो इसलिए कि उसमें आत्म-तत्त्व है।

तोते और मनुष्य में अन्तर है बुद्धि की सामर्थ्य का। तोते की बुद्धि केवल नकल करने की योग्यता रखती है। उसकी बुद्धि में अन्य इतर प्राणियों की भाँति बुद्धि का विकास नहीं हो सकता। मनुष्य के बालक की बुद्धि में विकास हो सकता है। यह अन्तर तो है। इस पर भी जहाँ तक आत्म-तत्त्व का प्रश्न है वह सब प्राणियों में एक समान कार्य करता हुआ देखा जाता है। आत्म तत्त्व का कार्य है, action (कार्य करना) नकल अथवा उस नकल करते-करते अपनी ओर से संयोजित (initiative) कार्य करना। यह आत्मा का काम है।

आरम्भ में ज्ञान परमात्मा ने दिया। यह ऋषियों द्वारा दिया गया। जैसे बालक अपने बड़ों की नकल कर सीखता है वैसे आदि मनुष्यों ने इन ऋषियों से सीखा। तब से आधार-भूत ज्ञान की परम्परा चली आती है। उस परम्परा की नकल करते-करते नये बालक बड़ों की बातें सीखते हैं और फिर कुछ अपनी बुद्धि से उसमें जोड़-तोड़ भी करते रहते हैं। यह आत्म-तत्त्व के कारण ही है।

तत्तु समन्वयात्—[1]

ब्रह्माण्ड में और पृथ्वी पर भी वस्तुओं का समन्वय होता है। कहीं कई-कई पदार्थ मिलकर नवीन पदार्थ बनते हैं। फिर सब पदार्थ एक दूसरे से नियम बद्ध हो व्यवहार करते हैं। संसार में पदार्थ

१. ब्रह्मसूत्र १-१-५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टूटते हैं और बनते हैं ।\जड़ पदार्थों में अपने आप कुछ भी करने की सामर्थ्य नहीं होती। इसको करने वाला जो है वह परमात्मा है।

सूर्य, चन्द्र, तारागण बनते हैं, टूटते हैं और फिर एक नियमपूर्वक चलते हैं। इन जड़ पदार्थों में ऐसे समन्वय की सामर्थ्य किसी चेतन शक्ति के बिना सम्भव नहीं। इससे भी परमात्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।

इसी प्रकार—

ईक्षतेनाशब्दम्—[१]

इच्छा होती है, ऐसा कहा जाता है। तो यह इच्छा कौन करता है ?

और भी—

संहतपरार्थत्वात् पुरुषस्य।[२]

संयोग करना पुरुष (आत्म-तत्त्व) का काम है। बात वही है जो वेदान्त दर्शन के "तत्तु समन्यात्" में वर्णन की गयी है।

इस प्रकार आज के सहस्रों वर्ष पूर्व इन दार्शनिकों ने युक्तियों की भरमार कर दी थी। वे यह सिद्ध कर सके थे कि जड़ प्रकृति के अतिरिक्त आत्म-तत्त्व इस जगत् में है; जो जड़ पदार्थों में गति, संयोग, वियोग और नियम से कार्य करने का विधान करता है और जो प्राणियों में चेतनता का कारण है।

उनकी युक्तियाँ अकाट्य हैं। वे किसी भी प्रमाण से अथवा परीक्षण से असिद्ध नहीं जा सकीं। आत्म-तत्त्व इन्द्रियों का विषय न होने से देखने, सूंघने, सुनने, स्पर्श करने अथवा चखने से पता नहीं चलता। यह इतना सूक्ष्म है कि इसको इन्द्रियातीत कहना चाहिये। वैज्ञानिकों के सब परीक्षण इन्द्रियों के ही निरीक्षण में किये जाते हैं। अतः इस विषय में उनको अपने उपायों से सिद्ध न कर सकना इनके अस्तित्व को न मानने में कारण नहीं। यह आत्म-तत्त्व दर्शन (Philosophy) का विषय है। उस दर्शन का जो इन्द्रियों के निरीक्षण से आगे जाता है और वैज्ञानिकों से बँधी सीमा में अपने को सीमित नहीं रखता।

१. ब्रह्मसूत्र १-१-४; २. सां० द० १-१-६६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चतुर्थ अध्याय

आत्मा-परमात्मा

वैज्ञानिक कहते हैं कि वे जब तक किसी बात को अपनी प्रयोग-शाला में करके न देख लें, तब तक वे उसे मान नहीं सकते, परन्तु जो पदार्थ अति सूक्ष्म हैं, उनको इन्द्रियों से नहीं जाना जाता। परन्तु जिन पर परीक्षणों के परिणाम इन्द्रिय-गोचर होते हैं उनको तो वे मान सकते हैं। उदाहरण के रूप में रेडियम के रासायनिक परमाणु (atoms) टूटते देखे नहीं जा सकते। परन्तु उनके टूटने से फोटोग्राफी के प्लेट पर प्रभाव देखा जा सकता है। इस प्रकार ऐटम बम से टूटने वाले परमाणु टूटते समय इन्द्रियों से नहीं जाने जा सकते। परन्तु उनके टूटने से उत्पन्न परिणाम गरमी और प्रकाश इन्द्रियगोचर हैं। इस कारण परमाणुओं के टूटने को माना गया है।

यही बात आत्म-तत्त्व के विषय में है। आत्म-तत्त्व इन्द्रियगोचर नहीं, परन्तु चेतन प्राणियों को दूसरे चेतन प्राणी निर्माण करते तो हम देखते हैं। बीज में माता-पिता की चेतनता जाते देखते हैं और बीज से प्राणी बनता है। यह भला आत्म-तत्त्व की उपस्थिति का सूचक क्यों नहीं? चेतनता से चेतनता उत्पन्न होती है। यद्यपि इस प्रक्रिया को इन्द्रियाँ जान नहीं सकतीं, परन्तु परिणाम सामने है और दृष्टिगोचर होता है। यह आत्म-तत्त्व के होने का प्रबल प्रमाण है।

इस स्थान पर एक विवाद यह उपस्थित होता है जिस आत्म-तत्त्व से जगत् की रचना और विघटन होता है, क्या वह आत्म-तत्त्व ही प्राणियों की चेतनता में कारण है? अथवा आत्म-तत्त्व दो प्रकार के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। एक वह जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में विद्यमान है और उसका संचालन करता है और दूसरा जो प्राणी में चेतनता उत्पन्न करता है।

जो आत्म-तत्त्व के अस्तित्व को ही नहीं मानते और सब कुछ चर-अचर, चेतन-अचेतन जड़ प्रकृति (matter) से ही बना मानते हैं, उनके लिये आत्म-तत्त्व एक प्रकार का है अथवा दो प्रकार का, यह प्रश्न है ही नहीं। परन्तु जब एक बार यह बात प्रमाणित कर दी गई कि आत्म-तत्त्व जड़ प्रकृति (matter) से एक पृथक् पदार्थ है, तब यह प्रश्न स्वाभाविक रूप में सामने आता है कि जो आत्मा मनुष्य में है, क्या वही है जिसने सूर्य, चन्द्र, तारागण इत्यादि बनाये हैं और जो इनको चलाता तथा इनका विघटन करता है? अथवा वह और यह दोनों भिन्न-भिन्न हैं?

दोनों विचार के लोग उपस्थित हैं। वे लोग भी हैं जो यह मानते हैं कि आत्म-तत्त्व एक ही है, परन्तु कई कारणों से वह कहीं और किसी समय प्राणी के शरीर में कार्य करता है और कहीं और कभी संसार के निर्माण, संचालन और विघटन में कार्य करता है। जब वह प्राणी के शरीर में कार्य करता है तब आत्मा कहाता है और जब वह जगत् की रचना, संचालन और प्रलय का कार्य करता है, वह परमात्मा कहाता है।

जो लोग आत्म-तत्त्व को एक ही मानते हैं, उनको भारतीय वाङ्मय में अद्वैतवादी कहा जाता है और जो परमात्मा को आत्मा से भिन्न मानते हैं उनको द्वैतवादी कहा जाता है।

यह द्वैत और अद्वैतवाद का प्रश्न इस पुस्तक 'धर्म तथा समाजवाद' से घना सम्बन्ध रखता है। इस कारण हमने इस पर एक पृथक् प्रकरण लिख दिया है।

यह हम आगे चलकर लिखेंगे कि समाजवाद का आधारभूत सिद्धान्त ही यह है कि न केवल आत्म-तत्त्व एक है वरंच पूर्ण जगत् का आदि पदार्थ (व्यक्त-अव्यक्त दोनों का प्रारम्भिक पदार्थ) एक ही है।

यहाँ हम आत्म-तत्त्व के विषय में ही लिखेंगे। प्रकृति अर्थात्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जड़वाद के विषय में कुछ तो पहले लिख चुके हैं और कुछ इसके समाज-वाद से सम्बन्ध के विषय में बताते हुए आगे चलकर लिखेंगे।

इसी प्रकार आत्मा-परमात्मा के पृथकत्व अथवा एकत्व को मानने का समाजवाद से सम्बन्ध भी हम आगे चलकर लिखेंगे। यहाँ तो हम यह बताने का यत्न करेंगे कि युक्ति और अन्य दार्शनिकों का कथन इस विषय में क्या है? जो लोग वेद शास्त्र को प्रमाण मानते हैं, उसके समाधान के लिए भी यहाँ ही प्रमाण देंगे।

सब से प्रथम यह समझ लेना चाहिये कि भारतीय शास्त्र इस विषय में क्या कहते हैं?

वेद में यह लिखा है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥[1]

(ऋक् इत्यादि वेदों में प्रतिपादित किये गए अविनाशी सबसे उत्कृष्ट, सबके रक्षक परमेश्वर में, सब सूर्यादि लोक आश्रय पा रहे हैं। जो उसको नहीं जानता, उसको वेद पढ़ने का कुछ लाभ नहीं। उसको जानना ही परमात्मा की उपासना करना है।)

इसी प्रकार वेद में अनेक स्थानों पर परमात्मा और उसके विषय में लिखा है।

यजुर्वेद में लिखा है—

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्याञ्जगत्।[2]

(जो कुछ भी जगत् में गतिशील है उसमें परमात्मा व्यापक है।)

पुनः लिखा है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥[3]

वह (परमात्मा) सर्वगत, शुद्ध, अशरीरी, अक्षत स्नायुरहित, निर्मल, अपापहत, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वोत्कृष्ट और स्वयंभू है।)

ऋग्वेद में लिखा है—

---

१. ऋ० १-१६४-३९; २. यजु० ४०-१; ३. ४०-८;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽव तस्थे कदाचन ।[१]
सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये रिषाथन ॥

(ऐश्वर्यवान परमात्मा धन को किसी के सामने हार नहीं सकता। न ही मृत्यु से परास्त होता है। विद्वान लोग सर्वोत्पादक प्रभु की उपासना करते हुए उससे नाना प्रकार की याचना करते हैं। परमात्मा के साख्य भाव में रहता हुआ मनुष्य कभी विनाश को प्राप्त नहीं होता।

इस प्रकार परमात्मा कैसा है, इसके विषय में वेद में लिखा है।

यहाँ परमात्मा के कुछ लक्षण लिखे हैं। यह इस कारण कि जो आत्म-तत्त्व प्राणियों में विद्यमान है, उससे इस आत्म-तत्त्व की तुलना की जा सके।

परमात्मा के विषय में प्राचीन भारतीय मान्यता संक्षेप में इस प्रकार है—

ईश्वर जिसके ब्रह्म, परमात्मा आदि नाम हैं, वह सच्चिदानन्द इत्यादि गुणों से युक्त है। उसके गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं। वह सर्वज्ञ है, निराकार, सर्व-व्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान, दयालु, न्यायकारी, सबका कर्ता-धर्ता-हर्ता सब जीवों के कर्मानुसार सत्य न्याय से फलदाता आदि लक्षणों से युक्त है।

अब उस आत्म-तत्त्व, जो प्राणियों में रहता, के लक्षण हम देखेंगे।

ऋग्वेद के प्रथम मंडल का १६४वाँ सूक्त आत्मा, परमात्मा और परमात्मा द्वारा संसार के संचालन के वर्णन में ही लिखा गया है। इस सूक्त का प्रथम मन्त्र है—

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता
मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं
सप्तपुत्रम् ॥[२]

(अस्य) इस विश्व को (वामस्य) वमन अर्थात् उत्पन्न करने वाला (पलितस्य) पालन करने वाला (होता) अपने में समा लेने

१. ऋ० १०-४८-५   २. ऋ० १-१६४-१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाला परमेश्वर है। इसका (भ्राता) भाई (अर्थात् आत्मा) (मध्यमो) बीच में (अस्त्यश्न) बैठा है। (तृतीया) तीसरा (भ्राता) भाई (घृत) अन्य ज्ञान वीर्य का सेचन दान (पुष्टी) करने वाला है। (विश्पति) पूर्ण में उपस्थित (सप्त पुत्रम्) सप्त पुत्र अर्थात् प्राणों के मालिक को (अस्य+अत्र्+पश्यं) देख।

यहाँ एक तो परमात्मा का उल्लेख है। परमात्मा पूर्ण संसार को उत्पन्न करने, पालन करने और फिर अपने में समेट लेने वाला है। उसका भाई है जो प्राणी में बैठा है। तीसरा भाई, शरीर (प्रकृति) है जो अन्न, ज्ञान, वीर्य का सेचन दान इत्यादि करता है। यह शरीर सात प्राणों का स्वामी है। इस सबको देखो।

इसी सूक्त में एक अन्य मन्त्र है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि पस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥[1]

दो सुन्दर पंखों वाले, परस्पर साथ-साथ रहने वाले, मित्र-भाव रखने वाले पक्षी एक ही वृक्ष पर बैठे हैं और उस पर सुख लाभ करते हैं। उनमें एक वृक्ष के स्वादयुक्त फलों का सेवन करता है। दूसरा सेवन नहीं करता, वह केवल देखता है।

यहाँ पक्षी परमात्मा और आत्मा के सूचक हैं। वे सुन्दर पंखों वाले हैं। कारण यह है कि वे वृक्ष को छोड़कर उड़ भी सकते हैं। वृक्ष है शरीर अथवा संसार। इन दोनों (परमात्मा और आत्मा) में एक तो शरीर का अथवा संसार का भोग करता है और दूसरा नहीं करता। वह केवल देखता है।

ऋग्वेद के इस सूक्त के ५२ मन्त्र परमात्मा, आत्मा और प्रकृति तीनों के परस्पर सम्बन्ध के विषय में ही हैं। इन मन्त्रों में से दो ही ऊपर दिये हैं। इनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऋषि जिन्होंने वेद मन्त्र कहे हैं, इस पूर्ण संसार में तीन मुख्य तत्त्व मानते थे। एक प्रकृति (matter) दूसरा आत्मा (soul) और तीसरा परमात्मा (God)

उपनिषदकार भी इसी प्रकार मानते थे। श्वेताश्वतर उपनिषद्

१. ऋ० १-१६४-२०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में इस प्रकार लिखा है—

संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च
व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावा—
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥
ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशा—
वजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता ।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता
त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥[1]

जगत् दो प्रकार का है। क्षर और अक्षर। (इसका अभिप्राय यह है कि प्रकृति के दो रूप हैं। एक नाशवान है और दूसरा जो नाश नहीं होता)। इनको व्यक्त तथा अव्यक्त रूप भी कहते हैं। ये दोनों रूप परमात्मा (देव) के आश्रय हैं। इन दोनों के अतिरिक्त एक निस्सं-हाय आत्मा है, वह (बध्यते) बंधा हुआ है (उक्त जगत् के क्षर और अक्षर रूप में)। कारण यह है कि इस आत्मा को (भोक्तृ भावा) प्रकृति के भोग करने की अभिलाषा रहती है। जब यह आत्मा परमात्मा (देव) को जान जाता है तब सब बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

दूसरे मन्त्र का भाव है—

ज्ञानवान और अज्ञानी क्रम से परमात्मा और जीव हैं। एक (प्रकृति) अजन्मा और है जो भोग करने वाले (आत्मा) के भोग्यार्थ है। पूर्ण संसार में रहने वाला परमात्मा तो अनन्त है। वह अकर्ता है। (अर्थात् प्रकृति का भोग नहीं करता।) जो तीनों को ब्रह्म (महान्) समझ जाता है तब (क्या हो जाता है यह अगले दो मन्त्रों में कहा है।)—

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं
नातः परं वेदितव्यं हि किंचित् ।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा
सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥[2]

१. श्वे० १८, ९; २. श्वे० १-१२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दशम अध्याय

समाज और व्यक्ति

पूर्व के अध्याय में हमने यह लिखा है कि समाज एक कारागृह नहीं है। अपितु यह एक खुला प्रांगण है, जिसमें आने-जाने के द्वार खुले रहते हैं। व्यक्ति समाज में अथवा समाज के किसी घेरे में जाकर रह सकता है और उससे बाहर भी आ सकता है।

इस आने-जाने में एक शर्त है। समाज के प्रत्येक घेरे अर्थात् समुदाय की एक त्रिज्या (radius) रहती है। जैसे किसी घर में रहने वाले को उसकी त्रिज्या का ध्यान रखना पड़ता है, उसी भाँति किसी समुदाय में रहने वाले के लिये समुदाय में रहने की शर्त का पालन करना पड़ता है। शर्त का उल्लंघन करते हुए उस समुदाय में नहीं रहा जा सकता। कोई भी समुदाय यह पसन्द नहीं कर सकता कि उस समुदाय का सदस्य उसमें रहने की मुख्य शर्त का ही उल्लंघन करता रहे।

उदाहरण के रूप में इस्लाम में यह शर्त है कि हजरत मुहम्मद को पैगम्बर मानो। मुहम्मद साहब को पैगम्बर न मानने वाला इस्लाम में नहीं रह सकता। इसी प्रकार एक समय कांग्रेस ने यह निश्चय किया था कि इसका सदस्य होने के लिये एक निश्चित मात्रा में सूत कातना आवश्यक है। उस समय अनेकों लोग कांग्रेस से बाहर कर दिये गये थे। कारण यह कि वे निश्चित मात्रा में सूत कात नहीं सके थे।

कांग्रेस को जीवित रहने के लिये यह शर्त भंग करनी पड़ी, अन्यथा कांग्रेस शून्य के समान होने वाली थी। एक जीवित-जागृत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज प्रथम तो अपनी त्रिज्या ऐसी बनाता है जिसका पालन अधिक से अधिक संख्या में सदस्य कर सकें। साथ ही समुदाय बनाने का प्रयोजन भी बना रहे। यदि भूल से अथवा किन्हीं कारणों से कोई ऐसा नियम बन जाये जिसका पालन करना सदस्यों को कठिन प्रतीत होने लगे अथवा वह परिवर्तित परिस्थिति में अनावश्यक हो जाये, तो एक जीवित समाज उस उपनियम को बदल देती है। इसका एक उदाहरण हिन्दू समाज में देखा गया है। एक समय हिन्दू समाज में यह पसन्द नहीं किया जाता था कि इसके सदस्य समुद्र पार की यात्रा करें। जब कोई ऐसी यात्रा करता था तो हिन्दू समाज उसका बहिष्कार कर देता था। उस काल में हिन्दू बने रहने के लिये इस समाज के लोग समुद्र पार की यात्रा नहीं करते थे। भगवान् जाने कितने ही लोग इस नियम का उल्लंघन करने से हिन्दू समाज से निकाल दिये गये थे। पीछे जब हिन्दुस्तान में अंग्रेजी राज्य आया तो एक बड़ी संख्या में हिन्दू भारत से बाहर शिक्षा, व्यापार अथवा विनोद के लिये जाने लगे। विवश हिन्दू समाज ने अपने इस नियम में संशोधन किया। पहले तो बाहर जाकर लौटने वालों के लिये प्रायश्चित का विधान किया गया, पीछे इसको भी छोड़ना पड़ा। अब हिन्दू समाज में यात्रा का प्रतिबन्ध नहीं रहा।

यह एक उदाहरण है जब जीवित समाज ने परिस्थितियों के अनुकूल अपनी त्रिज्या को बदल दिया है। गौ-मांस के विषय में भी हिन्दू समाज को अपनी व्यवस्था बदलनी पड़ी है।

हिन्दू समाज में इस प्रकार के नियमों को किस कारण बनाया गया था और किन कारणों से समाज इन नियमों को अपनी इच्छानुसार बदल नहीं सका, यह बताना इस पुस्तक का विषय नहीं। यहाँ तो केवल इतना बताने से ही मतलब है कि समाज कैसे अपने अनुपयुक्त नियमों को बदल सकता है।

हिन्दू समाज के उक्त उदाहरण से निम्न बातों का पता चलता है—

(१) समाज में रहने वालों के लिये कुछ शर्त होती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) वे शर्तें ऐसी होनी चाहियें, जो सरल होती हुई भी उस समाज की विशेषता को प्रकट करने वाली हों। सदस्यों को वे अपने हित में प्रतीत हों।

(३) समाज में रहने की शर्तों को बलपूर्वक नहीं मनाया जा सकता। इनको मानने के लिये उस शर्त का युक्ति-युक्त, प्रेरणात्मक और हितकर होने का समाधान कराने योग्य प्रचार होते रहना आवश्यक है।

हिन्दू समाज ने अपने में रहने वालों के लिये बहुत कठोर शर्तें बनाई थीं। उनके बनाने में कुछ कारण रहे होंगे, परन्तु व्यक्ति परिस्थितियों से विवश होकर तथा बुद्धि से विचारकर उन शर्तों का पालन नहीं कर सके। वे समाज त्याग कर बाहर जाने लगे। हिन्दू राजनीनिक पराधीनता अथवा आलस्य, प्रमाद एवं मूर्खता के कारण न तो अपने नियमों की सार्थकता को समझा सके न ही वे उन नियमों में उपयुक्त परिवर्तन कर सके। इस कारण समाज के सदस्य स्वयं ही नियम भंग कर इसमें रहने का हठ करते रहे। परिणाम यह हुआ है कि इस समय हिन्दू समाज की कोई त्रिज्या ही नहीं रही। न तो राजनीतिक, न ही कोई धार्मिक अथवा सामाजिक शर्त रही, जिससे कोई हिन्दू समझा जा सके।

अभिप्राय यह है कि जहाँ व्यक्ति को इस बात की स्वतन्त्रता होनी परमावश्यक है कि वह किसी समाज में रहे अथवा न रहे वहाँ यह भी आवश्यक है कि समाज में रहने की कोई सरल, युक्ति-युक्त और हितकारी शर्त हो जिसका एक बहुत बड़ी संख्या में लोग पालन कर सकें और पालन करते हुए सुख अनुभव करें। समाज में रहते हुए व्यक्ति को समझ आने लगे कि समाज उसके हित में है। अन्यथा समाज विनाश को प्राप्त हो जायेगा।

अतएव मानव-समाज को अथवा किसी मानव-समुदाय का, यहाँ तक कि किसी परिवार को भी अपनी रूप-रेखा बनाये रखने के लिये एक अपनी त्रिज्या निश्चय करनी आवश्यक है। और वह त्रिज्या अर्थात् शर्त समुदाय के भीतर रहने वालों पर बलपूर्वक थोपी नहीं जा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकती। यदि इस शर्त का पालन कराने में बल का प्रयोग किया गया तो निःसन्देह समाज विघटित हो जायेगा।

आदि काल से ही मनुष्य ने अपने चारों ओर कई घेरे बनाये थे। अभिप्राय यह कि कई प्रकार के समुदाय बनाये। जहाँ कहीं शर्तें रखीं और उसके साथ उन शर्तों की उपयुक्तता तथा उपादेयता के समझाने का प्रबन्ध नहीं किया, तो समुदाय के सदस्यों ने समाज अथवा समुदाय के विपरीत विद्रोह किया और वह समाज अथवा संगठन ऐसे सिमट गए जैसे स्लेट पर लिखा लेख सुगमता से मिट जाता है।

भारत में यदि बहुत प्राचीन काल से एक समाज, आर्य, भारतीय अथवा हिन्दू जीवित चला आ रहा है, तो इसमें कारण यह है कि इस समाज ने अपने में त्रिज्या ऐसी रखी हुई थी, जो लोग स्वीकार करते हुए अपना हित समझते थे। यह समाज भी उन नियमोपनियमों को हित-कर सिद्ध करने में निरन्तर यत्न करता रहता था। परिणाम यह हुआ कि समाज न केवल सहस्रों वर्ष तक जीवित रहा, वरन् अति सुदृढ़ और आकर्षक बना रहा। कई ऐतिहासिक कारणों से यह न तो अपने में वह लचक रख सका, न ही अपने आधारभूत नियमों में कारण समझाने का यत्न कर सका। इसके सदस्य इसको छोड़-छोड़कर जाने लगे। समाज ने उनके छोड़कर जाने से सुख अनुभव किया। अपनी बौद्धिक दासता के कारण यह समाज अपने कठोर आवरण में सुधार नहीं कर सका। न ही उस कठोरता में युक्ति-युक्त कारण अपने सदस्यों को समझा सका।

इसके दो परिणाम हुए। एक तो समाज संकुचित होने लगा। दूसरे समाज के अन्दर छोटे-छोटे अनेकों घेरे बन गये और वे धीरे-धीरे अपने को मुख्य समाज से असम्बद्ध मानने लगे। अभिप्राय यह कि व्यक्तियों अथवा उन समुदायों ने स्वेच्छा से हिन्दू समाज के घेरे को तोड़ना आरम्भ कर दिया।

हिन्दू समाज के उदाहरण देने का प्रयोजन यह है कि इससे समाज और व्यक्ति के सम्बन्धों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

इस विषय में रूसी समाज शास्त्री मैलिनोविस्की (Malino-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

wski) अपनी पुस्तक Crim and Custom in Savage Society में लिखता है—

The various social codes are all alike in one important respect. For their prescriptions are all subject to violation, and therefore, they are all guarded by special provisions, or sanctions, calculated to counteract the tendency to disobedience. This is no less true of primitive customruled peoples than of modern ones. In no situation is there unswerving automatic obedience. In every instance the group sustains the code by the exercise of some degree of pressure on the individual violator.[१]

(सब समाजों के नियम एक बात में समान हैं कि वे भंग किये जा सकते हैं। इसी कारण उन नियमों की रक्षा, उनके विपरीत विद्रोह की भावना से, विशेष प्रबन्ध अर्थात् दण्ड से की जाती है। रीति-रिवाज से शासित समाजों में यह बात आदि काल से चली आती है। वर्तमान समाज में भी यह बात सत्य है। किसी भी अवस्था में स्वेच्छा से और निष्ठ होकर नियमों का पालन नहीं होता। प्रत्येक अवस्था में समुदाय नियमों की रक्षा करता है। किसी न किसी सीमा तक विद्रोही व्यक्ति पर दबाव डाला जाता है।)

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि इस पुस्तक का लेखक कम्युनिस्ट (communist) है और वह रूस में समाज के कठोर ढांचे की सफाई दे रहा है। इस पर भी वह यह मानने पर विवश हो गया प्रतीत होता है कि सब समाजों के नियम भंग किये जा सकते हैं। और उनके पालन कराने के लिए समाज को अपने घटकों पर दबाव डालना पड़ता है। प्रश्न तो यह उपस्थित होता है कि यह दबाव रूस की भाँति आँखें, जबान और कान बन्द कर, कनसेन्ट्रेशन कैम्पों का-सा होना चाहिए अथवा स्वतन्त्र समाजों की भाँति प्रेरणा और समझाने

1. Society p. 139;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(prescription and persuasion) का होना चाहिए। रूस में लोहे की दीवार सदा रह नहीं सकेगी और ज्योंही लोगों को दूसरों की बात सुनने, देखने और फिर कहने की स्वीकृति मिली त्योंही वह समाज विश्रृंखल होने लगेगा।

एक स्वतन्त्र विचार के समाजशास्त्री मिस्टर आर० एम० मैकिवर इसी विषय पर लिखते हैं—

Society is distinct from physical reality in that the laws which sustain it are, at least in part, prescriptive or normative. Unlike the laws of the physical world, they can be disobeyed and they can be changed. They lack the inexorable character of natural laws...But the rules themselves are subject to change, since the needs and desires of men are never constant but always seek and find new forms of expression.[1]

(समाज एक प्राकृतिक तथ्य से भिन्न वस्तु है। जो नियम इसको जीवित रखते हैं वे, कम से कम कुछ अंशों में, सम्मति मात्र और प्रेरणा मात्र ही होते हैं। प्रकृति के नियमों के विपरीत इनका उल्लंघन किया जा सकता है और इनको बदला जा सकता है। प्राकृतिक नियमों की भाँति ये अपरिवर्तनशील नहीं।···नियम बदले जा सकते हैं क्योंकि मनुष्यों की आवश्यकताएँ और इच्छाएँ सदैव समान नहीं रहतीं। मनुष्य अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं के लिए नये-नये रूप ढूंढता रहता है।)

इस सबका अर्थ यह है कि मनुष्य एक बुद्धिशील प्राणी है। बुद्धियां, विशेष रूप में सांसारिक जीवों की, समान नहीं होतीं, न ही सदा समान रहती हैं। इसमें कारण यह है कि समाज एक चलायमान वस्तु है। यह स्थिर और निश्चित नहीं रह सकती।

एक दूसरी बात इससे स्पष्ट होती है कि यद्यपि समाज अपने नियमों को चालू रखने के लिए अनेक प्रकार के उपाय करता है, इस

1. Society, p. 138;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर भी वे नियम परिवर्तनशील होते हैं।

तीसरी बात यह है कि समाज में व्यक्तियों की बदल रही प्रवृत्तियों के अनुसार नियम बदलते रहने चाहिएँ।

चौथी बात यह कि यदि समाज में लचक नहीं रहेगी तो समाज टूट जाएगा। व्यक्ति इसके बन्धन तोड़कर निकल जायेंगे।

हमारा यह कहना है कि समाज की भारतीय मीमांसा ही ठीक है। व्यक्ति मुख्य है। भले लोगों को दुष्ट लोगों से सुरक्षित रखने के लिए समाज का निर्माण किया था।

दुष्ट लोगों के भी समुदाय होते हैं, परन्तु उनका नाम समाज नहीं रखा जा सकता। उनका नाम टोला (gang) होता है।

जब समाज अपने में के भले लोगों की रक्षा नहीं कर सकता तो वह विघटित हो जाता है।

जहाँ तक समाज के संगठन का सम्बन्ध है, इसके नियम उप-नियम केवल सम्पत्ति अथवा प्रेरणा मात्र ही होते हैं। इस पर भी उनका पालन होना चाहिए। यह पालन बलपूर्वक नहीं कराया जा सकता। जहाँ बलप्रयोग होगा, वहाँ वे नियम-उपनियम एक अल्प काल के लिए ही चल सकेंगे। तदुपरान्त समाज विघटित होने लगेगा। इसको संगठित रखने का केवल एक ही उपाय है कि समाज के घटकों को यह विश्वास बना रहे कि समाज में रहना उनके हित में है।

बल का प्रयोग समाज के नियमों में अवांछनीय है। इसमें कारण ये हैं :

(१) बल का प्रयोग सामाजिकता का विरोधी है। यह सामाजिक सम्बन्धों में कृत्रिमता उत्पन्न कर देगा। इससे सम्बन्धों में विवशता, नीरसता एवं घृणा उत्पन्न हो जाएगी।

(२) बलप्रयोग किसी भी सुधार में सफल नहीं होता। यह मानव के क्रिया-कलाप को बिगाड़कर रख देता है और फिर इसका स्वाभाविक परिणाम, विद्रोह होता है। राज्य के विषय में भी दण्ड का विधान अपराधों को निःशेष नहीं कर सका। इसका उस क्षेत्र में भी केवल एक प्रयोग हो सका है। वह है भले लोगों की दुष्टों से रक्षा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करना। अपराधियों को जेल में डाल देने अथवा शारीरिक दण्ड देने का यही प्रयोजन है कि वह भले लोगों से दूर रखे जा सकें। दुष्टों को सुधारने में सम्मति और प्रेरणा (prescription and persuasion) ही उपाय हैं।

पाश्चात्य समाज-शास्त्री सामाजिक नियमों में बलप्रयोग को क्षम्य मानते हैं। इसमें दो कारण हैं। एक यह कि वे समाज और राज्य को पर्यायवाची मानते हैं। वे राज्य का कार्य-क्षेत्र समाज के प्रत्येक कार्य में स्वीकार करते हैं। और जब वे समाज शब्द का प्रयोग करते हैं तो उनके मस्तिष्क में राज्य का चित्र बन जाता है। दूसरा कारण है पाश्चात्य समाजशास्त्रियों का मनुष्य में स्वतन्त्र आत्मा का न होना मानना।

ये दोनों बातें गलत हैं। राज्य समाज का एक अंश मात्र है। इसका कार्य-क्षेत्र सीमित है। मानव समाज के कार्य राज्य के कार्यों से बहुत अधिक हैं। यदि उन सब में राज्य हस्तक्षेप करेगा तो मानव की मानवता ही विलुप्त हो जाएगी।

उदाहरण तो बहुत दिये जा सकते हैं। निम्नलिखित उदाहरण हमारे आशय को भली-भाँति स्पष्ट करेगा। पशु-पालन करने वाले पशुओं की नसल को उन्नत करने के लिए नर और मदीन के संयोग पर नियंत्रण रखा जाता है। किस नर का किस मदीन से संयोग होना चाहिए, कब होना चाहिए और किस अवस्था में होना चाहिए इन सब बातों पर पशु पालने वाले नियंत्रण रखते हैं। वे पशुशालाओं में नर और मदीन को पृथक्-पृथक् बाँधते हैं। किसी नर अथवा मदीन के विरोध करने का विरोध करते हैं। इसके लिए वे लाठी का प्रयोग भी करते हैं। उनके ऐसा करने से नसल में इच्छित परिणाम निकलते भी देखे जाते हैं।

मानवों में भी नर और मदीन के संयोग पर नियंत्रण वांछनीय है। यह है भी एक सामाजिक कृत्य। इस पर नियंत्रण भी मानव संतति को उन्नत स्तर पर रखने के लिये आवश्यक माना गया है। मानव समाज ने इसके लिए विवाह-पद्धति का आविष्कार किया है और समय-समय पर विवाह के नियमोपनियमों में अदल-बदल किया जाता रहा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इस पर भी राज्य अथवा समाज इस पर प्रेरणा तथा सम्मति से ही काम लेता है। बल अथवा दण्ड से काम नहीं लिया जा सकता। पुरुष-स्त्री बिना विवाह के भी संयोग बनाते हैं, जब दोनों यह बात स्वेच्छा से करते हैं और जब वे अपनी इच्छा प्रयुक्त करने की आयु में पहुँच गये होते हैं। इस अवस्था में न तो समाज और न ही राज्य इसमें हस्तक्षेप करता है। कदाचित् कर सकता भी नहीं। यदि स्वेच्छा से स्त्री-पुरुष बिना विवाह के साथ रहते हैं तो उनको बलपूर्वक पृथक्-पृथक् रखना मानव प्रकृति के विरुद्ध होगा और सम्बन्धित व्यक्ति विद्रोह कर मनमानी करेंगे और समाज विघटित होने लगेगा।

ऐसे संयोगों को मना करने का ढंग दण्ड देना नहीं, अपितु सम्मति और प्रेरणा देना (Prescription and persuasion) ही है।

विधिपूर्वक विवाह में भी कभी समाज अथवा राज्य हस्तक्षेप करता देखा जाता है।

जैसे रूस में किसी रूसी औरत को अपने विदेशोत्पन्न पति के साथ विदेश में जाकर कहने की स्वीकृति सुगमता से नहीं मिलती। वहाँ की स्त्री किसी विदेशी पति से विवाह कर विदेश में जा सकती ही नहीं।

यह विवाह के विधि-विधान में, जो एक शुद्ध सामाजिक कृत्य है, राज्य का अनुचित हस्तक्षेप है। मानव किसी प्रकार की विवशता के कारण भले ही इस प्रकार के हस्तक्षेप को सहन करता जाये, परन्तु उसकी अन्तरात्मा इसके विरुद्ध विद्रोह किए बिना नहीं रह सकती।

इस विषय में एक वस्तुस्थिति का उल्लेख ज्ञानवर्धक होगा। योरोप में एक पत्नी के विवाह का विधान है। उन देशों में विवाह के अतिरिक्त पुरुष-स्त्री सम्बन्धों की संख्या असीम है। यहाँ भारत में पुरुष को एक से अधिक स्त्रियाँ रखने की स्वीकृति थी और विवाह के अतिरिक्त पुरुष-स्त्री-सम्बन्धों की संख्या अति सीमित थी। अब यहाँ भी विवाह पर कानून का दबाव हो गया है और इससे व्यभिचार बढ़ने लगा है।

बात वही है। जब और जहाँ सामाजिक सम्बन्धों में प्रेरणा को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छोड़कर बल का प्रयोग किया जाएगा, सम्बन्ध बिगड़ेंगे। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि एक पुरुष का एक ही स्त्री से सम्बन्ध होना तो ठीक है परन्तु इसको चलाने के लिए प्रेरणा और सम्मति ही ठीक उपाय हैं।

उक्त पूर्ण कथन से हमारा यह अभिप्राय है कि समाज जब बन जाता है, तो समाज अपने भीतर के घटकों को समाज से बाहर जाने की स्वीकृति नहीं देता। न ही समाज यह चाहता है कि इसके सदस्य उसके नियम भंग करें। समाज में जो लोग अधिकारी बन जाते हैं, अथवा बना दिए जाते हैं, वे घटकों को बलपूर्वक अनुशासन में रखने का यत्न करते हैं और घटक इस बल के प्रयोग का विरोध करते हैं।

यही स्थिति प्रायः संयुक्त परिवारों में देखी जाती है। जहाँ बिरादरियों का रिवाज है, वहाँ भी इस अभिरुचि के दर्शन होते हैं। इसमें हमारा मत है कि समाज के प्रयोजन को न समझ यह दुर्व्यवस्था देखी जाती है। समाज के विषय में हम यह लिख चुके हैं कि यह स्वतंत्र व्यक्तियों का स्वेच्छा से बनाया संगठन है। जब तक व्यक्ति की इच्छा संगठन में रहने की बनी रहेगी, तब तक ही यह रहेगा। जब भी व्यक्तियों को इसमें बलपूर्वक जकड़ने का प्रयत्न किया गया, तब ही इसमें विघटन आरम्भ होने लगेगा।

मिस्टर मैकिवर लिखते हैं—

It is obvious also that force is a more effective instrument of social control over uneducated or regimented populations than over those which have been brought up in an atmosphere of liberty and crfticism.[1]

(यह स्पष्ट है कि जाहिल और सैनिक प्रवृत्ति वाले लोगों पर सामाजिक नियंत्रण के लिये बलप्रयोग अधिक प्रभावशाली होता है। वे लोग जो स्वतन्त्रता और विवेक के वातावरण में पले हैं, उन पर बलप्रयोग का प्रभाव कम होगा।)

यह समाज-शास्त्री सत्य ही बहुत सूझ-बूझ रखता प्रतीत होता

1. Society p. 156

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, परन्तु वह यह नहीं जानता कि ज़ाहिल और नियन्त्रण में बँधा मनुष्य तो पालतू जानवर (domestic animal) के तुल्य ही होता है। जहाँ मनुष्य को स्वभाव से कार्य करने के तुल्य बना दिया जाता है, वहाँ वह अपनी बुद्धि का प्रयोग छोड़ देता है। हमारी भारतीय विचार-पद्धति उसको मनुष्य (मननशील प्राणी) मानती ही नहीं। इन लोगों के समुदाय को समाज कहा ही नहीं जा सकता। वह तो पशुओं का झुण्ड (herd of animals) होगा। मानव-समाज इतनी निकृष्ट वस्तु नहीं है।

इस कारण ऐसे लोगों में बलप्रयोग प्रभावशाली और सफल होता है तो विस्मय करने की बात नहीं। ऐसे लोगों का झुण्ड न तो भले मनुष्यों की रक्षा के लिए होगा, न ही उससे किसी प्रकार का मानव-हित सम्पन्न हो सकेगा।

पाश्चात्य समाजशास्त्रियों और प्राचीन भारतीय समाजशास्त्रियों की कल्पना में अन्तर केवल इस कारण ही है कि वर्तमान युग में एक मनुष्य और प्राकृतिक पदार्थ में अन्तर नहीं माना जाता। एक पत्थर और एक युवक में समानता मानी जाती है।

मानव समाज में समाज के नियमों का पालन बल के अतिरिक्त कैसे कराया जाये ? यह प्रश्न है। इसका एक सामान्य गुर तो बताया है। वह है प्रेरणा और सम्मति। इसके अतिरिक्त भी समाजशास्त्रियों ने समाज-व्यवस्था को चलाने के लिए कई उपाय बताये हैं।

(१) भक्ति (loyalty); यह एक उपाय है। एक व्यक्ति विशेष के लिए, किसी रीति-रिवाज के लिए, किसी विचार के लिए, परिवार में परिवार के पुरखा के लिए, बिरादरी के चौधरी के लिये, नगर अथवा देश में नेता के लिए, पंथ के गुरू या पीर के लिये भक्ति हो सकती है। हिन्दुओं में गौ-ब्राह्मण के लिए, सिखों में गुरु ग्रंथ साहब के लिये, मुसलमानों में कुरान और मुहम्मद साहब के लिये भक्ति होती है। किसी जाति की सभ्यता के लिये अथवा धार्मिक और ऐतिहासिक स्थानों के लिये भी भक्ति हो सकती है।

यह भक्ति कैसे उत्पन्न हो सकती है ? क्या यह बुद्धि का विषय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है अथवा स्वभाव का विषय है ? भक्ति के केन्द्र तथा भक्ति उत्पन्न होने में कारण पर ही इसका प्रभाव निर्भर करता है। यदि भक्ति केवल संस्कारों के कारण है तब तो यह किसी समय भी क्षीण हो सकती है और फिर समाज की नींव खोखली हो जायेगी। उदाहरण के रूप में सूअर के प्रति भक्ति है। मुसलमानों में इसको मारना वर्जित है। इस पर भी देखा गया है कि किंचित् से विचार पर अकबर और जहाँगीर सूअर के शिकार पर तैयार हो गये थे। इस भक्ति में कोई युक्ति-युक्त आधार नहीं था।

इसके विपरीत हिन्दुओं में राम और कृष्ण में भक्ति सहस्रों वर्षों से अक्षुण्ण चली आ रही है। और अभी ढीली होती प्रतीत नहीं होती। इसमें कारण है इन महापुरुषों के पीछे इतिहास और विचारधारा की उपस्थिति। यह जहाँ संस्कारों का विषय है वहाँ इतिहास और युक्ति का भी विषय है। यह स्थायी भक्ति और उच्च विचारों की प्रेरक होने से हितकर है।

वास्तव में हिन्दू समाज को जीवित और संगठित रखने में राम और कृष्ण के प्रति भक्ति और निष्ठा का बहुत बड़ा हाथ है। यह केवल संस्कारों का ही विषय नहीं, वरं बुद्धि का विषय भी है।

(२) मतान्तः प्रवेशन (Inductrination); इसका अभिप्राय है कि किसी बात को किसी के मन में इस प्रकार डालना कि वह उसको विचार किये बिना ग्रहण कर ले। यह तो शुद्ध प्रेरणा और सम्मति का ही एक रूप है।

(३) संस्कार डालना (Habituation); बचपन से जब कोई मनुष्य किसी काम को बार-बार करता है तो वह उस काम का स्वभाव बना लेता है। तब वह उन संस्कारों से ग्रसित समाज के नियमों का पालन करता रहता है। संस्कारों में यह आवश्यक है कि संस्कारित कर्मों का समय-समय पर मनन, विवेचन और संशोधन होता रहे। नहीं तो संस्कार अच्छे होते हुए भी रूढ़िगत हो जाने से विद्रोह का विषय बन जाते हैं।

रीति-रिवाज तथा कर्म काण्ड (Ritual Ceremonies); समाज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसे रीति-रिवाज स्वीकार कर लेता है जिनसे उनका संगठन बना रहता है। जैसे वैष्णवों में आरती और कीर्तन है। मुसलमानों में नमाज़ पढ़ने का ढंग है। इंगलैंड में राजा के राज्यारोहण की रस्म है। किसी काल में हिन्दुओं में चोटी रखना अथवा यज्ञोपवीत पहनना था अथवा किन्हीं सम्प्रदायों में तिलक लगाने का ढंग है।

और भी कई उपाय हैं जो समाज के संगठन को स्थिर रखने के लिये आविष्कार किये गए हैं। वास्तव में ये सब उपाय प्रेरणा और सम्मति की उपज होते हैं और इनसे ही चल सकते हैं। उदाहरण के रूप में हिन्दुओं में चोटी रखने और यज्ञोपवीत पहनने की प्रेरणा नहीं रही तो ये रिवाज भी समाप्त हो गए हैं। इन सब उपायों में समय-समय पर समाज के घटकों को यह हृदयंगम कराने की आवश्यकता बनी रहती है कि ये रीति-रिवाज समाज के घटकों के हित में हैं।

बलपूर्वक समाज के घटक को समाज में रखना और समाज के नियम भंग करने से रोकना तो समाज के हित में नहीं हो सकता।

नियम भंग करने वाले को समाज से कैसे बाहर करना सम्भव होगा? यह समाज की अपनी परिस्थितियों अथवा उससे समाज से होने वाले लाभ पर निर्भर करता है।

यदि मुसलमान अथवा ईसाई समाज का कोई घटक अपनी समाज के नियमों का उल्लंघन करता है तो वे समाज उसे अपनी और अपने मुल्ला अथवा पादरी की सेवाओं से वंचित कर सकता है। अथवा उसके घर में किसी शादी-गमी के अवसर पर दूसरे घटक को जाने से मना कर सकता है। इस प्रकार के बहिष्कार को अँग्रेजीं में 'सैक्शन्ज' कहते हैं

किसी ज़माने में हिन्दू समाज में नियम भंग करने वाले घटकों का हुक्का पानी बन्द कर दिया जाता था। यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाये तो इस प्रकार के बहिस्कार इस युग में सफल नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त भी, कोई समाज अपने घटकों को आज दंडित नहीं कर सकता। यदि करे तो समाज को राज्य का स्थानापन्न बनना पड़ जाएगा और यह राज्य स्वीकार नहीं कर सकेगा।

एक परिवार का उदाहरण लिया जा सकता है। यदि किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिवार में कोई परिवार का सदस्य परिवार के बड़े का कहा न माने तो अधिक से अधिक परिवार उससे मेल-मुलाकात बंद कर सकता है। उसको परिवार से पृथक् कर सकता है। पिता उसको उत्तराधिकार से वंचित कर सकता है। परन्तु न तो पिता, न ही परिवार के अन्य सदस्य बलपूर्वक उसको परिवार के रीति-रिवाजों का पालन करने पर विवश कर सकते हैं। बल-प्रयोग हो नहीं सकता। कारण, बल का प्रयोग सरकार ने अपने अधिकार में कर रखा है।

जो बात परिवार के लिए सत्य है, वही बात समाज के अन्य अंगों एवं समुदायों के लिये सत्य हो सकती है। एक अन्य उदाहरण लिया जा सकता है। सिक्ख समुदाय में सिर पर केश रखना समुदाय के नियमों में है। किसी कारण से अथवा अकारण यदि कोई सिक्ख केश कटवा दे तो सिक्ख समुदाय इसको पसन्द नहीं करता। इसको पसन्द करना अथवा न पसन्द करना हमारे विचार का विषय नहीं। विचारणीय बात यह है कि सिक्ख समुदाय अपनी नपसन्दगी किस प्रकार प्रकट करे और उस नियम भग करने वाले घटक से अपनी इच्छा कैसे मनवाये ? केश कटवाने वाले का बहिष्कार करना तो सिक्ख समुदाय का अधिकार है, परन्तु उसको मार-पीट कर अथदा अन्य किसी प्रकार से विवश कर केश नहीं रखवाये जा सकते। राज्य यह करने नहीं दे सकता।

हमारा यह मत है कि व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध स्वेच्छा का है। समाज में रहते हुए व्यक्ति के लिये समाज के नियमों का पालन उचित ही है, परन्तु जब भी किसी घटक को यह समझ आये कि वे नियम उसके हित में नहीं, तो उसको अधिकार होना चाहिए कि वह समाज छोड़ दे। समाज को उसके समाज छोड़ चले जाने से दु:ख और असुविधा होनी स्वाभाविक है, परन्तु समाज को अपना कोप प्रकट करने का रूप क्या हो ? आज सभ्य समाज में किसी भी समाज के घटक को दंड देना अथवा दंड देने के योग्य समझना केवल राज्य का अधिकार है। परन्तु राज्य तो उन अपराधों का ही दंड दे सकता है, जो सनातन अथवा सामयिक धर्मों के विरोध में किया जायेगा। किस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्ति को बाँध कर किसी समुदाय अथवा समाज में रखना राज्य का काम नहीं। राज्य समाज नहीं हो सकता। यह देश में शान्ति-व्यवस्था रखने के लिए निर्माण किया गया है।

एक सुनार है। वह सुनारों की बिरादरी के नियमों का पालन नहीं करता। इस अवस्था में क्या राज्य का हस्तक्षेप वांछनीय है? क्या राज्य उस सुनार को बिरादरी के नियम पालन करने के लिए विवश करे? इसमें हमारा मत है कि यह राज्य का काम नहीं कि वह किसी को किसी भी बिरादरी में रहने को विवश करे।

जब राज्य ऐसे काम अपने हाथ में लेगा जिसके लिए उसका निर्माण नहीं हुआ, और उन कामों को करने के लिए वह बल का प्रयोग करेगा तो राज्यान्तर्गत लोग उस राज्य का भी विरोध करने लगेंगे। किसी समय योरोप में पोप कई देशों के राज्य-कार्यों में और व्यक्तियों के निजी सम्बन्धों में हस्तक्षेप करने लगा था। राजाओं के विवाह अनियमित घोषित कर दिये जाते थे। विवाह करने अथवा विवाह-विच्छेद करने की स्वीकृति नहीं दी जाती थी। परिणामस्वरूप पोप की सत्ता के विरुद्ध विद्रोह हुआ। एक बहुत बड़ी संख्या में ईसाइयों ने पोप के मत को छोड़ अपना स्वतंत्र ईसाई मत बना लिया।

मतलब यह कि समाज के किसी अंग को समाज से बाहर जाने ·· बाधा नहीं हो सकती। राज्य भी समाज का एक अंग माना गया है। समाज ने इसे बल-प्रयोग करने की स्वीकृति दे रखी है। साथ ही राज्य के अधिकार सीमित कर रखे हैं। अर्थात् राज्य बल का प्रयोग सीमित क्षेत्रों में ही कर सकता है। जब भी यह अपने क्षेत्रों को पार कर बल का प्रयोग करेगा, इसे विद्रोह का सामना करना पड़ेगा।

पोप का उदाहरण हम ऊपर लिख चुके हैं। वह उदाहरण है जब एक धार्मिक अधिकारी ने व्यक्ति के निजी कामों में हस्तक्षेप किया। हिन्दुस्तान में इससे उलट उदाहरण देखा गया है। यहाँ मुसलमान आए। राजनीतिक प्रभुता के अतिरिक्त मुसलमान राजाओं ने यहाँ के रहने वालों के धार्मिक और सामाजिक कर्त्तव्यों में हस्तक्षेप करना आरम्भ किया। जब यह हस्तक्षेप सीमा से अधिक हुआ, देश में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्रोह खड़ा हो गया। यह औरंगजेब के काल में हुआ। औरंगजेव ने हिन्दुस्तान के रहने वाले हिन्दुओं को अपना मज़हब रखना दंडित करार दिया था। परिणाम यह हुआ कि देश-भर में विद्रोह खड़ा हो गया। यह ठीक है कि विद्रोह को फलीभूत होने में एक शताब्दी से अधिक समय लग गया। यह विद्रोहियों में संगठन की कमी के कारण था। परन्तु विद्रोह हुआ और एक प्रबल विद्रोह हुआ।

कभी ऐसा भी होता है कि राज्य सेना के सुसंगठित होने से पूर्ण समाज पर अथवा उसके पूर्ण कार्यों पर आधिपत्य जमा लेता है और विद्रोहियों को सफल होने में प्रबल बाधा खड़ी कर देता है। ऐसी स्थिति में समय पाकर विद्रोह भी प्रबल हो उठता है। क्रिया के समान ही उसकी प्रतिक्रिया होती है। इसका उदाहरण सन १९६५ की इण्डोनीशिया की क्रान्ति में देखा जा सकता है। कम्युनिस्ट अधिकारियों ने वहां सेना के बल से अपना प्रबल आधिपत्य जमा रखा था। यहाँ तक कि लोगों का दिन-प्रतिदिन का व्यवहार भी दूभर होता चला जाता था। परिणामस्वरूप लाखों कम्युनिस्टों की हत्या हो गई और तब जाकर ही शान्ति स्थापित हो सकी।

राज्य के अतिरिक्त भी कभी किसी समुदाय में विद्रोहियों की संख्या कम होती है और समुदाय के नियम मानने वालों की संख्या बहुत अधिक। ऐसी अवस्था में यह और भी अधिक आवश्यक हो जायगा कि दोनों पक्ष एक-दूसरे के दृष्टिकोण का आदर करें। दोनों अपने-अपने मार्ग पर चलते हुए एक-दूसरे के लिए केवल सम्मति और प्रेरणा (prescription and persuasion) का ही उपाय प्रयोग करें। वे एक-दूसरे पर बल प्रयोग का प्रयत्न न करें।

यह जीवन का ढंग सर्वथा भारतीय है। हिन्दू-समाज में यह अनन्त काल से चला आ रहा है। सबको अपने विचार और आचरण में स्वतन्त्रता है। और इसमें शर्त यह है कि जो व्यवहार कोई अपने लिये पसन्द करता है, वैसा ही व्यवहार वह दूसरे के प्रति रखे।

हिन्दू शास्त्र का यह वचन है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रखा जाना ठीक समझा गया।

धर्म मनुष्य-मनुष्य में सम्बन्ध रखने वाला विषय माना गया है। यह बात धर्म के प्रकरण में और अधिक स्पष्ट करेंगे।

हमने यह लिखा है कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए परिश्रम करता है। परिश्रम को ही कर्म कहते हैं।

साधारण आवश्यकताएँ हैं—वायु, जल, भोजन, गरमी-सर्दी से बचना तथा यौन-तृप्ति।

हमने भी यह बताया है कि ये सब आवश्यकताएँ पशु और मनुष्य में समान रूप से उपस्थित होती हैं और सब प्राणी उनकी पूर्ति में समान रूप से प्रयत्न करते हैं।

मनुष्य में एक विशेषता है। वह यह कि इसमें एक बुद्धि नाम की वस्तु है। यह बुद्धि विकास की क्षमता रखती है। यह बुद्धि जहाँ मनुष्य में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति का उपाय बताती है, वहाँ यह मनुष्य की आवश्यकताओं में वृद्धि भी करती है। फिर इन बढ़ी हुई आवश्यकताओं की पूर्ति में साधन भी जुटाती है।

अभिप्राय यह कि मनुष्य में अपने कर्म का क्षेत्र बढ़ाने की क्षमता रहती है। यह क्षमता बुद्धि के कारण है।

कभी बुद्धि का विकास इस गति से नहीं हो पाता, जिससे काम और राग उत्पन्न होता है। तब मनुष्य कर्तव्याकर्तव्य, भक्ष्याभक्ष्य, अगम्यागमन, वाच्यावाच्य तथा दोष-अदोष में भेद नहीं कर पाता। तब वह अकर्म करने लगता है।

अकर्म उस कर्म को कहा जाता है जो करना उचित नहीं। मूल रूप में जो अपना नहीं, उसे अपना बनाये बिना प्राप्त करने के प्रयत्न को अकर्म कहते हैं, अपना वह है जिसको प्राप्त करने के लिए परिश्रम किया गया हो।

अतः परिश्रम, अपना-पराया, उचित-अनुचित उपाय इत्यादि पर विवेचना को नीति शास्त्र कहते हैं।

यह है कर्म-अकर्म की विवेचना। यूं तो मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रयास को भी कर्म कहते हैं, परन्तु मोक्ष-प्राप्ति एक व्यक्ति का अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ सम्बन्ध रखने वाला विषय है। इस कारण इसको नीतिशास्त्र से बाहर रखा है। नीतिशास्त्र में तो केवल उन विषयों पर ही विवेचना की गई है, जिनमें मनुष्य का मनुष्य से सम्बन्ध पड़ता है।

मोक्ष का विषय केवल मज़हब से सम्बन्ध रखता है। कुछ पंथों के प्रवर्तकों ने अपने पंथ को लोकप्रिय बनाने के लिये यत्र-तत्र नीति शास्त्र की बातें भी इसमें सम्मिलित कर ली हैं। इससे उनमें भी मनुष्य के मनुष्य से सम्बन्ध के विषयों पर उल्लेख आता है। परिणाम यह हो रहा है कि नीतिशास्त्र का हस्तक्षेप मज़हबों में अनिवार्य हो गया है। यह एक अवांछनीय स्थिति है। इसका निराकरण तब ही हो सकता है जब मज़हबों के लोग नीति-शास्त्र की बातों को मोक्ष-प्राप्ति की बातों से पृथक् रखें।

मोक्ष-प्राप्ति केवल मनुष्य की आत्मा से सम्बन्ध रखने वाली बात है। आत्मा के सांसारिक बन्धनों से छूट जाने को मोक्ष कहते हैं। इसी निमित्त पूजा-पाठ, योग-ध्यान, समाधि इत्यादि उपाय हैं। इनमें से किसी के लिए भी एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से सम्बन्ध बनाने की आवश्यकता नहीं। अतः मज़हबों को इन्हीं बातों तक सीमित रखा जाये तो फिर नीति के संचालकों को मज़हबों में हस्तक्षेप से दूर रखा जा सकता है। कहने का अभिप्राय यह है कि मज़हब और नीति-व्यवस्था भिन्न-भिन्न हैं। मज़हब का नीति में हस्तक्षेप अकर्म है और नीतिशास्त्र का मज़हबों में हस्तक्षेप अकर्म है।

उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायेगी। इस्लाम में दारा-उल-हरब को दारा-उल-स्लाम बनाना सबाब (पुण्य कार्य करना) माना गया है। दारा-उल-हरब का अभिप्राय है गैर-इस्लामी देश और दारा-उल-इस्लाम का मतलब उस देश से है जहाँ का शासक मुसलमान हो।

देश में रहने वालों का इस्लाम को मानना अथवा ईसाई मत को मानना व्यक्ति के अपने विचार का विषय है। इसके लिए बौद्धिक प्रयत्न तो हो सकते हैं, परन्तु इस्लाम ने इस सबाब (पुण्य) के काम को करने के लिये जंग, विप्लव, हत्याएँ, क्रान्तियाँ और अनेक प्रकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अधर्माचरण किये हैं। यह इस्लाम का एक अनुचित हस्तक्षेप है। नीतिशास्त्र के क्षेत्र में यह अकर्म है। इसको रोकने के लिये नीति-संचालकों को इस्लाम में हस्तक्षेप करना पड़ता है। इस हस्तक्षेप से बचने के लिए इस्लाम को अपने इस सिद्धान्त को छोड़ना होगा। नीति-संचालकों को भी इस सिद्धान्त को इस्लाम से बहिष्कृत कराने तक ही हस्तक्षेप करना चाहिये।

इसका अभिप्राय यह भी निकलता है कि नीति-संचालक भी यदि मोक्ष प्राप्ति के मार्ग को अवरुद्ध करते हैं तो वे भी अकर्म करते हैं।

विस्मयजनक बात यह है कि महाभारत का लेखक और यदि उसके कथन को सत्य मानें तो आदि काल में भी विद्वान लोग परमात्मा की कृपा से यह बात समझ गये थे कि कर्म और अकर्म क्या है और सबसे प्रथम उन्होंने नीति-शास्त्र से मोक्ष प्राप्ति को पृथक् रखा था। नीतिशास्त्र का मनुष्य की प्रवृत्ति में हस्तक्षेप अकर्म माना गया था। यदि यह कहा जाये कि सैक्युलर राज्य की रूप-रेखा उनके मस्तिष्क में थी तो ठीक होगा। सैक्युलर का अर्थ है कि राज्य अर्थात् नीति-संचालक मज़हबी विषयों में हस्तक्षेप न करें। हम मज़हबी विषय केवल उनको मानते हैं जो मनुष्यों के आत्म-अभ्युदय के हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षष्ठ अध्याय

धर्म

पिछले अध्याय में यह वर्णन किया गया है कि मानवों ने अपने राग और काम से उत्पन्न अव्यवस्था को दूर करने के हेतु नीतिशास्त्र का आविष्कार किया। इस नीतिशास्त्र के तीन मुख्य लक्ष्य हैं। धर्म की स्थापना, अर्थ की प्राप्ति तथा काम की पूर्ति।

हम धर्म के विषय में ही पहले लिखते हैं—

धर्मो राजन् गुणः श्रेष्ठो मध्यमो ह्यर्थ उच्यते।
कामो यवीयानिति च प्रवदन्ति मनीषिणः ॥[1]

(हे राजन्! धर्म गुणों में श्रेष्ठ है। अर्थ मध्यम है और काम को सबसे हीन समझो।)

इसका अभिप्राय यह है कि अर्थ की प्राप्ति में और कामनाओं की पूर्ति में धर्म का पालन सर्वत्र होना चाहिये और कामनाएँ तो बिना अर्थ के पूर्ण होती ही नहीं।

धर्म की व्याख्या नीतिशास्त्र में बहुत विस्तार से की गयी है। धर्म करने योग्य कर्म को कहते हैं। करने योग्य कर्म सर्व प्रथम दो प्रकार के हैं—

स्थायी अर्थात् शाश्वत धर्म एवं अस्थायी अर्थात् परिवर्तनशील धर्म। शाश्वत धर्मों को सनातन धर्म भी कहते हैं।

स्थायी तथा अपरिवर्तनशील धर्मों के विषय में मनुस्मृति में लिखा

१. महाभारत शा० १६७-८:

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है—

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः ।
दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

यह सनातन धर्म की व्याख्या है जो समस्त समाज के और प्रत्येक आयु के प्रत्येक घटक के लिए व्यवहार में लाने के लिए है।

धर्म हैं—धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धीः, विद्या सत्य तथा अक्रोध ।

ये धर्म ऐसे हैं जो सर्वत्र, सदा और सबके पालन करने योग्य माने हैं। इनकी अवहेलना कभी भी नहीं की जानी चाहिए ।

इसके अतिरिक्त देश, काल, परिस्थितियों के अनुसार भी मनुष्य के लिए कुछ कर्म करणीय होते हैं। वे देश, काल आदि के परिवर्तन के साथ बदलते रहते हैं । समाज के धर्म-शास्त्री इनमें समयानुसार परिवर्तन करते रहते हैं ।

एक बात ध्यान रखने योग्य है कि ये परिवर्तनशील धर्म कभी भी स्थायी धर्मों का विरोध नहीं कर सकते । उदाहरण के रूप में वर्तमान काल के प्रजातन्त्रात्मक पद्धति के देशों में संसद अथवा विधान सभाएँ मनुष्यों के आचरण के लिए नियम आदि (कानून) बनाती हैं। परन्तु उक्त नीतिशास्त्र के अनुसार कोई भी धर्म शास्त्री, संसद अथवा राजा ऐसे नियम (कानून) न बनाये जो उक्त स्थायी धर्मों का उल्लंघन करें, विरोध करें अथवा विरोध की स्थिति उत्पन्न कर सकें ।

एक उदाहरण लें तो बात और भी स्पष्ट हो जाएगी । आज भारत में सन्तान-निग्रह का आन्दोलन चल रहा है। इसके लिए कई प्रकार के कृत्रिम उपकरण प्रयोग में लाने का प्रचार किया जा रहा है । जहाँ तक परिवार-नियोजन का प्रश्न है यह वांछनीय हो सकता है । परन्तु जहाँ तक इसके उपायों का सम्बन्ध है, उस पर विचार करने की आवश्यकता है । शाश्वत धर्मों में एक धर्म है इन्द्रिय-निग्रह अर्थात् संयम । ऐसा देखा गया है कि परिवार-नियोजन के लिये कृत्रिम उपायों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से संयम में ह्रास हो रहा है। अतः संतान-निग्रह के ये उपाय शाश्वत धर्म इन्द्रिय-निग्रह के विरोध में आ रहे हैं। ये उपाय धर्म व्यवस्था के विपरीत हैं।

यद्यपि सन्तान-निग्रह सामयिक परिस्थितियों में धर्म हो सकता है, परन्तु उसके लिये कृत्रिम उपाय एक स्थायी धर्म के विरोधी हो जाने से अधर्म के रूप में हो जाएँगे।

अभी तो सन्तान-निग्रह एक आन्दोलन के रूप में ही चल रहा है। इसने अभी नियम का रूप नहीं लिया। यह स्वेच्छा से पालन करने के योग्य बताया जा रहा है। इस कारण इसको अभी तक एक अधर्म का विस्तार करने वाला आन्दोलन ही कहेंगे। यह संभव है कि ऐसा अवसर आ जाये, जब भारत की संसद यह नियम कर दे कि तीन से अधिक सन्तान उत्पन्न करना दण्डनीय है और जिनके घर में तीन सन्तानें उत्पन्न हो जायें वे उन कृत्रिम उपकरणों का प्रयोग करें, जिससे सन्तान न हो। तब यह कानून संसद में सर्व-सम्मति से स्वीकार होने पर भी अधर्म होगा।

इस प्रकार प्राचीन नीति शास्त्र के अनुसार धर्म के दो भाग किये गये हैं। स्थायी धर्म और अस्थायी धर्म सर्वत्र, सदैव और सब अवस्थाओं में पालन करने के लिये हैं। अस्थाई धर्म काल, आयु, देश और अवस्था के अनुसार निश्चय किये जाते हैं। इसमें बन्धन यह है कि ये धर्म स्थायी धर्मों-विरोध न करें।

वास्तव में राज्यों में धर्म-शास्त्री (law givers) भले ही वे सर्व-सम्मति से नियुक्त किये गये हों, स्थायी धर्मों का विरोध नहीं कर सकते। आज भी संसद, विधान सभा अथवा कोई भी व्यक्ति जो इन अस्थायी धर्मों (कानून) की व्यवस्था करने वाला हो, वह उक्त स्थायी धर्मों का विरोध नहीं कर सकता। यह एक अटल नियम है।

स्थायी धर्म भी दो प्रकार के हैं। उक्त दस धर्मों में धृतिः, दम, शौच, धीः, विद्या, ये पाँच, बहुत सीमा तक, व्यक्तिगत धर्म हैं। इनका मुख्य सम्बन्ध कर्ता के साथ ही है। यह नहीं कि इनके पालन करने का प्रभाव समाज पर होता ही न हो। इस पर भी ये मुख्यतः कर्ता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के साथ ही सम्बन्ध रखते हैं।

उदाहरण स्वरूप विपद् काल में धैर्य धारण, पालन-कर्ता के साथ सम्बन्ध रखता है, परन्तु यदि यह विपदा की अवस्था किसी राजा अथवा समाज के उच्चाधिकारी की हो तो उस अवस्था में धैर्य का न पालन करना कर्ता के अतिरिक्त मनुष्यों पर भी प्रभाव उत्पन्न करने वाला हो सकता है। इस पर भी साधारण स्थिति में धृति धर्म व्यक्ति के निज के लिये ही है। यह व्यक्तिगत (personal) धर्म है।

यों तो धर्म कहते ही उस व्यवहार को हैं जो मनुष्य-मनुष्य के भीतर चलता है, परन्तु ये पाँच तुलना में दूसरे पांच धर्मों से अधिक व्यक्तिगत हैं।

इसी प्रकार शौच है। शौच का अभिप्राय शरीर, मन एवं बुद्धि को पवित्र रखना है। यह पवित्रता रखना कर्ता के अपने लाभ के लिये ही है। इस पर भी यदि कोई मनुष्य किसी बस्ती में रहता हुआ स्थान-स्थान पर थूकता, पेशाब करता अथवा अन्य प्रकार से गन्दगी फैलाता है तो वह अपने से अतिरिक्त व्यक्तियों को भी हानि पहुँचाता है।

धी: के अर्थ हैं बुद्धि का विकास और प्रयोग करना। मनुष्य की अन्य प्राणियों से विशेषता बुद्धि के कारण ही है। अतः इसके विकास और प्रयोग को धर्म का लक्षण मान लिया है। इसका सम्बन्ध कर्ता के साथ विशेष होते हुए भी, विशेष परिस्थितियों में समाज के साथ भी हो सकता है।

यही बात विद्या की है। ज्ञान प्राप्त करना और इसका व्यवहार करना व्यक्ति के अपने करने की वस्तु है। यद्यपि विशेष परिस्थितियों में इसका प्रयोग और प्रभाव समाज पर भी होता है।

वास्तव में ये व्यक्तिगत धर्म ऐसे हैं जिनके पालन करने में मनुष्य को किसी दूसरे से सम्पर्क अथवा सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं होती। ये सब-के-सब मनुष्य परिस्थितियों के अनुसार एवं आवश्यकतानुसार स्वयं ही पालन कर सकता है। इसके विषय में कोई राज्य, संसद अथवा विधान सभा नियमोपनियम (कानून) नहीं बना सकती।

इसके विपरीत दूसरे पांच धर्म—क्षमा, अस्तेय, इन्द्रिय-निग्रह,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्य तथा अक्रोध ऐसे हैं जिनका पालन तो होता ही तब है जब कोई दूसरा व्यक्ति सामने उपस्थित हो। इसी कारण इनको सामाजिक (Social) धर्म कहते हैं।

कोई भी व्यक्ति क्षमा ता किसी दूसरे को ही करेगा। इसी प्रकार चोरी न करना—तब ही हो सकता है जब किसी दूसरे की कोई वस्तु सम्मुख रखी होगी। इन्द्रिय-निग्रह, सत्य-भाषण और क्रोध न करना, ये सब तब ही प्रयोग में लाये जा सकते हैं, जब कोई दूसरा व्यक्ति सामने उपस्थित हो। अतः ये सामाजिक (Social) धर्म हैं।

इन धर्मों के विषय में राज्य दण्ड-विधान बनाता है। इस दण्ड का विधान भी तो केवल इस निमित्त होता है कि इसके पालन न करने वाले को दण्ड दिया जाये। यह तो हम ऊपर बता चुके हैं कि इनके पालन का विरोध तथा इनके पालन करने में बाधा तथा विपरीत परिस्थितियाँ उत्पन्न करना तो होना ही नहीं चाहिये। परन्तु इनके पालन करने में विधि-विधान नहीं बनाये जा सकते। धर्म तो स्वयं पालन करने के लिये ही है। इस पर भी इसके पालन न करने वाले के लिये दण्ड का विधान होता है।

यह इस प्रकार है। पुलिस अथवा राज्य किसी अपराध की ओर ध्यान नहीं दे सकता, जब तक वह अपराध न किया जाये। चोरी होने पर ही चोर को पकड़कर उस पर मुकद्दमा चलाया जा सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि धर्म का पालन तो कर्ता को स्वयं स्वेच्छा से करना चाहिये। ज्यों ही किसी ने किसी धर्म के उल्लंघन का विचार भी मन में किया, वह धर्म का हनन करने वाला हो गया। उस विचार मात्र से ही अधर्माचरण हो गया, परन्तु राज्य इसको न तो प्रज्ञेय (Cognizable offence) मान सकता है, न ही इसको न्याय का विषय मानता है। वह न्याय का विषय तब बनता है, जब अपराध सम्पन्न हो जाता है।

वास्तव में कानून (दण्ड विधान) कर्ता को धार्मिक बनाने के हेतु नहीं बनाये जाते। यह तो अधर्माचरण से दूसरों को होने वाली हानि से बचाने के लिए हैं। कर्ता के मन में धर्म के उल्लंघन का विचार आते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही अधर्माचरण हो गया माना जाता है। अधर्म का फल तब ही उत्पन्न होना आरम्भ हो जाता है। हाँ, राज्य इसको विचाराधीन तब लाता है, जब धर्म का उल्लंघन होता है।

अधर्म जो अभी केवल चिन्तन का विषय है और जो अभी सम्पन्न नहीं हुआ, इसका फल कब और कैसे होता है, इस पुस्तक का विषय न होने से हम छोड़ रहे हैं। इस पर भी परमात्मा और आत्मा को मानने वाला इस पर विश्वास रखता है।

संक्षेप में धर्म की व्यवस्था यह है कि धर्म दो प्रकार के हैं, स्थायी और अस्थायी। दोनों में अन्तर यह है कि अस्थायी धर्म देश, काल, आयु व अवस्था के अनुसार बनाये एवं हटाये जा सकते हैं, परन्तु वे कभी किसी अवस्था में भी स्थायी धर्मों का विरोध नहीं कर सकते, न ही विरोध के अनुकूल परिस्थितियाँ निर्माण करने वाले हो सकते हैं।

स्थायी धर्म भी दो प्रकार के हैं। व्यक्तिगत धर्म, धृति, दम, शौच, धी: तथा विद्या। इनके विषय में राज्य दण्ड-विधान में किसी प्रकार का प्रबंध नहीं कर सकता। दूसरे स्थायी धर्म सामाजिक हैं। ये हैं क्षमा, अस्तेय, इन्द्रिय-निग्रह, सत्य तथा अक्रोध। इनके विषय में दण्ड-विधान बनाया जाता है। इसमें भी जब तक उल्लघंन चिन्तन का विषय रहता है राज्य तथा दण्ड-विधान कुछ अधिक सहायक नहीं होता। मुख्यत: दण्ड विधान तब ही कार्य करता है, जब धर्म का उल्लंघन हो जाता है। वास्तव में दण्ड-विधान अधर्माचरण से दूसरों को पहुँचने वाली हानि को रोकने के लिए है।

आजकल कुछ निरोधक (Preventive) कानून बनाये जाते हैं। उदाहरण के रूप में पुलिस ऐक्ट में यह प्रबंध है कि किसी व्यक्ति को संदेहात्मक स्थिति में घूमते देख पुलिस पकड़कर कारागृह (हवालात) में रख सकती है। यह भी समाज के भले लोगों की रक्षा के निमित्त ही है। इसमें न्याय की माँग रहती है कि पकड़े व्यक्ति को जाँच के उपरांत शीघ्रातिशीघ्र छोड़ने का प्रबन्ध हो अन्यथा उसकी देख-रेख के लिए उस पर जासूस लगाए जाएँ। कुछ भी हो व्यक्ति दण्डनीय तब ही होता है जब वह अधर्माचरण कर लेता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सप्तम अध्याय

अर्थ-व्यवस्था

अर्थ-व्यवस्था नीति-शास्त्र की दूसरी बात है। आज के कुछ दार्शनिकों का यह विचार है कि अर्थ की दुर्व्यवस्था ही अधर्माचरण में कारण होती है। इस कारण वे अर्थ-व्यवस्था को सुधारने का कार्य मुख्य समझते हैं और धर्म (कानून) इत्यादि को अर्थ के पीछे चलने वाला मानते हैं। उनका विचार तो यह है कि मानव का पूर्ण व्यवहार अर्थ और काम के पीछे-पीछे चलता है। इस कारण अर्थ ही मुख्य बात है। इसकी व्यवस्था होनी चाहिए।

इस बात का अभिप्राय यह है कि अर्थ-व्यवस्था ठीक करने के लिए यदि कहीं चोरी अथवा असत्य का पालन भी करना पड़े तो वह क्षम्य है। यदि इस अर्थ-व्यवस्था के हेतु असंयम तथा क्रोध का आश्रय लेना पड़े तो हानि नहीं। मनुष्य के कर्मों पर काम छाया हुआ है और काम की पूर्ति का साधन है अर्थ। अतएव अर्थ ही सब पापों की जड़ है।

प्रत्यक्ष में तो यह कथन अति सुन्दर और युक्ति-युक्त प्रतीत होता है। वास्तव में ऐसा है नहीं। धर्म अर्थ और काम से एक पृथक् बात है। यह न केवल पृथक् है अपितु अर्थ और काम पर शासन करने के मित्त है।

अर्थ-व्यवस्था कुछ भी हो, वह धर्मानुकूल होनी चाहिए। इसके य में आगे चलकर अधिक व्याख्या सहित लिखेंगे। यहाँ तो अर्थ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के विषय में लिखना चाहते हैं ।

हमने ऊपर लिखा है कि मनुष्य की कुछ आवश्यकताएँ हैं। उन आवश्यकताओं की पूर्ति में लिए परिश्रम किया जाता है। यह परिश्रम ही अर्थ है। यह भी वर्णन किया है कि अर्थ से काम अर्थात् आवश्यकताएँ पूर्ण होती हैं। इनकी पूर्ति के लिए परिश्रम आवश्यक है। अतः परिश्रम और अर्थ पर्यायवाचक हैं।

उदाहरण के रूप में अर्थ मे अभिप्राय धन का लिया जाता है। यह ठीक है। धन परिश्रम के विनिमय (Exchange) के लिए एक मापदण्ड और संकेत (token) मात्र है।

एक मजदूर भूमि में नींव खोदता है। उसकी खुदाई से, मकान बन जाने पर मकान की उपयोगिता में सहयोग मिला है। मकान की उपयोगिता तो वह भोग नहीं सकता और कदाचित् भोगना चाहता भी नहीं। इस पर भी उसने परिश्रम किया है। उसके परिश्रम का प्रतिकार चाँदी के टुकड़ों में अथवा अन्य संकेतों में किया जाता है। ये चाँदी के टुकड़े अथवा सांकेतिक पदार्थ पुनः परिश्रम में बदले जा सकते हैं। अभिप्राय यह है कि नींव खोदने वाला चाहे तो उन चाँदी के टुकड़ों अथवा रुपयों से वस्त्रादि खरीदकर कपड़ा बुनने वाले तथा कपास पैदा करने वाले के परिश्रम को खरीद सकता है अथवा अपनी कोई अन्य आवश्यकता की वस्तु मोल ले सकता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि अर्थ (रुपया) परिश्रम ही है।

अर्थ के कई रूप हैं। प्रथम दो रूप हैं—चल और अचल। चल अर्थ का वह रूप है जो सरलता से परिश्रम में परिवर्तित किया जा सके। उदाहरण के रूप में सरकारी सिक्का (Coin) है। सरकारी होने से यह बाजार में आवश्यक वस्तु के क्रय की सामर्थ्य रखता है। कोई उसको लेने से इनकार नहीं कर सकता।

अचल अर्थ उस वस्तु अथवा पदार्थ को कहते हैं जो सुगमता से किसी अन्य का परिश्रम क्रय करने में विनिमय न किया जा सके। उदाहरणस्वरूप किसी कम्पनी के हिस्से हैं। इनके बदले में कभी कोई वस्तु खरीदनी हो तो पहले उनको चालू अर्थ (ready cash) के रूप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में लाना पड़ेगा। इसके लिए उन हिस्सों का ग्राहक ढूंढ़ना पड़ेगा।

यद्यपि यह अचल अर्थ का रूप भी परिश्रम का प्रतीक ही है, परन्तु इस रूप में होने से उतनी सरलता से विनिमय में दिया नहीं जा सकता, जितनी सरलता से नकद रुपया।

अर्थ का एक और रूप भी है। इसको प्राकृतिक पदार्थ (natural resoures) कहते हैं। उदाहरण के रूप में वायु, जल. भूमि, खनिज पदार्थ इत्यादि। इन सबको अर्थ इसलिए कहते हैं क्योंकि इनके बिना मनुष्य अपने परिश्रम का फल प्राप्त नहीं कर सकता। ये भी मानव-परिश्रम में सम्मिलित होकर मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति में एक भाग वन जाते हैं।

भूमि पर कृषि की जाती है। इससे अन्न उत्पन्न होता है। यह अन्न जहाँ परिश्रम का फल है, वहाँ भूमि भी इसमें कारण है। अतः अन्न में भूमि की उत्पादन शक्ति भी सम्मिलित हैं। यह ठीक है कि बिना परिश्रम के भूमि में उत्पादन सम्भव नहीं। साथ ही यह भी ठीक है कि भूमि के बिना परिश्रम भी फल नहीं दे सकता। अर्थात् परिश्रम के साथ भूमि भी अर्थ का रूप है।

इस प्रकार अर्थ के तीन रूप हो गए। १—चल, २—अचल एवं ३—प्राकृतिक पदार्थ। प्राकृतिक पदार्थ भी अर्थ का अचल रूप ही हैं। अर्थात् भूमि तथा पृथ्वी पर और पृथ्वी के गर्भ में उपस्थित पदार्थ भी चल अर्थ (currency) के रूप में लाये जा सकते हैं। इस पर भी भूमि कम्पनी के हिस्सों इत्यादि से कुछ विशेषता रखती है।

भूमि की सामर्थ्य अर्थ के रूप में प्रयोग होने की बनी रहती है। एक वार परिश्रम करने से अन्न उत्पन्न होता है। पुनः ढंग से और समय पर परिश्रम करने से पुनः अन्न उत्पन्न होता है और ऐसा सहस्र वार किया जा सकता है; परन्तु एक कम्पनी के हिस्से स्वयमेव अथवा परिश्रम के साथ अधिक अर्थ उत्पन्न नहीं कर सकते। वे केवल अर्थ के चल रूप में परिवर्तित हो सकते हैं। उस चल रूप में वे दूसरे का परिश्रम मोल लेने में प्रयुक्त हो सकते हैं।

स्वयं अर्थ उत्पादन की सामर्थ्य रखना और दूसरे का परिश्रम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मोल लेने की सामर्थ्य रखना, दोनों भिन्न-भिन्न बातें हैं। अर्थ स्वयं परिश्रम है और चल अर्थ (currency) के रूप में यह परिश्रम क्रय करने की सामर्थ्य रखता है। अर्थ अचल रूप में परिश्रम क्रय नहीं कर सकता। परन्तु भूमि वास्तव में अर्थ-का रूप ही है और यह अचल अर्थ की भाँति फल देती है।

कुछ अन्य प्राकृतिक पदार्थ हैं जो परिश्रम के सहयोग से फल देते हैं। अभिप्राय यह है कि परिश्रम के साथ अर्थ का चल रूप उत्पन्न करते हैं। परन्तु भूमि की भाँति ये बार-बार प्रयुक्त नहीं हो सकते। उदाहरण के रूप में पत्थर का कोयला है। मजदूर भूमि से कोयला निकालता है। यह बाज़ार में आता है और बिकता है। इस मूल्य में कोयले का अपना मूल्य है और खान से निकाल कर बाज़ार में रखने के परिश्रम का भी मूल्य सम्मिलित है। यह उचित मूल्य पर बिकता है। और फिर प्रयोग में लाया जाता है। जल जाने के उपरांत इसका मूल्य समाप्त हो जाता है।

परिश्रम के दो रूप हैं। (१) चल और (२) अचल। परिश्रम सहयोगी प्राकृतिक पदार्थ, भी दो प्रकार के हैं। (१) भूमि की भांति बार-बार प्रयोग में आने वाले और (२) कोयले की भांति प्रयुक्त होने पर व्यर्थ हो जाने वाले।

मानव, विश्राम करने पर और भोजन लेने के उपरांत बार-बार परिश्रम कर सकता है। वही बात भूमि की है। इसको आराम और खाद देने पर यह पुनः उत्पादन करने में सामर्थ्यवान हो जाती है।

जब अर्थ अचल रूप में बदल दिया जाता है तो यह सम्पत्ति कहाता है। उदाहरण के रूप में एक क्लर्क है। वह दो सौ रुपये वेतन पाता है। यह दो सौ रुपया उसके परिश्रम का फल है। वह इसमें से एक सौ रुपया व्यय कर शेष एक सौ रुपयों से सरकारी बोण्ड खरीद लेता है। उसके परिश्रम का वह रूप सम्पत्ति कहाता है। कुछ वर्षों में उसके ये बोण्ड दस सहस्र रुपये के हो जाते हैं। वह उनको चल रूप में बदल कर, एक मकान मोल ले लेता है। मकान भी अर्थ का अचल रूप है। यह सम्पत्ति कहाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह क्लर्क उस मकान का स्वयं प्रयोग नहीं करता। वह इसे प्रयोग करने के लिए किसी अन्य आदमी को दे देता है और उससे भाड़ा लेता है।

सरकारी बौण्डों पर सरकार उसको ब्याज देती थी और अब उसको मकान का भाड़ा मिलने लगता है। यह ब्याज अथवा भाड़ा प्राप्त करने के लिए उसको और अधिक परिश्रम करना पड़ता है। इस पर भी ब्याज अथवा भाड़े से चल अर्थ प्राप्त होता है, जिससे वह किसी दूसरे के परिश्रम को भी मोल ले सकता है। इस प्रकार के अर्थ को अनुपार्जित आय (unearned income) कहते हैं।

अनुपार्जित आय की मात्रा उस वस्तु की उपयोगिता पर निर्भर करती है, जिससे वह प्राप्त होती है। सरकार को स्वयं धन की आवश्यकता होती है। उसे दूसरों के परिश्रम क्रय करने की आवश्यकता रहती है। इस कारण सरकार बौण्ड जारी करती है और उन पर ब्याज देती है। इस प्रकार मकान भाड़े पर लेने वाले को मकान की आवश्यकता रहती है और वह भाड़ा देता है। जब सरकार की आवश्यकता कम हो जाती है तो बौण्डों पर ब्याज कम हो जाता है। इसी प्रकार जब मकान की संख्या अधिक हो और जरूरतमन्द कम हों तो भाड़ा कम हो जाता है।

जैसे सरकार ऋण लेकर दूसरों का परिश्रम मोल ले लेती है और अपना काम चलाती है, वैसे ही उद्योगपति अथवा व्यापारी भी ऋण लेकर दूसरों का शारीरिक, बौद्धिक अथवा तकनीकी परिश्रम मोल लेते हैं और अपना काम चलाते हैं। सरकार का काम और उद्योगपति अथवा व्यापार का काम एक ही श्रेणी का कहा जा सकता है।

इसमें विचारणीय बात यह है कि बौण्डों पर ब्याज, मकान का भाड़ा अथवा उद्योगपति की आय कितनी हो? ज़रूरतमन्द ऋण लेता है और अपनी ज़रूरत पूरी करने का दाम देता है। इस प्रकार की अनुपार्जित आय करने में बौद्धिक परिश्रम तो करना ही पड़ता है। इस परिश्रम की बात को समझने के लिए मकान का उदाहरण लिया जा सकता है। पहले तो धन एकत्रित करने में त्याग और तपस्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करनी पड़ती है। जो क्लर्क एक सौ रुपया शराब और अन्य भोगों में व्यय नहीं करता और दूसरा जो सब-कुछ व्यय कर अपने पास शेष कुछ नहीं रखता, दोनों में अन्तर है। जो धन संचय करता है वह निःसन्देह उससे अधिक परिश्रम करता है, जिसने सब-कुछ व्यय कर दिया है। इसके अतिरिक्त इस धन-संचय से मकान बनाने में भी चातुर्य की आवश्यकता होती है। जो मकान बनवाना नहीं जानता, वह धन अधिक व्यय करेगा और मकान घटिया बनवा सकेगा। निःसन्देह बढ़िया मकान का भाड़ा अधिक होगा और भद्दा तथा कम उपयोगी मकान का भाड़ा कम होगा, भले ही उस पर रुपया अधिक व्यय हुआ हो।

यह सब लिखने का प्रयोजन यह बताना है कि अर्थ परिश्रम का रूप है। यह दूसरों के परिश्रम मोल लेने के काम में आता है। इसकी आवश्यकता इस कारण पड़ती है कि कामनाओं की पूर्ति अपने ही परिश्रम से नहीं हो सकती। अपना परिश्रम देकर दूसरे का परिश्रम लेने की व्यवस्था बन गई है। इसी व्यवस्था रूप अचल अर्थ है और सम्पत्ति है। आवश्यकताओं के विनियम में मूल्यों में न्यूनाधिक्य होता रहता है। इसमें अनौचित्य तो है नहीं। जैसे कई बोरे अनाज देकर एक छोटा-सा रेडियो ही मिल सकता है, उसी प्रकार बढ़िया मकान के लिए अधिक भाड़ा देना पड़ता है और घटिया मकान के लिए कम भाड़े की आवश्यकता होती है।

इस अर्थ-व्यवस्था में अर्थात् एक के परिश्रम को दूसरे के परिश्रम में बदलने के लिए, परस्पर सम्पर्क बनाना पड़ता है और यह हम लिख चुके हैं कि जब दो अथवा अधिक व्यक्तियों का एक-दूसरे से वास्ता पड़ता है, तब उनके सम्बन्ध का निश्चय धर्म से किया जाता है।

उदाहरण के रूप में एक उद्योगपति को अनेक प्रकार के श्रमिकों की आवश्यकता पड़ती है। शारीरिक परिश्रम करने वालों की, बौद्धिक परिश्रम करने वालों की, कुशल कारीगरों की, सुविज्ञ वैज्ञानिकों की, योग्य प्रबंधकों की। अतः उद्योगपति का सम्पर्क कई प्रकार के लोगों से पड़ता है। इन सब के साथ सम्बन्ध का निश्चय धर्म अर्थात् कानून के आधार पर होगा। कानून निश्चय करेगा कि उद्योगपति किसको

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या दे और किस रूप में दे।

इस प्रकार अर्थ-व्यवस्था पर धर्म का नियंत्रण माना है। भारतीय परम्परा है धर्म, अर्थ, काम और इन तीनों से पृथक् है मोक्ष। धर्म, अर्थ और काम में भी धर्म अन्य दोनों अर्थात् अर्थ और काम से ऊपर है। यह दोनों पर नियंत्रण रखने के लिए है। अर्थ और काम की उपलब्धि में दूसरों से सम्बन्ध बनता है। अतः दोनों धर्म के नियंत्रण में होते हैं।

धर्म क्या है, और यह किस प्रकार कार्य करता है, धर्म के अध्याय में हम लिख चुके हैं।

यह कहा जाता है कि काल व्यतीत होने से और अनेकानेक प्रकार के आविष्कारों के हो जाने से अवस्था वह नहीं रही, जो प्राचीन काल में थी। इस कारण वह धर्म अब उपयुक्त नहीं रहा। हमारा इसमें मत है कि मानव कार्य के सिद्धान्त नहीं बदले। परिश्रम से धन और धन से कामनाओं की पूर्ति में तो परिवर्तन हुआ नहीं। साथ ही परिश्रम से धन और धन से दूसरे के परिश्रम का विनिमय भी चलता है। इस विनिमय में मनुष्य-मनुष्य का सम्पर्क बनता ही है और उनके सम्बन्धों पर नियंत्रण करने के लिए धर्म अर्थात् कानून की आवश्यकता बनी ही है। तो फिर बदला क्या है? केवल यह कि कानून बनाने में अनधिकारियों का अधिकार मान लिया गया है। इस अधिकार को हटा दो, तो स्थिति वही उपस्थित हो जायेगी जो मानव-इतिहास में किसी भी समय थी। वास्तव में कुछ नहीं बदला। बाहरी रूप अवश्य बदला है और तनिक सावधानी से कानून बनाये जायें तो रूप के भ्रम में तत्त्व को पहचाना जा सकता है।

आज भी मनुष्य में राग और द्वेष वैसे ही उपस्थित हैं, जैसे मानव-इतिहास में किसी भी समय थे। अतः उनसे उत्पन्न विकार भी वैसे ही पैदा हो रहे हैं। इन विकारों को रोकने के उपाय भी लगभग वैसे ही हैं। जैसे विकारों के रूप में बाहरी अन्तर आया है, वैसे ही उनके रोकने के उपायों में केवल बाहरी अन्तर की ही आवश्यकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Central Library
167920
Gurukula Kangri (Deemed to be University) Haridwar

अष्टम अध्याय

राज्य

यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि मनुष्य यदि धर्म का पालन न करे तो कौन उससे धर्म का पालन कराये ? इस विषय में महाभारत ग्रंथ में एक अति रोचक कथा लिखी मिलती है।

यह आदि सतयुग की बात है। जब नीतिशास्त्र बना दिया गया तो मनुष्यों ने उसके संचालन करने के देतु किसी प्रमुख व्यक्ति की आवश्यकता अनुभव की।

भगवान विष्णु ने अपने एक मानस पुत्र को इस काम क लिए नियुक्त किया। मानस पुत्र का अर्थ शिष्य समझना चाहिए। उसका नाम विरजा था। उसने मनुष्यों में दुर्व्यवस्था देखी तो उसने नीति-शास्त्र के संचालन का काम स्वीकार नहीं किया। वह संन्यास लेकर वन को चला गया।

विरजा का एक लड़का कीर्तिमान् था। उसको राजा बनने के लिए कहा गया। वह भी नहीं माना। उसने भी मोक्ष-मार्ग का अनु-सरण किया। इस पर कीर्तिमान् के पुत्र कर्दम से कहा गया। उसने भी अस्वीकार कर दिया। तदनन्तर कर्दम के पुत्र अनंग ने इस काम को सँभालने में रुचि प्रकट की। अनंग ने व्यवस्था स्थापित की और राज्य-कार्य चलने लगा। अनंग के उपरान्त उसका पुत्र अतिबल राजा बना, परन्तु शीघ्र ही वह विषय-वासना में लिप्त हो गया।

इस वासनाभिभूत अतिबल को मृत्यु के पुत्र वेन ने परास्त कर राज्य अपने हाथ में ले लिया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

161924

वेन भी राग के वशीभूत हो प्रजा पर अत्याचार करने लगा। तब वेदवादी ऋषियों ने इसको मार डाला और वेन के पुत्रों में से किसी को राजा बनाने पर विचार-विमर्श होने लगा। वेन के दो पुत्र थे। एक नाटे कद, काले रँग और लाल आँखों वाला था। ऋषियों ने उसको राज्य देना स्वीकार नहीं किया। दूसरा पुत्र पृथु था। वह विद्वान, नीति-कुशल और वीर था। अतः उसको राज्य सौंपा गया। राज्य देने से पूर्व उससे वचन लिया गया।

तमूचुस्तत्र देवास्ते ते चैव परमर्षयः।
नियतो यत्र धर्मो वै तमशङ्क समाचर ॥[1]

वहाँ एकत्रित देवताओं और ऋषियों ने वेन पुत्र पृथु से कहा, "जिस कार्य में धर्म की सिद्धि हो, वह करना। प्रिय-अप्रिय का विचार छोड़कर काम, क्रोध, लोभ और मोह को दूर हटाकर सब प्राणियों के प्रति समभाव रखना।

धर्म से विचलित मनुष्यों को सनातन (स्थायी) धर्म पर दृष्टि रखकर अपने बाहुबल से परास्त कर दण्ड देना।

ऋषियों ने यह भी कहा कि यह वचन दो कि तुम मन, वाणी और क्रिया से वेद-वाणी में लिखे धर्म का पालन करोगे। ब्राह्मणों को पीड़ित नहीं करोगे और संसार को धर्म से पतित होने से बचाओगे।

वैन्यस्ततस्तानुवाच देवानृषिपुरोगमान्।
ब्राह्मणा मे महाभागा नमस्याः पुरुषर्षभाः ॥

तब वेन कुमार पृथु ने उपस्थित देवताओं और ऋषियों के सम्मुख यह वचन दिया—मैं ब्राह्मणों, (विद्वानों) के कथनानुसार व्यवहार रखूंगा।

यह कथा सत्य हो अथवा असत्य, परन्तु यह वस्तुस्थिति का सत्य दर्शन कराती है। राजा राज्यमद में मति-भ्रष्ट हो जाते हैं और विषय-वासनाओं में लिप्त हो जाते हैं। तब अन्यायाचरण करने लगते हैं। उन पर अंकुश विद्वान और भले पुरुषों का होता है। वे राजाओं को पदच्युत् कर सकें और नवीन राजा नियुक्त कर सकें तो वे राजा को

१. म० भा०, शां०, ५६-१०३; २. वही ५६-१०६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वचनबद्ध कर राज्य सुखकारक बना सकते हैं।

इस कथा से दो बातों का दर्शन होता है। एक यह कि किसी देश, समाज अथवा समुदाय में विद्वान् लोगों की राजा से भी ऊपर प्रतिष्ठा होनी चाहिए। दूसरी यह कि प्रजा को अधर्माचरण से बचाने तथा अधर्मियों से उनकी रक्षा करने के लिये राजा नियुक्त होता है।

नीति-शास्त्र के संचालन के लिये राजा की आवश्यकता होती है। राजा विद्वानों द्वारा नियुक्त होना चाहिये और उसके पास सदा विद्वानों का परामर्शदाता मंत्री-मंडल होना चाहिये।

यह है भारतीय कल्पना राज्य की स्थापना की। इस कल्पना का आधार यह है कि आदि मानव पीछे आने वाले मानवों से अधिक श्रेष्ठ, धर्म-परायण और बुद्धिशील था। पीछे राग, द्वेष और मोह के वशीभूत हो उसमें अवगुण आये तो फिर नीति-शास्त्र की कल्पना हुई और उस नीति-शास्त्र के संचालन के लिए राजा और राज्य बनाये गए।

राज्य-स्थापना की भारतीय कल्पना योरोपीय विद्वानों की कल्पना से भिन्न है। योरोपीय विद्वान समझते हैं कि आदि में पशु और मनुष्य समान थे। तदुपरान्त मनुष्य ने धीरे-धीरे उन्नति की। इस उन्नति में बलशाली दूसरों पर अपना अधिकार जमा बैठे।

सर्वप्रथम परिवार का पुरखा बना। फिर परिवारों के समूह का पुरखा अर्थात् नेता बना और फिर जब देश की भावना जागृत हुई तो बलवान और चतुर राजा बन बैठा।

देश की भावना तब बनी, जब भूमि पर कृषि इत्यादि से उपज की जाने लगी और भूमि पर उत्पन्न पदार्थों की उपयोगिता का ज्ञान हुआ।

समय पाकर राजाओं पर नियंत्रण का प्रबंध किया जाने लगा। पहले उन लोगों ने राजा को अपनी इच्छा के अधीन बनाया जो राजा की समर में सहायता करते थे। प्रायः वे परिवार जिनके सदस्य अधिक बलशाली और युद्ध करने में अधिक कुशल होते थे, राजा पर अपना प्रभाव रखते थे।

जब राज्य बड़े-बड़े होने लगे, युद्धों में शस्त्रास्त्रों की आवश्यकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बढ़ गयी एवं बड़ी-बड़ी सेनाएँ रखनी आवश्यक हो गयीं, तब राजा को धन की आवश्यकता होने लगी। एक समय तो राजा शत्रुओं का धन लूटकर अपनी आवश्यकताएँ पूर्ण करता था, परन्तु यह लूट न तो सुगम थी और न ही पर्याप्त सिद्ध होती थी। अतः अपनी प्रजा पर कर लगाना अनिवार्य हो गया। इस प्रकार राजा न केवल लड़ाकू सैनिकों के, वरन् धनोपार्जन करने वालों के अधीन भी हो गया।

इसके अनन्तर प्रगति में एक अन्य काल आया। अब जन साधारण को यह समझ आया कि सेना के निर्माण करने वाले तो वे ही हैं। वे यह भी समझने लगे कि व्यापारियों और उद्योगपतियों को धन भी तो वे ही देते हैं। अतः वे भी राजा पर प्रभाव डालने लगे और धीरे-धीरे जनता का राज्य (प्रजातंत्रात्मक) स्थापित हो गया।

अब एक और विचार प्रस्तुत किया गया है। वह यह कि जनता में भी दो वर्ग हैं। एक वह जो परिश्रम करता है। दूसरा वह जो स्वयं परिश्रम नहीं करता। वह दूसरे के परिश्रम पर आनन्द-भोग करता है। अतः राज्य पर, परिश्रम करने वाले वर्ग का अधिकार होना चाहिए। यह अकिंचनों की तानाशाही (Dictatorship of the proletariate) कहाती है।

इस सब प्रक्रिया में आधार-भूत विचार है, मनुष्य का आरम्भ में पशु होना। इसके विपरीत भारतीय विचार आरम्भ होता है परमात्मा के अस्तित्व से। उसने सृष्टि निर्माण की। उसने ही पृथ्वी पर सब प्रकार के प्राणी उत्पन्न किये। वह सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् है। इस कारण उससे निर्मित सृष्टि अपने-अपने स्थान पर पूर्ण थी।

प्राणी सृष्टि भिन्न-भिन्न प्रकार की थी। मनुष्य सब प्राणियों में श्रेष्ठ था। मनुष्य भी सब एक समान नहीं थे। योग्य-अयोग्य, सशक्त-अशक्त, सब प्रकार के थे।

प्राणियों में भी भिन्नता का कारण बताया है। पूर्व कल्प में सब प्राणी ब्रह्म रात्रि में सोये तो उनके कर्म फल उनके साथ जुड़े रहे। जब कल्प के आरम्भ में नई सृष्टि निर्माण हुई तो अनेकानेक प्रकार के प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार बन गये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस पर भी मनुष्य में आरम्भ-काल में राग और द्वेष नहीं था। यही कारण था कि मनुष्यों का व्यवहार प्रायः धर्म-युक्त था।

राग-द्वेष की उत्पत्ति रजोगुण से होती है। रजोगुण के विषय में भगवद्गीता में लिखा है—

पृथक्त्वे न तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥[1]

अर्थात्—जिस ज्ञान से मनुष्य सम्पूर्ण भूतों में भिन्न-भिन्न प्रकार के भावों को न्यारा-न्यारा करके देखता अर्थात् जानता है, उस ज्ञान को राजसी ज्ञान कहा है।

इसका अभिप्राम यह है कि जिस ज्ञान अर्थात् बुद्धि से मनुष्य अपने तथा दूसरों में भेद-भाव देखता है वह राजसी ज्ञान है और उस ज्ञान को रखने वाला राजसी प्रवृत्ति वाला मानना चाहिये। इस प्रकार के भावों से राग अर्थात् मोह उत्पन्न होता है।

भारतीय विचार यह है कि आरम्भ में मनुष्यों में यह भावना नहीं थी और सब परस्पर धर्मयुक्त व्यवहार रखते थे। फिर रजोगुण की उत्पत्ति हुई। इससे राग-द्वेष उत्पन्न हुआ और फिर अव्यवस्था उत्पन्न हुई। तदुपरांत राजा और राज्य की कल्पना बनी।

यदि भारतीय कल्पना ठीक है तो यह मानना पड़ेगा कि मनुष्य की मानसिक शक्तियों में ह्रास उत्पन्न हुआ होगा। मानसिक शक्तियों का अर्थ उन स्वभाविक कर्मों से है जो मन की प्रेरणा से किये जाते हैं।

आरम्भ में मन सात्विक था। फिर राजसी हुआ और राजसी से तामसी हुआ। सात्विक के विषय में लिखा है—

सर्वभुतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।[2]

जो सब प्राणियों में एक ही अविनाशी परमात्मा की उपस्थिति मान सब को विभाग रहित मानता है, वह पुरुष सात्विक है इस भाव में मेरे और तेरे की भावना नहीं होती। आदि सृष्टि, अविनाशी, सार्वव्यापक परमात्मा से बनाई गई थी और उस समय मानवों को

१. भ० गी०, १८-२१; २. वही, १८-२०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमात्मा का सत्य ज्ञान मिला था। निःसन्देह तब का मानव सात्त्विक प्रवृत्ति का होना चाहिए था। परन्तु पीछे जब राजसी प्रवृत्ति उत्पन्न हुई तो उसके कारण मेरी और तेरी की भावना उत्पन्न हो गई और ह्रास उत्पन्न हुआ।

योरोपीय समाज-शास्त्रियों का यह कहना है कि मनुष्य में स्वयमेव धीरे-धीरे एक-दूसरे को देख-देखकर उन्नति हुई है। इसको वे The growth of self कहते हैं।

उनका कहना है कि यदि मनुष्य को, बचपन से, समाज से बाहर बिना किसी बड़े मनुष्य के सम्पर्क में लाये रखा जाये तो वह सर्वथा पशु ही रह जायेगा। अकबर के बीस बच्चों पर किये परीक्षण का उदाहरण दिया जाता हैं। इन भाग्यहीन बच्चों के उदाहरण से यह सिद्ध करने का यत्न किया जाता है कि मनुष्य में सभ्यता धीरे-धीरे सहस्रों पीढ़ियों के प्राप्त अनुभव का परिणाम है।

एक अन्य केस्पर होजर (kaspar Hauser) का उदाहरण दिया जाता है। इस भाग्यहीन वालक को राजनीतिक कारणों से सब लोगों से पृथक् रखा गया था। सत्रह वर्ष तक वह एक तहखाने में बन्द रहा और सन् १८२८ में अपनी कैद से निकल न्यूरम्बर्ग में जा पहुँचा। तब वह चलना तक नहीं जानता था। उसका मानसिक विकास एक शिशु के समान था और केवल अर्थहीन है-हू के शब्द ही वह उच्चारण कर सकता था।

इसके अतिरिक्त भी कुछ एक उदाहरण हैं। इस पर भी ये उदाहरण समाज के स्वयमेव उन्नति करने को सिद्ध नहीं करते। ये केवल यह सिद्ध करते हैं कि मनुष्य बिना किसी ज्ञान प्राप्त किये कुछ भी करने के योग्य नहीं हुआ। प्रथम मानव को भी किसी ने ज्ञान दिया होगा जिससे वह कुछ भी कर सका होगा। ये सब उदाहरण आदि काल में मानव को परमात्मा से मिले ज्ञान का संकेत करते हैं।

कैस्पर होज़र के मस्तिष्क को उसके मर जाने के उपरांत निकाल कर देखा गया और उसका मस्तिष्क एक पुरातन मानव के मस्तिष्क के समान पाया गया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इससे यह सिद्ध होता है कि यह कहना कि आदम मनुष्य ने लाखों वर्ष के विकास से वर्तमान मस्तिष्क प्राप्त किया है, गलत है। यदि एक उन्नत मस्तिष्क से एक ही जन्म में मस्तिष्क पुरातन मस्तिष्क बन सकता है तो फिर एक ही जन्म में वह अविकसित से विकसित भी हो सकता है। यही प्रथम मनुष्य के ईश्वरी ज्ञान ने किया था इसके लिये लाखों वर्षों के विकास की आवश्वकता नहीं थी।

यह उदाहरण इस बात की पुष्टि नहीं करता कि ज्ञान प्राप्त करने के लिऐ समाज ही साधन है। समाज ने यदि जन्म-जन्मान्तर में किसी प्रकार की भी उन्नति की होती तो अकबर द्वारा बन्द किये लड़कों में कुछ तो बाप-दादाओं से प्राप्त ज्ञान का अंश होता। कुछ भी नहीं था। वे और कैस्पर तो पशु समान ही थे।

इससे केवल यह सिद्ध होता है कि प्रारम्भिक काल में परमात्मा ने मनुष्य को ज्ञान दिया था और वह ही मनुष्य समाज में पीढ़ी-दर-पीढ़ी चला आता है।

यह सिद्ध किया जा सकता है कि काल व्यतीत होने के साथ मनुष्य ईश्वर से मिले ज्ञान को भूलता चला जाता है। उसे बार-बार स्मरण करने की आवश्यकता पड़ती है।

ज्ञान के अतिरिक्त मनुष्य की शारीरिक और मानसिक शक्तियों में भी ह्रास हो रहा दिखाई देता है। यह ज्ञान-विज्ञान में ह्रास से पृथक् है। यद्यपि मानसिक ह्रास का प्रभाव ज्ञान-विज्ञान के ह्रास पर भी हुआ है। शरीर, मन और बुद्धि में हो रहे ह्रास को रोकना पृथक् बात है। इसके लिये क्या करना होगा, इस पुस्तक का विषय नहीं; परन्तु जहाँ तक ज्ञान-विज्ञान में ह्रास की बात है, यह रोका जा सकता है और इसकी गति को उन्नति की दिशा दी जा सकती है। यह ईश्वरीय ज्ञान के दुहराने से हो सकता है।

भारतीय परम्परा यह है कि आदि काल के मनुष्य का शरीर वैसा ही था जैसा आज है। उस ससय भी वह विकास की योग्यता रखता था, जैसी आज रखता है। यह विकास अथवा ह्रास कभी किसी दिशा में होता है और कभी किसी दिशा में। प्राचीन भारत में इसका विकास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्यात्म की दिशा में हुआ था और आज इसका विकास तकनीकी दिशा में हुआ है। भविष्य में यह किसी अन्य दिशा में भी हो सकता है। इस विकास-ह्रास को उन्नति अथवा अवनति नहीं कहते। इसको तो मस्तिष्क का एक दिशा में काम करना और दूसरी दिशा से काम छोड़ना कहा जा सकता है।

अतः भारतीय कल्पना सत्य है कि राज्य में व्यवस्था स्थापित करने के लिये राजा को बलशाली तो होना ही चाहिये, परन्तु उसको राजा, प्रजा तथा विद्वानों ने बनाया था। कोई बलशाली स्वयमेव राजा नहीं बना।

कुछ भूतल पर काल्पनिक स्वर्ग लाने की योजनाएँ बनाने वाले, राज्य को उत्पीड़न का यन्त्र मान इसे हटा देना चाहते हैं। राजा को हटा देना तो ठीक है, परन्तु इससे पूर्व समाज में से रजोगुण तथा तमोगुणों का अभाव करना आवश्यक है। इसके हट जाने पर राजा और राज्य की आवश्यकता नहीं रह जायेगी।

रजोगुण को कब निःशेष किया जा सकेगा? यह तब ही सम्भव है जब सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् परमात्मा के अस्तित्व पर विश्वास हो सकेगा।

इस अध्याय में तो हम यह बताना चाहते हैं कि समाज में व्यवस्था स्थापित करने के लिए राज्य और राजा की आवश्यकता है। यह राजा राज्य परिवार में जन्म के कारण हो, कोई धनी-मानी व्यक्ति हो, कोई वीर सेनानायक हो, अथवा प्रजा द्वारा नियुक्त हो, एक पृथक् बात है। हो वही, जो धर्म-व्यवस्था रखने में योग्य हो और विद्वानों की सम्मति से कार्य करने वाला हो। अन्यथा वह पदच्युत कर दिया जाये।

यह बात भी है कि राज्य और राजा तब तक ही आवश्यक होते हैं जब तक मानव में रजोगुण और तमोगुण उपस्थित हैं। तमोगुण के लक्षण भी जान लेते लाभप्रद होंगे।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिनकाय सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तानसमुदाहृतम् ॥[1]

इन श्लोकों में तामसी ज्ञान और तामसी कर्म की विवेचना की गयी है। लिखा है, जिस ज्ञान से केवल शरीर की आवश्यकताओं का पता चले और उसी में ही आसक्त रहा जा सके, तथा जो युक्ति-रहित, बेमतलब और तुच्छ हो, वह ज्ञान तामसी है।

और जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा तथा सामर्थ्य का विचार किये बिना और केवल अज्ञान के वश आरम्भ किया जाय, वह कर्म तामसी कहलाता है।

स्वार्थयुक्त, मानवता-विहीन, उद्देश्य तथा तत्त्वार्थ से रहित बुद्धि तामसी कहाती है। जब तक राजसी और तामसी गुण मनुष्य समाज में रहेंगे, तब तक राज्य और राजा की आवश्यकता बनी रहेगी।

---

१. भ० गी० — १८-२५ व २२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नवम अध्याय

समाज

एक काग़ज़ पर परकार रखकर, एक-केन्द्रीय घेरे (Concentric circles) बनाये जायें तो यह चित्र समाज का होगा। परकार की सुई व्यक्ति पर है और व्यक्ति के चारों ओर छोटे-बड़े घेरे (circles) बने हुए हैं। भीतर के सब घेरे बाहर के घेरे में ही आ जाते हैं। इन घेरों को परिवार, बिरादरी, मुहल्ला, नगर, देश और मानव नाम दिये जाते हैं। मानव समाज रूपी काग़ज़ पर परकार से छोटे-छोटे घेरे पृथक्-पृथक् केन्द्रों से भी बनाये जा सकते हैं। ये एक-केन्द्रीय भी हो सकते हैं और नहीं भी हो सकते। इस पर भी ये सब घेरे एक बड़े घेरे में लिए जा सकते हैं। इस प्रकार बनाये हुए घेरे हो सकते हैं बालक, युवा, वृद्ध, अथवा दुकानदार, क्लर्क, कृषक, सुनार, चमार, अध्यापक इत्यादि।

अतः मानवों में कई घेरे बनाये जा सकते हैं। इनको समुदाय (Communties) कहा जाता है। ये सब समुदाय एक बड़े घेरे, जिसे जाति कहा जाता है, में लाये जा सकते हैं। जातियाँ राष्ट्र में समा जाती हैं और ये सब पूर्ण मानव समाज में। इस प्रकार मानव समाज में कई प्रकार के घेरे समा जाते हैं।

इन घेरों में देखने की बात यह है कि ये कृत्रिम हैं। यह ठीक है कि प्रत्येक घेरे में एक त्रिज्या (radius) होती है। अभिप्राय यह कि प्रत्येक समुदाय में एक शर्त होती है, जो उस शर्त को पूरा करता है वह उस समुदाय के घेरे में रह सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदाहरण के रूप में परिवार भी एक घेरा है। इसमें शर्त है रक्त का सम्बन्ध। किसी भी माता-पिता की सन्तान परिवार की परिधि में आ सकती है। इस परिवार में न रहना भी व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करता है।

इसी प्रकार युवकों का कोई संगठन हो सकता है। उसमें शर्त यह हो सकती है कि इस संगठन के सदस्य बीस और तीस वर्ष की आयु के हों। परन्तु कोई युवक इस आयु का होता हुआ भी इस संगठन से बाहर रह सकता है।

इसी प्रकार सुनारों का समुदाय है, परन्तु कोई सोने के भूषणों का काम करता हुआ भी उस संगठन में नहीं रहना चाहता।

कहने का अभिप्राय यह है कि ये घेरे कृत्रिम हैं। इनकी त्रिज्या कृत्रिम है। समुदाय बनाने में शर्त ऐसी नहीं जिसको मनुष्य छोड़ न सकता हो और जिसको मनुष्य छोड़ते दिखाई न देते हों।

अतः समाज के घेरे कृत्रिम होने से समाज का रूप स्थिर नहीं हो सकता। ऊपर के जितने घेरे बताये हैं उनमें से सबसे अधिक स्वाभाविक और स्थिर घेरा परिवार का है। परन्तु उसको भी परिवार के सदस्य छोड़ते देखे जाते हैं। लोग मुहल्लों को, बिरादरियों को, नगरों को, प्रान्तों को और देशों को भी छोड़ते देखे जाते हैं। कभी-कभी तो व्यक्ति पूर्ण समाज से भी उपराम होकर एकान्त गुफा निवासी होता देखा जाता है। इन घेरों में एक वस्तु स्थिर है। वह है व्यक्ति अर्थात् केन्द्र, जहाँ परकार की सुई रखकर घेरा खींचा गया है।

यह बात स्पष्ट है कि मनुष्य ने कुछ कारणों से परिवार, समुदाय, राष्ट्र और मानव समाज की कल्पना की है। जब तक मनुष्य उन कारणों की पूर्ति होती देखता है वह उस घेरे, अर्थात् समुदाय इत्यादि में रहना चाहता है। जब वह शर्त की पूर्ति होती नहीं देखता, वह उस घेरे को छोड़ देता है।

यह ठीक है कि जब एक परिवार का सदस्य परिवार को छोड़ कर जाता है, तब परिवार के दूसरे सदस्य इसको बुरा मानते हैं। यही बात सब समुदायों की है। किसी भी समुदाय से जब कोई व्यक्ति उसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छोड़ कर बाहर निकलता है, तब उस समुदाय के दूसरे सदस्य इसको पसन्द नहीं करते। वे उसे रोकना चाहते हैं; परन्तु मानवों का यह नियम है कि समुदाय के लोग छोड़कर जाने वाले व्यक्ति को जाने से रोक नहीं सकते। वे रोकना चाहते हैं, परन्तु यह सम्भव नहीं।

जब समुदाय को छोड़कर जाने वाले व्यक्ति को पीछे रहने वाले लोग रोकना चाहते हैं तो जाने वाला व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता में बाधा मानता है। जब छोड़कर जाने वाले व्यक्ति की बुद्धि कुटिलतापूर्ण हो अर्थात् स्वार्थ और द्वेष से युक्त हो तब तो वह राज्य से दण्डनीय हो जाता है। कारण यह है कि उसके उद्देश्य का निर्णय समाज के दूसरे व्यक्ति नहीं कर सकते। निर्णय करने वाला संस्थान तो राज्य का न्यायाधिकरण ही है। कहने का अभिप्राय यह है कि किसी समुदाय के सदस्य किसी को बलपूर्वक अपने समुदाय में बाँधकर रख नहीं सकते।

उदाहरण के रूप में मज़दूरों की एक ट्रेड यूनियन है। वह निश्चय करती है कि कारखाने में हड़ताल कर दी जाये। एक मज़दूर देखता है कि हड़ताल करने में कोई भी कारण नहीं। वह हड़ताल में सम्मिलित नहीं होता। वह ट्रेड यूनियन को ही छोड़ देता है। ऐसी अवस्था में ट्रेड यूनियन उससे विद्वेष कर उसको विद्रोही घोषित करती है। उसको हानि पहुंचाने का यत्न भी करती है। राज्य उसकी रक्षा करने के लिए बाध्य है। अर्थात् उसकी स्वतंत्रता, समुदाय को छोड़ने की, उसका अधिकार है।

यूनियन छोड़ने वाले व्यक्ति ने यह कार्य सात्त्विक बुद्धि से किया है अथवा राजसी बुद्धि से, इसका निर्णय तो न्यायकर्त्ता ही कर सकता है। वह भी छोड़कर जाने वाले व्यक्ति को केवल तब ही दण्डित मान सकता है, जब उसका कार्य तामसी बुद्धि से किया गया है। यूनियन के सदस्य तो उसको दण्ड दे ही नही सकते। उनका प्रयास केवल प्रेरणा और सम्मति तक ही सीमित रह सकता है।

हम यह बता रहे हैं कि समाज अथवा समाज के किसी अंग से बाहर हो जाने का अधिकार व्यक्ति को है। व्यक्ति की इस स्वेच्छा-चारिता पर प्रतिबन्ध लगाने वाला समाज, समाज नहीं रह सकेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह तो कारागृह कहाएगा। यह इस कारण कि समाज व्यक्तियों ने बनाया है न कि समाज ने व्यक्ति बनाये हैं।

योरोप के समाज-शास्त्री इससे भिन्न विचार रखते हैं। योरोप के नास्तिक मीमांसकों के दादा अरस्तू (Aristotle) ने यह मिथ्या उक्ति प्रचलित की थी कि मनुष्य एक सामाजिक जीव है (Man is a social animal)। यह बात ठीक नहीं। सामाजिकता मानवों से अधिक कई इतर जीव-जन्तुओं में देखी जाती है। चींटियों और मधु-मक्खियों में सामाजिकता मनुष्य से कहीं अधिक है।

यथार्थ बात यह है कि मनुष्य मुख्यतः सामाजिक जीव नहीं है। यह बुद्धिशील जीव है। इसकी सामाजिकता अथवा असामाजिकता इसकी बुद्धि के अधीन है। बुद्धियाँ अनेक प्रकार की हैं। विशेष रूप में उन मनुष्यों की जो संसार को ही सब कुछ मानते हैं। भगवान् कृष्ण ने बहुत सुन्दर ढंग से गीता में बुद्धियों की विलक्षणता के विषय में कहा है—

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।
यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥[1]

(वे लोग जो सुन्दर वाणी में वर्णन करते हैं कि संसार के भोग ऐश्वर्य-स्वर्ग से भी अधिक सुखकारक हैं, कर्म जन्म में ही फल देते हैं, इस संसार की अनेक क्रियायें हैं जिनसे ही भोग ऐश्वर्य मिलता है, ऐसी सुन्दर बातें कहने और सुनने वालों की बुद्धियाँ अनेक प्रकार की और अनेक दिशाओं में जाने वाली होती हैं।

ऐसे व्यक्ति भोग तथा ऐश्वर्य में लीन उक्त सुन्दर वचनों से भ्रम में पड़े हुए स्थिर बुद्धि नहीं रखते।

१. भ० गी० २-४१, ४२, ४३, ४४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योरोप के समाज-शास्त्री इन सांसारिक सुखों की लालसा में विचार करते हुए अनेकों वाद बना लेते हैं और फिर परस्पर लड़ते और झगड़ते हैं।

मनुष्य बुद्धिशील प्राणी है और इसे बुद्धि स्थिर कर ही लोक-कल्याण की बात विचार करनी चाहिए। भारतीय शास्त्रों में स्थिर बुद्धि (स्थित प्रज्ञ) की बहुत महिमा कही है।

स्थिर बुद्धि के विषय में लिखा है—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥[१]

जैसे समुद्र में अनेक नदियों के आ पड़ने से भी वह अचल और एक ही स्तर पर भरा हुआ रहता है वैसे ही स्थिर बुद्धि पुरुष की शान्ति भोगों के आने से और न आने से भंग नहीं होती।

परन्तु एक विख्यात अमेरिकन समाज शास्त्री आर० एम० मेकिवर अपनी पुस्तक 'सोसाइटी' में लिखते हैं—

···no man is free of the need of society. When the hermit leaves the society of men he imagines he can find another society in communion with God or with 'Nature' or he is driuen by some obsession to a kind of self-punishment. If he is not mad at the outset he becomes so in the end. For normal humanity must have social relationships to make life livable.[२]

(समाज की आवश्यकता से कोई मनुष्य स्वतंत्र नहीं है। जब कोई साधु समाज को छोड़ता है तो वह किसी अन्य समाज के पाने की कल्पना करता है, जो परमात्मा अथवा प्रकृति की संगत में हो सकेगी। अथवा वह किसी भ्रम में फँसकर अपने को दंड का भागी बनाता है। यदि वह प्रारम्भ में पागल नहीं तो पीछे अवश्य ही हो

१. भा० गी० २-७०

2. R. M. Maciver And Charles H. Page—Society (1962); p. 8

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है। एक सामान्य मनुष्य को जीने योग्य जीवन चलाने के लिए सामाजिक सम्बन्ध बनाने आवश्यक हैं।)

समाज के विषय में योरोप के समाज-शास्त्री यही धारणा रखते हैं। वे मनुष्य को समाज की उपज मानते हैं। उनका कथन है कि मनुष्य समाज का बच्चा है (Man is the child of society)। वे यह भी कहते हैं कि समाज के बिना वह रह नहीं सकता। उनके विचार में समाज को सुधारने से व्यक्ति सुधारा जा सकता है।

उनके ये विचार इस कारण ही हैं कि ये समाजवादी अनीश्वर-वादी हैं। वे न तो ईश्वर की सत्ता को मानते हैं न ही प्राणी में किसी आत्म-तत्त्व को। इनकी दृष्टि में जन्म में मरण पर्यन्त ही प्राणी का अस्तित्व है। जो कुछ इस जन्म में है वही सब कुछ है। इनके पूर्व और उपरान्त कुछ नहीं है। इनके विषय में ही गीता का उक्त कथन है कि बुद्धियाँ बहुत प्रकार की और बहुत दिशाओं में जाने वाली हैं। यही कारण है कि समाजवाद का नारा अठारहवीं शताब्दी में लगाया गया और बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक अर्थात् डेढ़ सौ वर्ष में ही समाज-वाद में अनेकों मत-मतान्तर और अनेकों ही रंग-रूप बन गये हैं।

समाजवाद के इन विभिन्न रूपों और उनके दोषों के विषय में तो हम अपने उचित स्थान पर लिखेंगे। यहाँ तो हमारा यही कहना है कि ये लोग स्थित प्रज्ञ न होने से क्षण-क्षण में बदलते हैं और छोटी-छोटी कठिनाइयों के आने पर एक छोटे से ताल की भाँति उछल पड़ते हैं। वे समुद्र की भाँति गम्भीर नहीं हैं। ये सब-के-सब मिथ्या पथ के राही हैं।

मनुष्य ने समाज तथा समाज में समुदायों की रचना की है। इन रचनाओं में कुछ उद्देश्य रहते हैं। जब मनुष्य में राग-द्वेष के कारण उन कारणों का ही विरोध होने लगता है, जिनसे समाज का निर्माण किया गया था, तो बुद्धिशील व्यक्ति इसका त्याग कर देते हैं। प्रायः वे अपने कार्य की पूर्ति के लिये नये समुदाय-निर्माण करते हैं और कभी पूर्ण मनुष्य समाज को मिथ्या पथगामी समझ, इसको छोड़ संन्यास ले लेते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्य के लिए समाज एक आवश्यक वस्तु नहीं। हाँ, समाज के लिए उसके घटक एक आवश्यक पदार्थ हैं। अतः समाज का विचार, मनुष्य को छोड़कर नहीं किया जा सकता। मनुष्य के शारीरिक सुख-प्रसाधन आवश्यक होते हुए भी उसके मन, बुद्धि और आत्मा निरन्तर स्वतन्त्रन्ता की खोज करते हैं। समाज इस खोज में बाधक नहीं हो सकता।

अतः समाज का ढाँचा निर्माण करते समय इसके बाहर से भीतर आने के और भीतर से बाहर जाने के द्वार बन्द नहीं किये जा सकते।

इस प्रकार समाज एक खुला प्रांगण है। इसमें आने, इस समाज का लाभ उठाने की सबको स्वतन्त्रता है और यदि इस प्रांगण में किसी को दुःख अथवा कष्ट प्रतीत होता है तो वह इससे बाहर जाने की स्वतन्त्रता रखता है। अतः समाज है स्वतन्त्र प्राणियों की स्वेच्छा से सहचारिता का प्रबन्ध (Free association of freedom people)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दशम अध्याय

समाज और व्यक्ति

पूर्व के अध्याय में हमने यह लिखा है कि समाज एक कारागृह नहीं है। अपितु यह एक खुला प्रांगण है, जिसमें आने-जाने के द्वार खुले रहते हैं। व्यक्ति समाज में अथवा समाज के किसी घेरे में जाकर रह सकता है और उससे बाहर भी आ सकता है।

इस आने-जाने में एक शर्त है। समाज के प्रत्येक घेरे अर्थात् समुदाय की एक त्रिज्या (radius) रहती है। जैसे किसी घर में रहने वाले को उसकी त्रिज्या का ध्यान रखना पड़ता है, उसी भाँति किसी समुदाय में रहने वाले के लिये समुदाय में रहने की शर्त का पालन करना पड़ता है। शर्त का उल्लंघन करते हुए उस समुदाय में नहीं रहा जा सकता। कोई भी समुदाय यह पसन्द नहीं कर सकता कि उस समुदाय का सदस्य उसमें रहने की मुख्य शर्त का ही उल्लंघन करता रहे।

उदाहरण के रूप में इस्लाम में यह शर्त है कि हज़रत मुहम्मद को पैगम्बर मानो। मुहम्मद साहब को पैगम्बर न मानने वाला इस्लाम में नहीं रह सकता। इसी प्रकार एक समय कांग्रेस ने यह निश्चय किया था कि इसका सदस्य होने के लिये एक निश्चित मात्रा में सूत कातना आवश्यक है। उस समय अनेकों लोग कांग्रेस से बाहर कर दिये गये थे। कारण यह कि वे निश्चित मात्रा में सूत कात नहीं सके थे।

कांग्रेस को जीवित रहने के लिये यह शर्त भंग करनी पड़ी, अन्यथा कांग्रेस शून्य के समान होने वाली थी। एक जीवित-जागृत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज प्रथम तो अपनी त्रिज्या ऐसी बनाता है जिसका पालन अधिक से अधिक संख्या में सदस्य कर सकें। साथ ही समुदाय बनाने का प्रयोजन भी बना रहे। यदि भूल से अथवा किन्हीं कारणों से कोई ऐसा नियम बन जाये जिसका पालन करना सदस्यों को कठिन प्रतीत होने लगे अथवा वह परिवर्तित परिस्थिति में अनावश्यक हो जाये, तो एक जीवित समाज उस उपनियम को बदल देती है। इसका एक उदाहरण हिन्दू समाज में देखा गया है। एक समय हिन्दू समाज में यह पसन्द नहीं किया जाता था कि इसके सदस्य समुद्र पार की यात्रा करें। जब कोई ऐसी यात्रा करता था तो हिन्दू समाज उसका बहिष्कार कर देता था। उस काल में हिन्दू बने रहने के लिये इस समाज के लोग समुद्र पार की यात्रा नहीं करते थे। भगवान् जाने कितने ही लोग इस नियम का उल्लंघन करने से हिन्दू समाज से निकाल दिये गये थे। पीछे जब हिन्दुस्तान में अंग्रेजी राज्य आया तो एक बड़ी संख्या में हिन्दू भारत से बाहर शिक्षा, व्यापार अथवा विनोद के लिये जाने लगे। विवश हिन्दू समाज ने अपने इस नियम में संशोधन किया। पहले तो बाहर जाकर लौटने वालों के लिये प्रायश्चित का विधान किया गया, पीछे इसको भी छोड़ना पड़ा। अब हिन्दू समाज में यात्रा का प्रतिबन्ध नहीं रहा।

यह एक उदाहरण है जब जीवित समाज ने परिस्थितियों के अनुकूल अपनी त्रिज्या को बदल दिया है। गौ-मांस के विषय में भी हिन्दू समाज को अपनी व्यवस्था बदलनी पड़ी है।

हिन्दू समाज में इस प्रकार के नियमों को किस कारण बनाया गया था और किन कारणों से समाज इन नियमों को अपनी इच्छानुसार बदल नहीं सका, यह बताना इस पुस्तक का विषय नहीं। यहाँ तो केवल इतना बताने से ही मतलब है कि समाज कैसे अपने अनुपयुक्त नियमों को बदल सकता है।

हिन्दू समाज के उक्त उदाहरण से निम्न बातों का पता चलता है—

(१) समाज में रहने वालों के लिये कुछ शर्त होती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) वे शर्तें ऐसी होनी चाहियें, जो सरल होती हुई भी उस समाज की विशेषता को प्रकट करने वाली हों। सदस्यों को वे अपने हित में प्रतीत हों।

(३) समाज में रहने की शर्तों को बलपूर्वक नहीं मनाया जा सकता। इनको मानने के लिये उस शर्त का युक्ति-युक्त, प्रेरणात्मक और हितकर होने का समाधान कराने योग्य प्रचार होते रहना आवश्यक है।

हिन्दू समाज ने अपने में रहने वालों के लिये बहुत कठोर शर्तें बनाई थीं। उनके बनाने में कुछ कारण रहे होंगे, परन्तु व्यक्ति परिस्थितियों से विवश होकर तथा बुद्धि से विचारकर उन शर्तों का पालन नहीं कर सके। वे समाज त्याग कर बाहर जाने लगे। हिन्दू राजनीनिक पराधीनता अथवा आलस्य, प्रमाद एवं मूर्खता के कारण न तो अपने नियमों की सार्थकता को समझा सके न ही वे उन नियमों में उपयुक्त परिवर्तन कर सके। इस कारण समाज के सदस्य स्वयं ही नियम भंग कर इसमें रहने का हठ करते रहे। परिणाम यह हुआ है कि इस समय हिन्दू समाज की कोई त्रिज्या ही नहीं रही। न तो राजनीतिक, न ही कोई धार्मिक अथवा सामाजिक शर्त रही, जिससे कोई हिन्दू समझा जा सके।

अभिप्राय यह है कि जहाँ व्यक्ति को इस बात की स्वतन्त्रता होनी परमावश्यक है कि वह किसी समाज में रहे अथवा न रहे वहाँ यह भी आवश्यक है कि समाज में रहने की कोई सरल, युक्ति-युक्त और हितकारी शर्त हो जिसका एक बहुत बड़ी संख्या में लोग पालन कर सकें और पालन करते हुए सुख अनुभव करें। समाज में रहते हुए व्यक्ति को समझ आने लगे कि समाज उसके हित में है। अन्यथा समाज विनाश को प्राप्त हो जायेगा।

अतएव मानव-समाज को अथवा किसी मानव-समुदाय का, यहाँ तक कि किसी परिवार को भी अपनी रूप-रेखा बनाये रखने के लिये एक अपनी त्रिज्या निश्चय करनी आवश्यक है। और वह त्रिज्या अर्थात् शर्त समुदाय के भीतर रहने वालों पर बलपूर्वक थोपी नहीं जा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकती। यदि इस शर्त का पालन कराने में बल का प्रयोग किया गया तो निःसन्देह समाज विघटित हो जायेगा।

आदि काल से ही मनुष्य ने अपने चारों ओर कई घेरे बनाये थे। अभिप्राय यह कि कई प्रकार के समुदाय बनाये। जहाँ कहीं शर्तें रखीं और उसके साथ उन शर्तों की उपयुक्तता तथा उपादेयता के समझाने का प्रबन्ध नहीं किया, तो समुदाय के सदस्यों ने समाज अथवा समुदाय के विपरीत विद्रोह किया और वह समाज अथवा संगठन ऐसे सिमट गए जैसे स्लेट पर लिखा लेख सुगमता से मिट जाता है।

भारत में यदि बहुत प्राचीन काल से एक समाज, आर्य, भारतीय अथवा हिन्दू जीवित चला आ रहा है, तो इसमें कारण यह है कि इस समाज ने अपने में त्रिज्या ऐसी रखी हुई थी, जो लोग स्वीकार करते हुए अपना हित समझते थे। यह समाज भी उन नियमोपनियमों को हितकर सिद्ध करने में निरन्तर यत्न करता रहता था। परिणाम यह हुआ कि समाज न केवल सहस्रों वर्ष तक जीवित रहा, वरन् अति सुदृढ़ और आकर्षक बना रहा। कई ऐतिहासिक कारणों से यह न तो अपने में वह लचक रख सका, न ही अपने आधारभूत नियमों में कारण समझाने का यत्न कर सका। इसके सदस्य इसको छोड़-छोड़कर जाने लगे। समाज ने उनके छोड़कर जाने से सुख अनुभव किया। अपनी बौद्धिक दासता के कारण यह समाज अपने कठोर आवरण में सुधार नहीं कर सका। न ही उस कठोरता में युक्ति-युक्त कारण अपने सदस्यों को समझा सका।

इसके दो परिणाम हुए। एक तो समाज संकुचित होने लगा। दूसरे समाज के अन्दर छोटे-छोटे अनेकों घेरे बन गये और वे धीरे-धीरे अपने को मुख्य समाज से असम्बद्ध मानने लगे। अभिप्राय यह कि व्यक्तियों अथवा उन समुदायों ने स्वेच्छा से हिन्दू समाज के घेरे को तोड़ना आरम्भ कर दिया।

हिन्दू समाज के उदाहरण देने का प्रयोजन यह है कि इससे समाज और व्यक्ति के सम्बन्धों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

इस विषय में रूसी समाज शास्त्री मैलिनोविस्की (Malino-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

wski) अपनी पुस्तक Crim and Custom in Savage Society में लिखता है—

The various social codes are all alike in one important respect. For their prescriptions are all subject to violation, and therefore, they are all guarded by special provisions, or sanctions, calculated to counteract the tendency to disobedience. This is no less true of primitive customruled peoples than of modern ones. In no situation is there unswerving automatic obedience. In every instance the group sustains the code by the exercise of some degree of pressure on the individual violator.[1]

(सब समाजों के नियम एक बात में समान हैं कि वे भंग किये जा सकते हैं। इसी कारण उन नियमों की रक्षा, उनके विपरीत विद्रोह की भावना से, विशेष प्रबन्ध अर्थात् दण्ड से की जाती है। रीति-रिवाज से शासित समाजों में यह बात आदि काल से चली आती है। वर्तमान समाज में भी यह बात सत्य है। किसी भी अवस्था में स्वेच्छा से और निष्ठ होकर नियमों का पालन नहीं होता। प्रत्येक अवस्था में समुदाय नियमों की रक्षा करता है। किसी न किसी सीमा तक विद्रोही व्यक्ति पर दबाव डाला जाता है।)

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि इस पुस्तक का लेखक कम्युनिस्ट (communist) है और वह रूस में समाज के कठोर ढांचे की सफाई दे रहा है। इस पर भी वह यह मानने पर विवश हो गया प्रतीत होता है कि सब समाजों के नियम भंग किये जा सकते हैं। और उनके पालन कराने के लिए समाज को अपने घटकों पर दबाव डालना पड़ता है। प्रश्न तो यह उपस्थित होता है कि यह दबाव रूस की भाँति आँखें, जबान और कान बन्द कर, कनसेन्ट्रेशन कैम्पों का-सा होना चाहिए अथवा स्वतन्त्र समाजों की भाँति प्रेरणा और समझाने

1. Society p. 139;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(prescription and persuasion) का होना चाहिए। रूस में लोहे की दीवार सदा रह नहीं सकेगी और ज्योंही लोगों को दूसरों की बात सुनने, देखने और फिर कहने की स्वीकृति मिली त्योंही वह समाज विशृंखल होने लगेगा।

एक स्वतन्त्र विचार के समाजशास्त्री मिस्टर आर० एम० मैकिवर इसी विषय पर लिखते हैं—

Society is distinct from physical reality in that the laws which sustain it are, at least in part, prescriptive or normative. Unlike the laws of the physical world, they can be disobeyed and they can be changed. They lack the inexorable character of natural laws...But the rules themselves are subject to change, since the needs and desires of men are never constant but always seek and find new forms of expression.[1]

(समाज एक प्राकृतिक तथ्य से भिन्न वस्तु है। जो नियम इसको जीवित रखते हैं वे, कम से कम कुछ अंशों में, सम्मति मात्र और प्रेरणा मात्र ही होते हैं। प्रकृति के नियमों के विपरीत इनका उल्लंघन किया जा सकता है और इनको बदला जा सकता है। प्राकृतिक नियमों की भांति ये अपरिवर्तनशील नहीं।...नियम बदले जा सकते हैं क्योंकि मनुष्यों की आवश्यकताएँ और इच्छाएँ सदैव समान नहीं रहतीं। मनुष्य अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं के लिए नये-नये रूप ढूंढता रहता है।)

इस सबका अर्थ यह है कि मनुष्य एक बुद्धिशील प्राणी है। बुद्धियाँ, विशेष रूप में सांसारिक जीवों की, समान नहीं होतीं, न ही सदा समान रहती हैं। इसमें कारण यह है कि समाज एक चलायमान वस्तु है। यह स्थिर और निश्चित नहीं रह सकती।

एक दूसरी बात इससे स्पष्ट होती है कि यद्यपि समाज अपने नियमों को चालू रखने के लिए अनेक प्रकार के उपाय करता है, इस

1. Society, p. 138;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर भी वे नियम परिवर्तनशील होते हैं।

तीसरी बात यह है कि समाज में व्यक्तियों की बदल रही प्रवृत्तियों के अनुसार नियम बदलते रहने चाहिएँ।

चौथी बात यह कि यदि समाज में लचक नहीं रहेगी तो समाज टूट जाएगा। व्यक्ति इसके बन्धन तोड़कर निकल जायेंगे।

हमारा यह कहना है कि समाज की भारतीय मीमांसा ही ठीक है। व्यक्ति मुख्य है। भले लोगों को दुष्ट लोगों से सुरक्षित रखने के लिए समाज का निर्माण किया था।

दुष्ट लोगों के भी समुदाय होते हैं, परन्तु उनका नाम समाज नहीं रखा जा सकता। उनका नाम टोला (gang) होता है।

जब समाज अपने में के भले लोगों की रक्षा नहीं कर सकता तो वह विघटित हो जाता है।

जहाँ तक समाज के संगठन का सम्बन्ध है, इसके नियम उपनियम केवल सम्पत्ति अथवा प्रेरणा मात्र ही होते हैं। इस पर भी उनका पालन होना चाहिए। यह पालन बलपूर्वक नहीं कराया जा सकता। जहाँ बलप्रयोग होगा, वहाँ वे नियम-उपनियम एक अल्प काल के लिए ही चल सकेंगे। तदुपरान्त समाज विघटित होने लगेगा। इसको संगठित रखने का केवल एक ही उपाय है कि समाज के घटकों को यह विश्वास बना रहे कि समाज में रहना उनके हित में है।

बल का प्रयोग समाज के नियमों में अवांछनीय है। इसमें कारण ये हैं :

(१) बल का प्रयोग सामाजिकता का विरोधी है। यह सामाजिक सम्बन्धों में कृत्रिमता उत्पन्न कर देगा। इससे सम्बन्धों में विवशता, नीरसता एवं घृणा उत्पन्न हो जाएगी।

(२) बलप्रयोग किसी भी सुधार में सफल नहीं होता। यह मानव के क्रिया-कलाप को बिगाड़कर रख देता है और फिर इसका स्वाभाविक परिणाम, विद्रोह होता है। राज्य के विषय में भी दण्ड का विधान अपराधों को निःशेष नहीं कर सका। इसका उस क्षेत्र में भी केवल एक प्रयोग हो सका है। वह है भले लोगों की दुष्टों से रक्षा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करना। अपराधियों को जेल में डाल देने अथवा शारीरिक दण्ड देने का यही प्रयोजन है कि वह भले लोगों से दूर रखे जा सकें। दुष्टों को सुधारने में सम्मति और प्रेरणा (prescription and persuasion) ही उपाय हैं।

पाश्चात्य समाज-शास्त्री सामाजिक नियमों में बलप्रयोग को क्षम्य मानते हैं। इसमें दो कारण हैं। एक यह कि वे समाज और राज्य को पर्यायवाची मानते हैं। वे राज्य का कार्य-क्षेत्र समाज के प्रत्येक कार्य में स्वीकार करते हैं। और जब वे समाज शब्द का प्रयोग करते हैं तो उनके मस्तिष्क में राज्य का चित्र बन जाता है। दूसरा कारण है पाश्चात्य समाजशास्त्रियों का मनुष्य में स्वतन्त्र आत्मा का न होना मानना।

ये दोनों बातें गलत हैं। राज्य समाज का एक अंश मात्र है। इसका कार्य-क्षेत्र सीमित है। मानव समाज के कार्य राज्य के कार्यों से बहुत अधिक हैं। यदि उन सब में राज्य हस्तक्षेप करेगा तो मानव की मानवता ही विलुप्त हो जाएगी।

उदाहरण तो बहुत दिये जा सकते हैं। निम्नलिखित उदाहरण हमारे आशय को भली-भाँति स्पष्ट करेगा। पशु-पालन करने वाले पशुओं की नसल को उन्नत करने के लिए नर और मदीन के संयोग पर नियंत्रण रखा जाता है। किस नर का किस मदीन से संयोग होना चाहिए, कब होना चाहिए और किस अवस्था में होना चाहिए इन सब बातों पर पशु पालने वाले नियंत्रण रखते हैं। वे पशुशालाओं में नर और मदीन को पृथक्-पृथक् बाँधते हैं। किसी नर अथवा मदीन के विरोध करने का विरोध करते हैं। इसके लिए वे लाठी का प्रयोग भी करते है। उनके ऐसा करने से नसल में इच्छित परिणाम निकलते भी देखे जाते हैं।

मानवों में भी नर और मदीन के संयोग पर नियंत्रण वांछनीय है। यह है भी एक सामाजिक कृत्य। इस पर नियंत्रण भी मानव संतति को उन्नत स्तर पर रखने के लिये आवश्यक माना गया है। मानव समाज ने इसके लिए विवाह-पद्धति का आविष्कार किया है और समय-समय पर विवाह के नियमोपनियमों में अदल-बदल किया जाता रहा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इस पर भी राज्य ग्रथवा समाज इस पर प्रेरणा तथा सम्मति से ही काम लेता है। बल ग्रथवा दण्ड से काम नहीं लिया जा सकता। पुरुष-स्त्री बिना विवाह के भी संयोग बनाते हैं, जब दोनों यह बात स्वेच्छा से करते हैं ग्रौर जब वे ग्रपनी इच्छा प्रयुक्त करने की ग्रायु में पहुँच गये होते हैं। इस ग्रवस्था में न तो समाज ग्रौर न ही राज्य इसमें हस्तक्षेप करता है। कदाचित् कर सकता भी नहीं। यदि स्वेच्छा से स्त्री-पुरुष बिना विवाह के साथ रहते हैं तो उनको बलपूर्वक पृथक्-पृथक् रखना मानव प्रकृति के विरुद्ध होगा ग्रौर सम्बन्धित व्यक्ति विद्रोह कर मनमानी करेंगे ग्रौर समाज विघटित होने लगेगा।

ऐसे संयोगों को मना करने का ढंग दण्ड देना नहीं, अपितु सम्मति ग्रौर प्रेरणा देना (Prescription and persuasion) ही है।

विधिपूर्वक विवाह में भी कभी समाज ग्रथवा राज्य हस्तक्षेप करता देखा जाता है।

जैसे रूस में किसी रूसी ग्रौरत को ग्रपने विदेशोत्पन्न पति के साथ विदेश में जाकर कहने की स्वीकृति सुगमता से नहीं मिलती। वहाँ की स्त्री किसी विदेशी पति से विवाह कर विदेश में जा सकती ही नहीं।

यह विवाह के विधि-विधान में, जो एक शुद्ध सामाजिक कृत्य है, राज्य का ग्रनुचित हस्तक्षेप है। मानव किसी प्रकार की विवशता के कारण भले ही इस प्रकार के हस्तक्षेप को सहन करता जाये, परन्तु उसकी ग्रन्तरात्मा इसके विरुद्ध विद्रोह किए बिना नहीं रह सकती।

इस विषय में एक वस्तुस्थिति का उल्लेख ज्ञानवर्धक होगा। योरोप में एक पत्नी के विवाह का विधान है। उन देशों में विवाह के ग्रतिरिक्त पुरुष-स्त्री सम्बन्धों की संख्या ग्रसीम है। यहाँ भारत में पुरुष को एक से ग्रधिक स्त्रियाँ रखने की स्वीकृति थी ग्रौर विवाह के ग्रतिरिक्त पुरुष-स्त्री-सम्बन्धों की संख्या ग्रति सीमित थी। ग्रब यहाँ भी विवाह पर कानून का दबाव हो गया है ग्रौर इससे व्यभिचार बढ़ने लगा है।

बात वही है। जब ग्रौर जहाँ सामाजिक सम्बन्धों में प्रेरणा को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छोड़कर बल का प्रयोग किया जाएगा, सम्बन्ध बिगड़ेंगे। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि एक पुरुष का एक ही स्त्री से सम्बन्ध होना तो ठीक है परन्तु इसको चलाने के लिए प्रेरणा और सम्मति ही ठीक उपाय हैं।

उक्त पूर्ण कथन से हमारा यह अभिप्राय है कि समाज जब बन जाता है, तो समाज अपने भीतर के घटकों को समाज से बाहर जाने की स्वीकृति नहीं देता। न ही समाज यह चाहता है कि इसके सदस्य उसके नियम भंग करें। समाज में जो लोग अधिकारी बन जाते हैं, अथवा बना दिए जाते हैं, वे घटकों को बलपूर्वक अनुशासन में रखने का यत्न करते हैं और घटक इस बल के प्रयोग का विरोध करते हैं।

यही स्थिति प्रायः संयुक्त परिवारों में देखी जाती है। जहाँ बिरादरियों का रिवाज है, वहाँ भी इस अभिरुचि के दर्शन होते हैं। इसमें हमारा मत है कि समाज के प्रयोजन को न समझ यह दुर्व्यवस्था देखी जाती है। समाज के विषय में हम यह लिख चुके हैं कि यह स्वतंत्र व्यक्तियों का स्वेच्छा से बनाया संगठन है। जब तक व्यक्ति की इच्छा संगठन में रहने की बनी रहेगी, तब तक ही यह रहेगा। जब भी व्यक्तियों को इसमें बलपूर्वक जकड़ने का प्रयत्न किया गया, तब ही इसमें विघटन आरम्भ होने लगेगा।

मिस्टर मैकिवर लिखते हैं—

It is obvious also that force is a more effective instrument of social control over uneducated or regimented populations than over those which have been brought up in an atmosphere of liberty and criticism.[1]

(यह स्पष्ट है कि जाहिल और सैनिक प्रवृत्ति वाले लोगों पर सामाजिक नियंत्रण के लिये बलप्रयोग अधिक प्रभावशाली होता है। वे लोग जो स्वतन्त्रता और विवेक के वातावरण में पले हैं, उन पर बलप्रयोग का प्रभाव कम होगा।)

यह समाज-शास्त्री सत्य ही बहुत सूझ-बूझ रखता प्रतीत होता

1. Society p. 156

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, परन्तु वह यह नहीं जानता कि ज़ाहिल और नियन्त्रण में बँधा मनुष्य तो पालतू जानवर (domestic animal) के तुल्य ही होता है। जहाँ मनुष्य को स्वभाव से कार्य करने के तुल्य बना दिया जाता है, वहाँ वह अपनी बुद्धि का प्रयोग छोड़ देता है। हमारी भारतीय विचार-पद्धति उसको मनुष्य (मननशील प्राणी) मानती ही नहीं। इन लोगों के समुदाय को समाज कहा ही नहीं जा सकता। वह तो पशुओं का झुण्ड (herd of animals) होगा। मानव-समाज इतनी निकृष्ट वस्तु नहीं है।

इस कारण ऐसे लोगों में बलप्रयोग प्रभावशाली और सफल होता है तो विस्मय करने की बात नहीं। ऐसे लोगों का झुण्ड न तो भले मनुष्यों की रक्षा के लिए होगा, न ही उससे किसी प्रकार का मानव-हित सम्पन्न हो सकेगा।

पाश्चात्य समाजशास्त्रियों और प्राचीन भारतीय समाजशास्त्रियों की कल्पना में अन्तर केवल इस कारण ही है कि वर्तमान युग में एक मनुष्य और प्राकृतिक पदार्थ में अन्तर नहीं माना जाता। एक पत्थर और एक युवक में समानता मानी जाती है।

मानव समाज में समाज के नियमों का पालन बल के अतिरिक्त कैसे कराया जाये? यह प्रश्न है। इसका एक सामान्य गुर तो बताया है। वह है प्रेरणा और सम्मति। इसके अतिरिक्त भी समाजशास्त्रियों ने समाज-व्यवस्था को चलाने के लिए कई उपाय बताये हैं।

(१) भक्ति (loyalty); यह एक उपाय है। एक व्यक्ति विशेष के लिए, किसी रीति-रिवाज के लिए, किसी विचार के लिए, परिवार में परिवार के पुरखा के लिए, बिरादरी के चौधरी के लिये, नगर अथवा देश में नेता के लिए, पंथ के गुरू या पीर के लिये भक्ति हो सकती है। हिन्दुओं में गौ-ब्राह्मण के लिए, सिखों में गुरु ग्रंथ साहब के लिये, मुसलमानों में कुरान और मुहम्मद साहब के लिये भक्ति होती है। किसी जाति की सभ्यता के लिये अथवा धार्मिक और ऐतिहासिक स्थानों के लिये भी भक्ति हो सकती है।

यह भक्ति कैसे उत्पन्न हो सकती है? क्या यह बुद्धि का विषय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है अथवा स्वभाव का विषय है ? भक्ति के केन्द्र तथा भक्ति उत्पन्न होने में कारण पर ही इसका प्रभाव निर्भर करता है। यदि भक्ति केवल संस्कारों के कारण है तब तो यह किसी समय भी क्षीण हो सकती है और फिर समाज की नींव खोखली हो जायेगी। उदाहरण के रूप में सूअर के प्रति भक्ति है। मुसलमानों में इसको मारना वर्जित है। इस पर भी देखा गया है कि किंचित् से विचार पर अकबर और जहाँगीर सूअर के शिकार पर तैयार हो गये थे। इस भक्ति में कोई युक्ति-युक्त आधार नहीं था।

इसके विपरीत हिन्दुओं में राम और कृष्ण में भक्ति सहस्रों वर्षों से अक्षुण्ण चली आ रही है। और अभी ढीली होती प्रतीत नहीं होती। इसमें कारण है इन महापुरुषों के पीछे इतिहास और विचारधारा की उपस्थिति। यह जहाँ संस्कारों का विषय है वहाँ इतिहास और युक्ति का भी विषय है। यह स्थायी भक्ति और उच्च विचारों की प्रेरक होने से हितकर है।

वास्तव में हिन्दू समाज को जीवित और संगठित रखने में राम और कृष्ण के प्रति भक्ति और निष्ठा का बहुत बड़ा हाथ है। यह केवल संस्कारों का ही विषय नहीं, वरं बुद्धि का विषय भी है।

(२) मतान्तः प्रवेशन (Inductrination); इसका अभिप्राय है कि किसी बात को किसी के मन में इस प्रकार डालना कि वह उसको विचार किये बिना ग्रहण कर ले। यह तो शुद्ध प्रेरणा और सम्मति का ही एक रूप है।

(३) संस्कार डालना (Habituation); बचपन से जब कोई मनुष्य किसी काम को बार-बार करता है तो वह उस काम का स्वभाव बना लेता है। तब वह उन संस्कारों से ग्रसित समाज के नियमों का पालन करता रहता है। संस्कारों में यह आवश्यक है कि संस्कारित कर्मों का समय-समय पर मनन, विवेचन और संशोधन होता रहे। नहीं तो संस्कार अच्छे होते हुए भी रुढ़िगत हो जाने से विद्रोह का विषय बन जाते हैं।

रीति-रिवाज तथा कर्म काण्ड (Ritual Ceremonies); समाज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसे रीति-रिवाज स्वीकार कर लेता है जिनसे उनका संगठन बना रहता है। जैसे वैष्णवों में आरती और कीर्तन है। मुसलमानों में नमाज़ पढ़ने का ढंग है। इंगलैंड में राजा के राज्यारोहण की रस्म है। किसी काल में हिन्दुओं में चोटी रखना अथवा यज्ञोपवीत पहनना था अथवा किन्हीं सम्प्रदायों में तिलक लगाने का ढंग है।

और भी कई उपाय हैं जो समाज के संगठन को स्थिर रखने के लिये आविष्कार किये गए हैं। वास्तव में ये सब उपाय प्रेरणा और सम्मति की उपज होते हैं और इनसे ही चल सकते हैं। उदाहरण के रूप में हिन्दुओं में चोटी रखने और यज्ञोपवीत पहनने की प्रेरणा नहीं रही तो ये रिवाज भी समाप्त हो गए हैं। इन सब उपायों में समय-समय पर समाज के घटकों को यह हृदयंगम कराने की आवश्यकता बनी रहती है कि ये रीति-रिवाज समाज के घटकों के हित में हैं।

बलपूर्वक समाज के घटक को समाज में रखना और समाज के नियम भंग करने से रोकना तो समाज के हित में नहीं हो सकता।

नियम भंग करने वाले को समाज से कैसे बाहर करना सम्भव होगा? यह समाज की अपनी परिस्थितियों अथवा उससे समाज से होने वाले लाभ पर निर्भर करता है।

यदि मुसलमान अथवा ईसाई समाज का कोई घटक अपनी समाज के नियमों का उल्लंघन करता है तो वे समाज उसे अपनी और अपने मुल्ला अथवा पादरी की सेवाओं से वंचित कर सकता है। अथवा उसके घर में किसी शादी-गमी के अवसर पर दूसरे घटक को जाने से मना कर सकता है। इस प्रकार के बहिष्कार को अँग्रेजी में 'सैंक्शन्ज' कहते हैं

किसी ज़माने में हिन्दू समाज में नियम भंग करने वाले घटकों का हुक्का पानी बन्द कर दिया जाता था। यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाये तो इस प्रकार के बहिस्कार इस युग में सफल नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त भी, कोई समाज अपने घटकों को आज दंडित नहीं कर सकता। यदि करे तो समाज को राज्य का स्थानापन्न बनना पड़ जाएगा और यह राज्य स्वीकार नहीं कर सकेगा।

एक परिवार का उदाहरण लिया जा सकता है। यदि किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिवार में कोई परिवार का सदस्य परिवार के बड़े का कहा न माने तो अधिक से अधिक परिवार उससे मेल-मुलाकात बंद कर सकता है। उसको परिवार से पृथक् कर सकता है। पिता उसको उत्तराधिकार से वंचित कर सकता है। परन्तु न तो पिता, न ही परिवार के अन्य सदस्य बलपूर्वक उसको परिवार के रीति-रिवाजों का पालन करने पर विवश कर सकते हैं। बल-प्रयोग हो नहीं सकता। कारण, बल का प्रयोग सरकार ने अपने अधिकार में कर रखा है।

जो बात परिवार के लिए सत्य है, वही बात समाज के अन्य अंगों एवं समुदायों के लिये सत्य हो सकती है। एक अन्य उदाहरण लिया जा सकता है। सिक्ख समुदाय में सिर पर केश रखना समुदाय के नियमों में है। किसी कारण से अथवा अकारण यदि कोई सिक्ख केश कटवा दे तो सिक्ख समुदाय इसको पसन्द नहीं करता। इसको पसन्द करना अथवा न पसन्द करना हमारे विचार का विषय नहीं। विचारणीय बात यह है कि सिक्ख समुदाय अपनी नपसन्दगी किस प्रकार प्रकट करे और उस नियम भग करने वाले घटक से अपनी इच्छा कैसे मनवाये? केश कटवाने वाले का बहिष्कार करना तो सिक्ख समुदाय का अधिकार है, परन्तु उसको मार-पीट कर अथवा अन्य किसी प्रकार से विवश कर केश नहीं रखवाये जा सकते। राज्य यह करने नहीं दे सकता।

हमारा यह मत है कि व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध स्वेच्छा का है। समाज में रहते हुए व्यक्ति के लिये समाज के नियमों का पालन उचित ही है, परन्तु जब भी किसी घटक को यह समझ आये कि वे नियम उसके हित में नहीं, तो उसको अधिकार होना चाहिए कि वह समाज छोड़ दे। समाज को उसके समाज छोड़ चले जाने से दुःख और असुविधा होनी स्वाभाविक है, परन्तु समाज को अपना कोप प्रकट करने का रूप क्या हो? आज सभ्य समाज में किसी भी समाज के घटक को दंड देना अथवा दंड देने के योग्य समझना केवल राज्य का अधिकार है। परन्तु राज्य तो उन अपराधों का ही दंड दे सकता है, जो सनातन अथवा सामयिक धर्मों के विरोध में किया जायेगा। किस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्ति को बांध कर किसी समुदाय अथवा समाज में रखना राज्य का काम नहीं। राज्य समाज नहीं हो सकता। यह देश में शान्ति-व्यवस्था रखने के लिए निर्माण किया गया है।

एक सुनार है। वह सुनारों की बिरादरी के नियमों का पालन नहीं करता। इस अवस्था में क्या राज्य का हस्तक्षेप वांछनीय है? क्या राज्य उस सुनार को बिरादरी के नियम पालन करने के लिए विवश करे? इसमें हमारा मत है कि यह राज्य का काम नहीं कि वह किसी को किसी भी बिरादरी में रहने को विवश करे।

जब राज्य ऐसे काम अपने हाथ में लेगा जिसके लिए उसका निर्माण नहीं हुआ, और उन कामों को करने के लिए वह बल का प्रयोग करेगा तो राज्यान्तर्गत लोग उस राज्य का भी विरोध करने लगेंगे। किसी समय योरोप में पोप कई देशों के राज्य-कार्यों में और व्यक्तियों के निजी सम्बन्धों में हस्तक्षेप करने लगा था। राजाओं के विवाह अनियमित घोषित कर दिये जाते थे। विवाह करने अथवा विवाह-विच्छेद करने की स्वीकृति नहीं दी जाती थी। परिणामस्वरूप पोप की सत्ता के विरुद्ध विद्रोह हुआ। एक बहुत बड़ी संख्या में ईसाइयों ने पोप के मत को छोड़ अपना स्वतंत्र ईसाई मत बना लिया।

मतलब यह कि समाज के किसी अंग को समाज से बाहर जाने ·. बाधा नहीं हो सकती। राज्य भी समाज का एक अंग माना गया है। समाज ने इसे बल-प्रयोग करने की स्वीकृति दे रखी है। साथ ही राज्य के अधिकार सीमित कर रखे हैं। अर्थात् राज्य बल का प्रयोग सीमित क्षेत्रों में ही कर सकता है। जब भी यह अपने क्षेत्रों को पार कर बल का प्रयोग करेगा, इसे विद्रोह का सामना करना पड़ेगा।

पोप का उदाहरण हम ऊपर लिख चुके हैं। वह उदाहरण है जब एक धार्मिक अधिकारी ने व्यक्ति के निजी कामों में हस्तक्षेप किया। हिन्दुस्तान में इससे उलट उदाहरण देखा गया है। यहां मुसलमान आए। राजनीतिक प्रभुता के अतिरिक्त मुसलमान राजाओं ने यहां के रहने वालों के धार्मिक और सामाजिक कर्त्तव्यों में हस्तक्षेप करना आरम्भ किया। जब यह हस्तक्षेप सीमा से अधिक हुआ, देश में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्रोह खड़ा हो गया। यह औरंगजेब के काल में हुआ। औरंगजेब ने हिन्दुस्तान के रहने वाले हिन्दुओं को अपना मजहब रखना दंडित करार दिया था। परिणाम यह हुआ कि देश-भर में विद्रोह खड़ा हो गया। यह ठीक है कि विद्रोह को फलीभूत होने में एक शताब्दी से अधिक समय लग गया। यह विद्रोहियों में संगठन की कमी के कारण था। परन्तु विद्रोह हुआ और एक प्रबल विद्रोह हुआ।

कभी ऐसा भी होता है कि राज्य सेना के सुसंगठित होने से पूर्ण समाज पर अथवा उसके पूर्ण कार्यों पर आधिपत्य जमा लेता है और विद्रोहियों को सफल होने में प्रबल बाधा खड़ी कर देता है। ऐसी स्थिति में समय पाकर विद्रोह भी प्रबल हो उठता है। क्रिया के समान ही उसकी प्रतिक्रिया होती है। इसका उदाहरण सन १९६५ की इंण्डोनीशिया की क्रान्ति में देखा जा सकता है। कम्युनिस्ट अधिकारियों ने वहाँ सेना के बल से अपना प्रबल आधिपत्य जमा रखा था। यहाँ तक कि लोगों का दिन-प्रतिदिन का व्यवहार भी दूभर होता चला जाता था। परिणामस्वरूप लाखों कम्युनिस्टों की हत्या हो गई और तब जाकर ही शान्ति स्थापित हो सकी।

राज्य के अतिरिक्त भी कभी किसी समुदाय में विद्रोहियों की संख्या कम होती है और समुदाय के नियम मानने वालों की संख्या बहुत अधिक। ऐसी अवस्था में यह और भी अधिक आवश्यक हो जायगा कि दोनों पक्ष एक-दूसरे के दृष्टिकोण का आदर करें। दोनों अपने-अपने मार्ग पर चलते हुए एक-दूसरे के लिए केवल सम्मति और प्रेरणा (prescription and persuasion) का ही उपाय प्रयोग करें। वे एक-दूसरे पर बल प्रयोग का प्रयत्न न करें।

यह जीवन का ढंग सर्वथा भारतीय है। हिन्दू-समाज में यह अनन्त काल से चला आ रहा है। सबको अपने विचार और आचरण में स्वतन्त्रता है। और इसमें शर्त यह है कि जो व्यवहार कोई अपने लिये पसन्द करता है, वैसा ही व्यवहार वह दूसरे के प्रति रखे।

हिन्दू शास्त्र का यह वचन है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चैवाव धार्यताम् ।
आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।।

पूर्ण धर्म का यह सार है। इसको सुनो और धारण करो। जो अपने प्रतिकूल है वह दूसरों के प्रति व्यवहार में न लाओ।

यह सिद्धान्त समाज में रहने अथवा समाज से निकलने में पथ-प्रदर्शक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकादश अध्याय

समाज और राज्य

समाज ने अपने में शक्ति का निर्माण किया था। इस शक्ति के निर्माण से प्रयोजन यह था कि समाज की (भले लोगों की) दुष्टों से रक्षा की जा सके। यह शक्ति राज्य कहलाई।

वृजिनं च नरेन्द्राणां नान्यच्चारक्षणात् परम्।[1]

अर्थात्—प्रजा की रक्षा से बढ़कर राजा के लिए और कोई धर्म ही नहीं है। और भी लिखा है—

यद्यप्यस्य विपत्तिः स्याद् रक्षमाणस्य वै प्रजाः।
सोऽप्यस्य विपुलो धर्म एवंवृत्ता हि भूमिपाः॥[2]

अर्थात्—प्रजा की रक्षा में यदि राजा के प्राण भी चले जायें तो भी यह कार्य उसके लिए महान् धर्म है। राजाओं का यही व्यवहार है।

ऐसा प्रजारक्षक राजा जहाँ न हो, वहाँ नहीं रहना चाहिए। यह भी महाभारत का वचन है। लिखा है—

नाराजकेषु राष्ट्रेषु वस्तव्यमिति रोचये।[3]

भले लोगों की रक्षा के लिये राज्य को क्या-क्या करना चाहिये? यह ही विचारणीय बात है। जो कुछ भी करना पड़े वह राज्य करे। परन्तु ऐसा करने के लिए राजा सदा ब्राह्मणों अर्थात् विद्वानों के आदेश से कार्य चलाये।

महाभारत में राजा पृथु कहता है—

१. म० भा० शा० ५७-१४; २. वही ५८-२३; ३. वही ६७-५;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्राह्मणा मे महाभागा नमस्या: पुरुषर्षभा: ।।[1]

(हे नरों में श्रेष्ठ महात्माओ ! ब्राह्मण मेरे लिए सदा वन्दनीय होंगे ।)

इससे एक बात यह स्पष्ट हो गई कि ब्राह्मण (विद्वान) तथा ब्राह्मणों का निर्माण राजा तथा राज्य के अधीन नहीं होना चाहिए । इसी प्रकार राजा (राज्य) के अधीन देश की अर्थ-व्यवस्था नहीं हो सकती । अर्थ-व्यवस्था में अर्थ-उपार्जन और अर्थ-वितरण की बात आती है ।

राजा को धन की उपलब्धि का यह प्रकार बताया है—

आददीत बलिं चापि प्रजाभ्य: कुरुदन्दन ।
स षड्भागमपि प्राज्ञस्तासामेवाभिगुप्तये ।।[2]

(बुद्धिमान राजा को प्रजाजनों से उन्हीं की रक्षा के लिए आय का छटा भाग कर के रूप में लेना चाहिए ।)

और भी लिखा है—

बलिषष्ठेन शुल्केन दंडेनाथापराधिनाम् ।
शास्त्रानीतेन लिप्सेथा वेतनेन धनागमम् ।।[3]

(प्रजा की आय का छटा भाग कर लेकर, अपराधियों को आर्थिक दंड देकर तथा शास्त्रानुसार व्यापारियों की रक्षा करके उचित रक्षा का मूल्य प्राप्त कर राजा धन-संग्रह करे ।)

अर्थात् राजा शासन करे भले लोगों की रक्षा के लिए और शस्त्रास्त्र धारण करे पापियों को दण्ड देने के लिए । इन दो कार्यों के निमित्त जो कुछ भी करणीय है, करे ।

इस कार्य के निमित्त राजा सेना, संरक्षक, सुभट्ट नियुक्त करे । राज्य-कार्य एवं आवश्यकता पड़ने पर युद्ध के लिए उसको धन संचय करना चाहिए; न्याययुक्त शासन के लिए निष्पक्ष न्यायकर्त्ता नियुक्त करने चाहिएँ; सब से अधिक, धर्म की विवेचना के लिए धर्मशास्त्रियों की नियुक्ति करनी चाहिए ।

यह एक अति संक्षिप्त झलक भारतीय राज्य-प्रणाली की लिखी

१. वही ५९-१०९ २, म० भा० शा० ६९-२५; ३. वही ७१-१०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। राजा राज्य का प्रतीक है। प्रजा पालन के लिए उसकी सृष्टि हुई है। ब्राह्मण (विद्वान) वर्ग राजा का परामर्शदाता है। ब्राह्मण का अर्थ विद्वानों से है। धनोपार्जन करने वाला वैश्य कहाता है। उससे राजा आय का छटा भाग कर ले। न्याय-कर्त्ता, राजा और राज्य से सर्वथा स्वतन्त्र हो और ब्राह्मण निर्माण का कार्य भी राजा तथा राज्य के हाथ में न हो।

महाभारत के भीष्म पर्व के अध्याय ६९ में राजा (राज्य) द्वारा करने योग्य कार्यों की सूची लिखी गई है। वह हम अपने पाठकों की जानकारी के लिए यहाँ लिख देना चाहते हैं।

(१) राजा अपने मन एवं शरीर पर नियन्त्रण रखे। जो राजा अपने-आपको नहीं जीत सकता, वह शत्रुओं को क्या जीतेगा! अर्थात् राजा अथवा राज्याधिकारी को संयमी होना चाहिए।

(२) किलों (छावनियों) में, राज्य की सीमा पर अथवा नगरों में खुले स्थानों पर सेना रखनी चाहिए। पड़ावों पर, नगरों में, राज्य-भवन में तथा उसके आसपास सेना रखनी चाहिए।

(३) भली-भाँति परीक्षा किए हुए बुद्धिमान परन्तु गूंगे, अन्धे, और बहरे (अर्थात् अपने कार्य से सम्बन्ध न रखने वाली बातों के विषय में मौन, न देखने और सुनने वाले) लोग गुप्तचर के रूप में नियुक्त करे। ये गुप्तचर मन्त्रियों और राजा के मित्रों पर भी काम करें। वे गुप्तचर जहाँ अपने राज्य और अपने नागरिकों पर नियुक्त हों, वहाँ शत्रुओं की गतिविधियाँ जानने के लिए भी नियुक्त किये जाएँ।

(४) अनेक शास्त्रों के ज्ञाता ब्राह्मण जो दण्ड-नीति में निपुण हों, उनको मन्त्री बनाए। प्रत्येक कार्य में प्रथम नीति-शास्त्र के तत्त्वों को जानने वाले विद्वान ब्राह्मणों से राय करे। तब नीतिज्ञ क्षत्रियों से अभीष्ट कार्य के विषय में पूछे, तदनन्तर अपने (राज्य के) हित में लगे वैश्य एवं शूद्रों से विचार-विनिमय करे। तब कार्य करे।

(५) अपनी दुर्बलता का शत्रु को पता चलने से पूर्व ही संधि कर लेनी चाहिए। यदि इस संधि से कोई कार्य सिद्ध होता हो तो यह और भी आवश्यक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(६) गुणवान, उत्साही, धर्मज्ञ तथा साधु पुरुषों को सहयोगी बनाकर धर्मपूर्वक राष्ट्र की रक्षा करने वाला राजा (राज्य) बलवान राज्यों के साथ सन्धि स्थापित करे।

(७) यदि पता चले कि कोई हमारा (राज्य का) उच्छेद कर रहा है तो बुद्धिमान राजा उसका और उसमें कोई राज्याधिकारी हो तो तुरन्त उसका सर्वनाश कर दे।

(८) राजा न तो किसी का उपकार करे, न किसी का अपकार करे। जिसका उच्छेद करना भी आवश्यक न हो, उसकी भी उपेक्षा करे।

(९) बल और पराक्रम से हीन राजा (राज्य) भी अपने से अत्यन्त शक्तिशाली नरेश (राज्य) के अधीन कभी न रहे। उसे चाहिए कि गुप्त रूप से प्रबल शत्रु को क्षीण करता रहे।

(१०) राज्य का हित चाहने वाले राजा को सदैव युद्ध को टालने का प्रयत्न करना चाहिए। साम, दाम, भेद इन तीनों उपायों का प्रयोग करे।

(११) प्रजा से उनकी रक्षा के निमित्त आय का छटा भाग कर ले। मत्त, उन्मत्त, दस्यु, तस्कर, प्रतारक, शठ, लम्पट, जुआरी, कृत्रिम (छली), घूसखोर इन दस प्रकार के अपराधियों से दण्ड-कर प्राप्त करे और उसे पुरवासियों (भले लोगों) की रक्षा के लिये प्रयोग करे।

(१२) राजा अपनी प्रजा को पुत्र-पौत्रों की दृष्टि से देखे, परन्तु जब न्याय करने का अवसर आये तो किसी का पक्षपात न करे।

(१३) न्याय करते समय वादी, प्रतिवादी की बातों को सुनने के लिये अपने पास सर्व-दर्शी विद्वान पुरुषों को बैठाये। शुद्ध न्याय पर ही राजा की प्रतिष्ठा है।

(१४) सोने आदि की खान, नमक, अनाज आदि मण्डियों पर, नाव घाट तथा हाथियों के यूथ इत्यादि इन सब स्थानों पर अपना (राज्य का) हितचिन्तन करने वाले विश्वसनीय पुरुषों को नियुक्त करे।

(१५) राजा (राज्य) को किसी का वित्त (आय का स्रोत) छीनना नहीं चाहिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार राजा अथवा राज्य के करने योग्य कार्य बताये हैं। इनमें ध्यान रखने योग्य बात यह है कि राजा अथवा राज्य को स्वयं ब्राह्मण तथा वैश्य बनने के लिये नहीं लिखा।

इसके विपरीत भारतीय नीतिशास्त्र में लिखा है—

क्षत्रियस्यापि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि भारत।
दद्याद् राजन् न याचेत यजेत न च याजयेत्॥
नाध्यापयेदधीयीत प्रजाश्च परिपालयेत्।
नित्योद्युक्तो दस्युवधे रणे कुर्यात् पराक्रमम्॥[१]

(क्षत्रिय दान तो करे, परन्तु किसी से याचना न करे। स्वयं यज्ञ करे, परन्तु दूसरे से यज्ञ न कराये। स्वयं अध्ययन तो करे परन्तु अध्यापक न बने। प्रजाजनों का सब प्रकार से पालन करे और लुटेरों, डाकुओं का वध करने के लिए तैयार रहे।)

और भी लिखा है—

स्वेषु धर्मेष्ववस्थाप्य प्रजाः सर्वा महीपतिः।
धर्मेण सर्वकृत्यानि शमनिष्ठानि कारयेत्॥[२]

(राजा समस्त प्रजाओं को अपने-अपने धर्मों में स्थापित करके उनके द्वारा शान्तिपूर्ण समस्त कार्यों का अनुष्ठान करावे।)

यह है राज्य की भारतीय कल्पना।

परन्तु आज समाजशास्त्री समाज और राज्य का सम्बन्ध इससे भिन्न मानते हैं। वर्तमान युग में दो विचारधाराएँ चल रही हैं। एक विचारधारा समाजवादियों की है। उनका कथन है कि राज्य पूर्ण समाज की प्रतिनिधि संस्था होने से समाज के पूर्ण कार्यों पर अधिकार रखता है। दूसरी विचारधारा है व्यक्ति की स्वतन्त्रता के उपासकों की। वे समझते हैं कि राज्य भी मानवों की अनेक समाजों में एक समाज है। जैसे मानवों की प्रत्येक समाज का अपना-अपना कार्य-क्षेत्र है, वैसे ही राज्य का भी एक क्षेत्र है।

यह दूसरी विचारधारा सिद्धान्त रूप में राज्य की भारतीय कल्पना से मिलती-जुलती है। यद्यपि दोनों में अन्तर है, परन्तु वह अन्तर इस

१. महा भा० शा० ६०-१३,१४; २. वही ६०-१९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्धान्त में नहीं; वह राज्य के कार्य-क्षेत्र की व्याख्या में है। व्याख्या में भी अन्तर आज मनुष्यों में यातायात के तथा विचार-विनिमय के साधनों में विकास हो जाने के कारण उत्पन्न हुआ है।

समाजवादियों की राज्य-सम्बन्धी विचारधारा के विषय में हम समाजवाद के सिद्धान्त एवं व्याख्या के विषय में लिखते समय बताएँगे। यहाँ हम वर्तमान युग के व्यक्तिवादियों की बात लिख रहे हैं, जिससे पाठक भली-भाँति वर्तमान-युगीन राज्य की तुलना भारतीय राज्य की कल्पना से कर सकें।

राज्य सांस्कृतिक संस्थान (Cultural organization) नहीं हो सकता।

उदाहरण के रूप में राज्य किसी राज्य में रहने वाले लोगों से एक भिन्न वस्तु मानी जानी चाहिए। जब हम कहते हैं कि भारत ने पश्चिमी जर्मनी से इतने करोड़ रुपए के ऋण की सन्धि की है तो हमारा अभिप्राय भारत के राज्य से होता है। परन्तु जब हम कहते हैं कि भारत यौन-सम्बन्धों की पवित्रता और स्थिरता में विश्वास रखता है तो हमारा अभिप्राय भारत राज्य से पृथक्, भारत में रहने वाली समाज से होता है। राज्य ने तलाक़ का कानून पास किया है परन्तु यह भारत के रहने वालों की संस्कृति का प्रतीक नहीं भी हो सकता।

श्री मैकिवर अपनी पुस्तक सोसायटी में लिखते हैं—

While not denying tnat the state has an important cultural role, we think it is more appropriately conceived as a part, and indeed a major part, of the apparatus of civilization.[1]

(इस बात से इनकार न करते हुए कि राज्य सांस्कृतिक विषयों में एक आवश्यक भाग लेता है, इस पर भी हमारा विचार है कि यह सांस्कृतिक संस्थाओं के काम का भाग मात्र है और एक अत्यावश्यक भाग है।)

1. R. M. Maciver And Charles H. Page—Society (1962) p. 454

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय मत यह है कि जो संस्कृति ब्राह्मण वर्ग (intelligent and learned class) निर्माण करता है, राज्य का कार्य उसका प्रसार करना है। राज्य इन कार्यों में संस्कृति का निर्माता नहीं हो सकता, न होना चाहिए। यही अभिप्राय है राजा से ब्राह्मण वर्ग को वन्दनीय मानने का।

वर्तमान युग के समाजशास्त्री राज्य के सुधारक होने में आपत्ति इस कारण करते हैं कि—

(१) राज्य का कार्य-क्षेत्र समाज के क्षेत्र से छोटा होता है। समाज में कई संस्थान हैं जो राज्यान्तर्गत नहीं आ सकते। उदाहरणतया परिवार है, पन्थ, मजहब, मजहबी स्थान है; इतिहास का ज्ञान-प्रसार है; ज्ञान-विज्ञान का क्षेत्र है।

(२) राज्य समाज में बलप्रयोग का एकमात्र साधन है।

मिस्टर मैकिवर लिखते हैं—

The state is distinguished from all other assoeiations by its exclusive investment with the final power of coercion.[1]

(राज्य मानव समाज के अन्य संस्थानों से भिन्न है, कारण यह है कि यह बलप्रयोग करने का अन्तिम अधिकारी है।)

राज्य का प्रभाव शक्ति होता है। इस कारण इसकी प्रेरणात्मक शक्ति सीमित होती है। समाज के दूसरे संस्थान अपनी बात प्रेरणा और सम्मति (persuasion and prescription) से मनवाते हैं। परन्तु राज्य की बात मनवाने के लिए पुलिस और सेना होती है। इस कारण समाज के प्रायः कार्यों में राज्य एक अनुपयुक्त साधन है। समाज के प्रायः संस्थान, स्वतन्त्र मानवों के स्वेच्छा से मिल बैठने के स्थान हैं।

इस कारण यह आवश्यक है कि राज्य का कार्य-क्षेत्र उन बातों तक ही सीमित रहे, जिनको करने के लिए बलप्रयोग की आवश्यकता हो। उदाहरण के रूप में चोरों को पकड़कर दण्ड देना राज्य का कार्य है, परन्तु एक विद्यार्थी अर्थशास्त्र पढ़े अथवा रसायनशास्त्र पढ़े,

1. Ibid p. 456

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह बताना राज्य का कार्य नहीं। और यह बताना भी राज्य का कार्य है कि किसी नगर में कोई सड़क पर न सोए, परन्तु कोई मकान की छत पर सोए अथवा छत के नीचे सोए, इस विषय में राज्य विधान नहीं बना सकता।

अनातोले फ्रांस समाजवादियों पर हँसी उड़ाते हुए लिखते हैं—

In its majestic equality forbids the rich as well as the poor to sleep in the streets and to beg bread[1].

(अपनी शाहना समता में यह धनी और निर्धन दोनों को सड़क के किनारे सोने और भीख माँगने से मना करता है।)

कहने का अभिप्राय यह है कि राज्य सब कार्य नहीं कर सकता। यह क्या कर सकता है? उस सन्दर्भ में कामों की श्रेणियाँ बना दी गयी हैं। प्रथम श्रेणी में वे काम हैं जो राज्य ही कर सकता है। उदाहरण के रूप में राज्य ही समाज में शान्ति-व्यवस्था स्थापित कर सकता है। राज्य ही धर्म (Law) स्थापित कर सकता है। सर्वसाधारण के कामों के संचालन के नियम राज्य ही बना सकता है। सब मानवों को समान मिलने वाली सुविधाएँ राज्य ही दिला सकता है। सब के साँझे कर्तव्य और नियम राज्य ही नियत कर सकता है। सबके लिए समान अवसर राज्य ही दिला सकता है। देश में वज़न, लम्बाई इत्यादि के सर्वमान्य माप-दण्ड (measure and weight) राज्य ही स्थिर कर सकता है। निम्नतम जीवन स्तर का निश्चय भी राज्य ही कर सकता है। अधीनस्थ अधिकारियों के अधिकार राज्य ही नियत कर सकता है। समाज के भिन्न-भिन्न संस्थानों में ताल-मेल राज्य ही बैठा सकता है।

State, in short is the guarantor and the guardian of public order. संक्षेप में, राज्य जनता में शांति-व्यवस्था स्थापित रखने के लिए वचन बद्ध है।

भारतीय विचारधारा में राज्य को धर्म की स्थापना के निमित्त माना गया है। धर्म मनुष्यों के कर्तव्य और अधिकारों की रूप-रेखा

1. Ibid. p. 460;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बांधता है।

कार्यों की दूसरी श्रेणी में वे कार्य आते हैं जो राज्य दूसरों से अधिक योग्यता से कर सकता है। इनमें वे कार्य आते हैं जो नागरिक जीवन के लिए करने आवश्यक हैं और जो निजी उद्योग private-enterprises के आश्रय सुचारू रूप से नहीं चल सकते। इन कामों को अंग्रेजी में (essential services) कहते हैं। उदाहरण के रूप में नगर में सफाई का प्रबन्ध, जल, वायु, बिजली, सड़कों को कार्य-रूप में रखना इत्यादि काम हैं। इसी प्रकार के कामों में छोटे बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा भी आ सकती है। ये कार्य दूसरे लोग कर तो सकते हैं परन्तु राज्य कुशलता से करेगा।

कार्यों की तीसरी श्रेणी में वे कार्य आते हैं जिनके लिए राज्य उपयुक्त कार्यकर्त्ता नहीं है। उदाहरणतया, व्यापार, उद्योग, सामाजिक-सम्बन्ध (पति-पत्नी, पिता-पुत्र, मित्र-मित्र, एवं शत्रु-शत्रु में) मानव की उच्च आकांक्षाओं (loftier aspirations) एतदर्थ उच्च शिशा, विशेषज्ञों का निर्माण इत्यादि। ये कार्य राज्य कर तो सकता है, परन्तु राज्य इन कामों के करने के योग्य नहीं है। वह इन कामों को अयोग्यतापूर्ण ढंग से ही करेगा।

कार्यों की चौथी श्रेणी है, वह जिसमें राज्य हस्तक्षेप कर हानि कर सकता है। उदाहरणत: मनुष्यों की विचार करने की सामर्थ्य; विचार-प्रसार की सुविधा; मनुष्य की, मन को अधीन रखने की सामर्थ्य; मनुष्य की मानसिक और शारीरिक सफाई तथा चरित्र-निर्माण, मोक्ष-प्राप्ति के उपाय, (मत, पंथ) इत्यादि।

इस प्रकार राज्य का कार्य-क्षेत्र क्या हो, इसका निर्णय किया जा सकता है। राज्य की भारतीय कल्पना में राज्य को धर्म-व्यवस्था स्थापित करने के निमित्त लिखा है। धर्म उन कार्यों को कहते हैं जिनमें मनुष्य का मनुष्य से सम्बन्ध बनता है। परन्तु राज्य को धर्म-निर्माता नहीं माना, अपितु इसको धर्म-व्यवस्थापक ही माना है।

हमने धर्म के अध्याय में लिखा है कि स्थायी धर्म तो सनातन हैं। इनमें परिवर्तन नहीं होते। अस्थायी धर्म, काल, अवस्था आयु एवं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिस्थितियों के अनुसार निश्चय किये जाते हैं। शर्त केवल यह है कि ये अस्थायी धर्म न तो सनातन धर्म के विरोधी हों, न ही विरोध की अवस्था उत्पन्न कर सकते हों।

अस्थायी धर्म जब नियत हो जाते हैं तो राज्य इनके अनुसार व्यवस्था स्थापित करता है। इनको नियत कौन करता है? भारतीय विचार से धर्म की व्यवस्था देने का अधिकार ब्राह्मण (विद्वान) वर्ग के धर्म-शास्त्रियों को है।

इनकी नियुक्ति हो अथवा इनका निर्वाचन हो? यह इस पुस्तक का विषय नहीं। प्रजातन्त्रात्मक पद्धति के विषय में लिखी पुस्तकें ही इस विषय पर प्रकाश डाल सकती हैं। यहाँ तो केवल इतना कहने से ही अभिप्राय है कि धर्म (मनुष्यों के परस्पर व्यवहार) के दो रूप हैं।

राज्य समाज की प्रत्येक गतिविधि में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं रखता। समाज राज्य से बड़ा है। राज्य समाज में सर्वाधिकार सम्पन्न (sovereign) संस्थान हो नहीं सकता।

यह प्रश्न सदा से चला आ रहा है कि राज्य पर नियंत्रण कैसे रखा जाए? जब किसी को सेना तथा पुलिस रखने की स्वीकृति मिल सकती है और वर्तमान युगीन विज्ञान से निर्मित शस्त्रास्त्र, सेना और पुलिस के हाथों में पहुँच जाते तो फिर देश में समाज उस सेना के स्वामी की दया पर निर्भर हो जाता है। तो फिर किस प्रकार राज्य पर नियंत्रण रखा जाए कि वह अपने अधिकारों की सीमा से बाहर न निकल सके।

मंत्री-मंडल, प्रजा के संगठन, संसद, विधान सभायें इत्यादि राज्य पर नियन्त्रण के निमित्त ही होती हैं।

उदाहरण के रूप में जब संसद दण्ड-विधान में यह स्वीकार करती है कि चोर को सात वर्ष तक के कारावास का कठोर दण्ड दिया जा सकता है तो संसद वास्तव में राज्यधिकारियों की सामर्थ्य पर सीमा बाँधती है। अर्थात् वे सात वर्ष से अधिक उस अपराध का दण्ड नहीं दे सकते। इसी प्रकार दूसरी बातों में भी समझ लेना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहने का अभिप्राय यह है कि राज्य सर्वाधिकार सम्पन्न संस्था नहीं है। इसके अधिकारों की सीमा है और वह सीमा कौन बांधे, कैसे बांधे और क्या बाँधे, यह समय और परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

इस अध्याय में हमने यह बताने का यत्न किया है कि राज्य समाज का एक अंग मात्र है। राज्य के अधिकार की सीमा होती है। समाज राज्य से विशाल है।

राज्य का कार्य शान्ति-व्यवस्था बनाए रखना सर्वोपरि है। शान्ति-व्यवस्था भले लोगों को पकड़कर जेल में बंद कर रखने से सहज ही हो सकती है, परन्तु ऐसी शान्ति-व्यवस्था से राज्य का कर्तव्य-पालन नहीं होता। अतः शान्ति-व्यवस्था के साथ न्याययुक्त विशेषण लगाना अत्यावश्यक है। शान्ति न्याय-संगत होनी चाहिए। यदि किसी व्यवस्था से अन्याय की सृष्टि होती है, तो वह शान्ति नहीं कही जा सकती।

न्याय क्या है? इसका निर्णय कौन करे? और यह निश्चय हो जाने पर कि अमुक बात न्याय-संगत है और दूसरी बात अन्याय-संगत, कौन इसकी व्यवस्था दे? ये सब बातें आगे चलकर लिखेंगे। यहाँ तो इतने से ही तात्पर्य है कि शान्ति-व्यवस्था न्याय-संगत होनी चाहिए और उसके अनुकूल राज्य कार्य करे।

इतना और समझ लेना चाहिए कि न्याय वह नहीं जो बहुसंख्यक लोग न्याय मानते हैं। अभिप्राय: यह कि एक बात वयस्क मतदान से निर्वाचित संसद निर्णय करती है। क्या वह सदा न्याय पूर्ण हो सकती है?

इसमें हमारा यह मत है कि मतदान न्याय-अन्याय का सूचक नहीं हो सकता। इसका मापदण्ड जनमत भी नहीं।

न्याय का आधार कुछ और है।

भारतीय विचार इसमें यह है कि धर्म ही न्याय है। धर्म के कुछ आधार-भूत अंग हम धर्म के अध्याय में वर्णन कर चुके हैं। उसके अतिरिक्त मनुस्मृति में धर्म की एक और व्याख्या लिखी है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेद: स्मृति: सदाचार: स्वस्य च प्रियमात्मन: ।
एतच्चतुर्विधं प्राहु: साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ।।[1]

वेद (ज्ञान), स्मृति (law-books), सदाचार (श्रेष्ठ पुरुषों का आचरण), और स्व-सन्तोष—ये धर्म के चार लक्षण हैं।

धर्म, ज्ञान-विज्ञान का विरोधी नहीं हो सकता। धर्म, शास्त्र, जिनमें व्यवहार की बातें लिखी हों, के विपरीत नहीं हो सकता। स्मृति (कानून की पुस्तकें) संसदीय निर्णय नहीं हो सकती। धर्म तो संसद का पथ-प्रदर्शक होगा। धर्म संसद की दया पर नहीं छोड़ा जा सकता। इसके अतिरिक्त श्रेष्ठ जनों का व्यवहार भी धर्म का लक्षण हो सकता है।

प्रमुख बात यह है कि यदि किसी मनुष्य को इन तीनों बातों से सन्तोष न हो तो उसके लिए संसार से उपराम होकर समाज का त्याग कर साधु हो जाना भी धर्म है।

समाज के परित्याग का अधिकार तो मनुष्य को सदैव रहता है।

राज्य का कार्य न केवल राज्यान्तर्गत शान्ति और न्याय की व्यवस्था स्थापित करना है, वरं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी न्याय-संगत शान्ति स्थापित करना है।

जैसे राज्यान्तर्गत शान्ति न्याय से पृथक् नहीं हो सकती, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में भी शान्ति और न्याय साथ-साथ ही चलने चाहियें। अन्याय-युक्त प्रबन्ध शान्ति स्थापित नहीं कर सकते।

राज्यान्तर्गत शान्ति और न्याय के उदाहरण तो नित्य देखने को मिलते हैं। भारत में ही देखें। जब अधिक हल्ला करने वालों को प्रसन्न करने के लिये शांति-प्रिय लोगों को दण्डित किया जाता है तो जो अस्थायी रूप में शांति स्थापित होती है, वह विस्फोटक बन अशांति में प्रकट होती है।

अंग्रेजी-हिन्दी के प्रश्न पर दक्षिण में हुए दंगे-फसाद इस बात का उदाहरण हैं कि न्याय और शान्ति का परस्पर मेल हो। यहाँ हम हिन्दी-अंग्रेजी के विवाद में पड़ना नहीं चाहते, परन्तु हम यह कहे बिना

१. मनु० २-१२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं रह सकते कि भारत में राष्ट्र-भाषा कौन-सी हो और क्या हो, यह दो-चार के अपने को आग लगाकर ज़ल मरने से सिद्ध नहीं होती। इसके निर्णय करने के लिये अधिक से अधिक छः मास लगने चाहिए थे। इसके निर्णय करने के अधिकारी भाषा विशेषज्ञ ही हैं।

इसमें निर्णयात्मक बात है शिक्षा के माध्यम की। जो भाषा शिक्षा का माध्यम होगी, वह निर्विवाद रूप में सरकारी काम-काज की भाषा होगी। यदि सरकारी भाषा आज जनता की बोल-चाल की भाषा होगी तो शिक्षा का माध्यम भी वही होनी चाहिये।

कुछ भी हो, इसका निर्णय किसी के जल मरने से नहीं हो सकता। कारण यह कि जल मरना न्याय का लक्षण नहीं।

यही बात पंजाबी सूबा की है। एक के जल मरने से सरकार का रक्त-चाप बढ़ जाना न्याय का सूचक नहीं। इस सबका एक ही परिणाम निकलता है कि भारत सरकार शान्ति और न्याय को पृथक्-पृथक् रखकर विचार करती है और शान्ति बनाये रखने के लिए न्याय, सत्य इत्यादि धर्म-लक्षणों की हत्या करने के लिए तैयार हो जाती है।

यही बात अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में भी हो सकती है। उदाहरण के रूप में कश्मीर के विषय पर सुरक्षा परिषद् का व्यवहार जो १९४८ से १९६५ तक रहा, न्याय और शान्ति को पृथक्-पृथक् देखने का परिणाम है।

स्वेज़ नहर के विषय में श्री जवाहरलाल नेहरू, अमेरिका तथा रूस का व्यवहार भी न्याय और शान्ति को पृथक्-पृथक् कर देखने का परिणाम है।

देश के अन्दर तथा बाहर शान्ति-व्यवस्था न्याय-संगत ही हो सकती है। राज्य का यह काम है कि वह इसको स्थापित करने में यत्नशील रहे।

राज्यान्तर्गत गुण्डों एवं बदमाशों को पकड़ने के लिए पुलिस अभियान चलाती है। उदाहरण के रूप में पंजाब के भूतपूर्व मुख्य मंत्री प्रतापसिंह कैरों के हत्यारों को पकड़ने के लिए पुलिस को भारी अभियान चलाना पड़ा था। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय गुण्डे राज्यों को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नियंत्रण में रखने के लिए भी भले राज्यों को अभियान चलाने चाहिएँ। इन अभियानों का नाम युद्ध है। ये युद्ध (Wars) पाप नहीं हैं। ये इतने ही पुण्य हैं, जितने किसी हत्यारों के दल को पकड़ने के लिए लाठियाँ, बन्दूकें और आँसू लाने वाली गैस के गोले लेकर चलाया पुलिस का अभियान।

यह ठीक है कि अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में कोई एक राष्ट्र अकेला शान्ति-व्यवस्था तथा न्याय स्थापित नहीं कर सकता। इस पर भी अन्तर्राष्ट्रीय संघ का दृष्टिकोण केवल शान्ति स्थापित करना नहीं हो, वरं न्याय-संगत शान्ति स्थापित करना हो।

युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में आवश्यक घटनाएँ हैं। जब-जब भी इसका उद्देश्य न्याय-संगत शान्ति स्थापित करना होता है, तब-तब ही युद्ध में विजय प्रगति की प्रतीक होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वादश अध्याय

समाज, राज्य और अर्थ

अर्थ की मीमांसा हम पहले ही कर चुके हैं। यहाँ हम समाज राज्य और अर्थ का परस्पर सम्बन्ध बताना चाहते हैं। अर्थ के अध्याय में हमने यह वर्णन करने का यत्न किया था कि अर्थ वास्तव में मानव-परिश्रम का ही रूप है।

यदि गम्भीर दृष्टि से देखा जाये तो मानव-परिश्रम एक व्यक्ति की सम्पत्ति है। परन्तु व्यक्ति अपनी बहुत-सी आवश्यकताओं के लिए सामान्य रूप में समाज पर निर्भर रहता है। इस कारण उसको अपने परिश्रम का एक अंश समाज की भलाई और स्थायित्व के लिए व्यय करना चाहिये। इसी प्रकार मनुष्य परिश्रम करने में राज्य से संरक्षण पाता है। अतः उसका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि उसके परिश्रम का एक भाग राज्य को भी जाये।

यहाँ यदि हम एक उदाहरण लें तो बात भली-भाँति समझ में आ जायेगी। एक स्वर्णकार है। वह आभूषण बनाता है। भूषण बनाने में वह अपनी योग्यता और परिश्रम व्यय करता है। इस परिश्रम के बदले में भूषण पहनने वाले उसको पारिश्रमिक देते हैं।

अब देखिए। स्वर्णकार की योग्यता, उस्ताद के पास बैठकर सुनारे का काम सीखने से पैदा हुई है। जब वह काम सीख रहा था तो उसके माता-पिता अथवा सम्बन्धी उसके पालन-पोषण का तथा निवास और कपड़ों का प्रबन्ध कर रहे थे। इन दो प्रकार के लोगों के अतिरिक्त भी समाज के अन्य घटक थे जो उसके मानसिक, बौद्धिक एवं शारी-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रिक विकास में सहायता कर रहे थे। मान लीजिए स्वर्णकार का पिता सिक्ख पंथ का अनुयायी था और अपने लड़के को नियमित रूप से गुरुद्वारे में ले जाता था। वहाँ वह लड़का ग्रंथी का उपदेश और गुरु ग्रंथ साहब की शिक्षा सुनता था। परिणाम स्वरूप जब वह लड़का स्वर्णकार बन काम करने लगा तो उसके निर्माण में समाज के अनेकों की सहायता और सहयोग मिश्रित होगा। वह सुनारों की सभा का सदस्य बन जाता है और उसको अपने उद्योग में इस सभा से कई प्रकार की सुविधाएँ तथा सहायता भी प्राप्त होती है।

इस सब सहारों और सहयोग के बदले, व्यक्ति को चाहिए कि समाज को पुष्ट और उन्नत करे। समाज को वह अपनी आय का कितना भाग दे? यह विचारणीय विषय है। समाज में विभिन्न संस्थायें हैं, जिनसे उसको अपने कार्य का प्रशिक्षण तथा अन्य प्रकार का सहयोग मिला है। उसके माता-पिता, उसके सम्बन्धी तथा पड़ोसी भी इसमें सम्मिलित हैं। उसके समाज में सुनारों की सभा भी है। सबसे विशेष रूप में नगर निगम है।

इस प्रकार राज्य भी उसके जीविकोपार्जन में सहायक हुआ है। जब वह अपना तथा अपने ग्राहकों का सोना ले दूकान में बैठा भूषण बना रहा होता है, उस समय राज्य के संरक्षण का उसको लाभ पहुँच रहा होता है। यदि राज्य का प्रभाव न हो तो किसी समय भी चोर, डाकू आकर उसका सब सोना लूट अथवा चुराकर ले जा सकते हैं। अतः राज्य भी उसके परिश्रम में से भाग लेने का अधिकारी है।

परिश्रम अर्थात् व्यक्ति के धन से, समाज और राज्य का सम्बध इस नाते से है। इस पर दो प्रश्न उपस्थित होते हैं कि राज्य का इसमें कितना भाग है और समाज के विभिन्न संस्थानों का कितना-कितना भाग हो सकता है? साथ ही एक प्रश्न यह है कि यह भाग कैसे दिलाया जाये? इस विषय में हम धर्म की स्थापना पर लिखते हुए बतायेंगे।

हम समाज में अर्थ-व्यवस्था (Economic System in society) पर भी प्रकाश डालना चाहते हैं। अर्थ-व्यवस्था तो संक्षेप में यह है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्य परिश्रम करे। उसको परिश्रम करने के लिए कुछ माध्यम चाहिए। माध्यम का अभिप्राय है कि परिश्रम से उपयोगी पदार्थ निर्माण करने के लिए किसी प्रकार का कच्चा माल (raw material)।

मिट्टी से इंटें बनाई जाती हैं। पत्थर से चूना बनाया जाता है। बीज और भूमि से अन्न पैदा किया जाता है। अर्थात् परिश्रम करने के लिए कुछ प्रारम्भिक पदार्थ होने चाहियें। इन पदार्थों को परिश्रम का माध्यम कहते हैं। बिना इन माध्यमों के परिश्रम किया नहीं जा सकता।

ये माध्यम-पदार्थ प्रकृति ने उत्पन्न किये हैं। मुख्य रूप में भूमि ही माध्यम है। भूमि पर खेती-बाड़ी की जा सकती है। भूमि पर ही फल, कन्द, मूल पैदा होते हैं। भूमि के भीतर से खनिज पदार्थों पर भी परिश्रम किया जा सकता है। भूमि के साथ वायु व जल भी सहायक होते हैं। अभिप्राय यह है कि मनुष्य को परिश्रम करने के लिए प्राकृतिक पदार्थों का माध्यम चाहिए। उन माध्यम-पदार्थों को परिश्रम से उपयोगी रूप दिया जाता है। यह उपयोगी रूप देना ही परिश्रम को अर्थ में बदलना है। अथात् किसी का परिश्रम माध्यम को जितना अधिक उपयोगी बना सकेगा, उतना ही अर्थयुक्त वह हो जायेगा।

कोई एक कृषक खेत में बाजरा अथवा ज्वार उत्पन्न करता है और दूसरा उसी खेत में गेहूँ अथवा गन्ना पैदा करता है। गेहूँ अथवा गन्ना उत्पन्न करने वाला अधिक उपयोगी पदार्थ पैदा करता है। इस कारण उसके परिश्रम का अधिक मूल्य होगा। इसी प्रकार इस्पात है। एक मनुष्य इससे हथौड़ा और छेनी बनाता है और दूसरा उसी इस्पात से कपड़े सीने की मशीन तैयार करता है। निःसन्देह मशीन बनाने वाले के परिश्रम का अधिक मूल्य होना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि परिश्रम माध्यम को जितना अधिक उपयोगी बना देगा, उतना ही अधिक मूल्यवान परिश्रम बन जायेगा।

इस प्रकार अर्थ-व्यवस्था में अभी तक हमने दो वस्तुओं का उल्लेख किया है। (१) परिश्रम (२) माध्यम। अर्थ-व्यवस्था यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती। एक तीसरा अंग भी है। वह है ग्राहक। यदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो मनुष्य ने अपने लिए ही अन्न पैदा करना होता, अपने लिए ही कपास पैदा कर, सूत कात, स्वयं ही कपड़ा बनाकर पहन लेना होता और इस प्रकार अपने लिए ही परिश्रम कर अपने उपयोग के अन्य पदार्थ बनाने होते, तो अर्थ-व्यवस्था में तीसरे अंग की आवश्यकता न रहती। परन्तु मनुष्य अपनी आवश्यकता के सब पदार्थ स्वयं नहीं बना सकता। इस कारण परिश्रम के विनिमय (exchange) की आवश्यकता रहती है। इसके निमित्त धन का आविष्कार किया गया और ग्राहक की आवश्यकता पड़ी।

संक्षेप में अर्थ-व्यवस्था है परिश्रम, माध्यम और ग्राहक। पूर्ण अर्थ-व्यवस्था में ग्राहक मुख्य हो गया है और परिश्रम करने वाला तथा माध्यम गौण हो गये हैं।

मुख्य से हमारा अभिप्राय यह है कि ग्राहक संसार की पूर्ण अर्थ-व्यवस्था को घुमाता है। परिश्रम करने वाला क्या पढ़े, क्या सीखे, क्या काम करे, किस माध्यम पर काम करे और किस प्रकार काम करे, इस सब का निर्णय परिश्रम करने वाला नहीं, वरं ग्राहक करता है। ग्राहक को अर्थ-शास्त्र की भाषा में मंडी (market) कहते हैं।

मण्डी भी एक पेचीदा शब्द बन गया है। वर्तमान युग में मण्डी का अभिप्राय तैयार माल का प्रयोग करने वाला केवल व्यक्ति ही नहीं रहा, प्रत्युत माल को उत्पादन-स्थान से उठाकर बिक्री के स्थान पर ले जाने वाला, थोक माल खरीदने तथा बेचने वाला, फुटकर बिक्री करने वाला ये सब मण्डी के अन्तर्गत उसके अंग बन गए हैं। इन सबमें मुख्य व्यक्ति है जो माल को खरीदकर अपने प्रयोग में लाता है। उसे उपभोक्ता (Consumer) कहते हैं।

इस औद्योगिक युग में एक बात और हुई है। माल की तैयारी में भी कई अंग बन गये हैं। प्रत्येक अंग के लिए भिन्न-भिन्न श्रमिकों के श्रम की आवश्यकता होती है। बहुत से श्रमिकों के श्रम का मिश्रण ही एक तैयार वस्तु में दिखाई देता है। जैसे अर्थ-व्यवस्था के तीसरे अंग (मण्डी) में कई अंग बन गए हैं, उसी प्रकार पदार्थ की तैयारी (उत्पादन) में भी कई अंग बन गए हैं। तैयार पदार्थ के मूल्य में अनेकों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रमिकों का श्रम मिश्रित होता है ।

जैसे एक मोटर गाड़ी है । मोटर मण्डी में पड़ी है । ग्राहक उसका मूल्य पूछता है । दुकानदार उसका मूल्य बीस हजार रुपए बताता है। इस बीस हजार रुपए में खान से कच्चा लोहा निकालने वाले, उस कच्चे लोहे को लोहे की भट्टी तक ले जाने वाले, लोहे की भट्टी को चलाने वाले सैंकड़ों श्रमिक और इन्जीनियर, तैयार लोहे को इस्पात और फिर चादरों, सलाखों, पट्टियों इत्यादि में बदलने वाले, इन सबका श्रम सम्मिलित है । इस प्रकार इस्पात से मोटर गाड़ी के सैंकड़ों कल-पूर्जों को बनाने वाले, उन पुर्जों को एकत्रित कर ज़ोड़ने (assemble) और फिट करने वाले, मोटर का अन्तिम रंग-रोगन करने वाले, गद्दे इत्यादि बनाकर लगाने वाले, इसके उपरांत मोटर को दुकान पर लाने वाले, वहाँ दुकान के क्लर्क, नौकर, एजेन्ट इत्यादि अनेकों का परि-श्रम भी इस बीस हजार में सम्मिलित है । इस दाम में भूमि का दाम, जिसमें से खनिज कच्चा लोहा निकला था और सरकारी टैक्स, नगर की चुंगी, बिक्री टैक्स, इत्यादि भी सम्मिलित हैं ।

अब अर्थ-व्यवस्था (Ecomonic System) का अभिप्राय यह हो गया है—प्राकृतिक पदार्थ (Raw moterial), उत्पादन-प्रपंच (उद्योग-यंत्र) तथा मण्डी (market) । ये तीन अंग वही हैं जिनका उल्लेख हमने माध्यम, श्रमिक एवं ग्राहक का नाम लेकर किया है। वर्तमान युग की विषमता के कारण तीनों के क्षेत्र विस्तार पा गये हैं और तीनों के नाम भी नये बन गए हैं ।

इस अर्थ-व्यवस्था का उद्देश्य है श्रमिक को अपने श्रम का मूल्य किसी ऐसे व्यक्ति के श्रम में दिलवाना, जिनमें प्रथम श्रमिक लेना पसन्द करे । मान लीजिए एक कृषक अपने खेत में उत्पन्न अन्न को बेचकर कपड़ा अथवा रेडियो खरीदना चाहता है । इससे वह बाजार में छकडा भर गेहूँ ले जाकर बेच रुपयों में मूल्य प्राप्त करता है । उन रुपयों से वह एक दूसरे बाजार में जाकर अपनी पत्नी के लिए साड़ी तथा जम्पर के लिए कपड़ा खरीद लेता है और फिर तीसरे बाजार में जाकर अपने बच्चों के सुनने के लिए रेडियो खरीद लेता है । इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सब का प्रबन्ध ही वर्तमान युग की अर्थ-व्यवस्था है।

एक अन्य उदाहरण लीजिए। एक मोटर साईकल के कारखाने में काम करने वाला फिटर तीन सौ रुपया वेतन लेकर अपनी पत्नी और बच्चों के साथ सिनेमा देखना चाहता है। वह कुछ रुपयों को जो उसके श्रम का रूप ही है, देकर सिनेमा के टिकट खरीद सकता है। होटल में जाकर चाय और पेस्टरी खा सकता है। वह पत्नी के लिए सैण्डल अथवा छोटे बच्चों के लिए खिलौने खरीद सकता है। इस सब को सम्भव करने के प्रपंच को ही अर्थ-व्यवस्था कहते हैं।

मनुष्य श्रम करता है अपने सुख-भोग के लिये। सुख-सामग्री अनेक प्रकार की है और सुख-भोग भी कई प्रकार के हैं। शारीरिक आवश्यकताओं की उपलब्धि सुख प्राप्ति ही है परन्तु इसके अतिरिक्त भी कई प्रकार के सुख हैं। उदाहरणतः सिनेमा देखना, चित्रालय (Art gallery) में जाकर चित्र देखना, पहाड़ों, सागर तट अथवा अन्य दर्शनीय एवं ऐतिहासिक स्थलों को देखना इत्यादि। ये शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करते। ये मस्तिष्क और हृदय की आवश्यकताओं को पूर्ण करते हैं। इनको देख-सुनकर भी मनुष्य सुख अनुभव करता है। यही कारण है कि एक श्रमिक अपने श्रम का एक भाग इन कार्यों पर व्यय करने की इच्छा रखता है। यदि पाँव के लिए जूता आवश्यक है तो मन के लिए नाटक देखना भी आवश्यक होता है।

कुछ लोग इन दो प्रकार की आवश्यकताओं के अतिरिक्त भी किसी बात की आवश्यकता रखते हैं। जिस समय कुछ लोग नाटक-सिनेमा इत्यादि देखने के लिए जा रहे होते हैं, तो कुछ दूसरे लोग फूल, पत्र लिए मन्दिर अथवा गुरुद्वारा की ओर जाते भी दिखाई देते हैं। उनको वहाँ जाने पर ही सन्तोष अनुभव होता है। यह आत्मा की भूख है और इसकी तृप्ति मन्दिर गुरुद्वारा, गिरजाघर, इत्यादि में जाने से होती है।

कुछ भी हो, श्रम करने का प्रयोजन उक्त प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति ही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्तमान-युग ने बहुत उन्नति की है परन्तु सिद्धान्त रूप में अर्थ-व्यवस्था अनादिकाल से यही रही है। इस अर्थ-व्यवस्था में लक्ष्य आवश्यकताओं की पूर्ति है, शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक।

माध्यम (कच्चा माल) श्रमिक (उत्पादन क्षेत्र) और ग्राहक (market मण्डी) इन तीनों के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं। आज की अर्थ-व्यवस्था अपने तीन अंगों को विस्तार तो दे सका है परन्तु इन तीनों के अतिरिक्त अन्य कुछ भी निर्माण नहीं कर सकी।

यान्त्रिक युग के आगमन पर उत्पादन और मण्डी में विषमता (Complexity) अवश्य आई है परन्तु सिद्धांतों में अन्तर नहीं पड़ा।

अर्थ-व्यवस्था को एक दूसरे ढंग से भी समझा जा सकता है। उपयोगी पदार्थों का उत्पादन और फिर उससे प्राप्त फल का उपयोग। ये दो धुरियाँ हैं जिन पर यह व्यवस्था चलती है। जहाँ उत्पादन में कच्चा माल और श्रम का प्रयोग होता है वहाँ उपभोग में भी कई बातें मिश्रित हैं। हमने इनको तीन श्रेणियों में विभक्त किया है। शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक उपभोग। इन उपभोगों को एक और ढंग से भी बांटा जा सकता है। अपने सुख और आनन्द के लिए तथा दूसरों के हित के लिए। इस दूसरे प्रकार के उपभोगों को परहित का नाम दिया जाता है। कई लोग इसको लोक-कल्याण का नाम भी देते हैं। यद्यपि दोनों में अन्तर है, इस पर भी अपने से अतिरिक्त होने पर स्वार्थ और परार्थ शब्दों का प्रयोग उचित होगा।

परार्थ दो प्रकार का होता है। एक है, किसी एक अथवा एक से अधिक व्यक्ति के लिए अपने श्रम के फल को देना। परन्तु उस एक अथवा एक से अधिक का निर्वाचन, देने वाला करता है। उदाहरण के रूप में एक व्यक्ति अपने पास अपनी आवश्यकताओं से बचा अथवा बचाए धन से विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति देना चाहता है। वह घोषणा करता है और छात्रवृत्ति पाने की इच्छा वालों की प्रार्थनाएं आने पर उनका निर्वाचन करता है और उनको छात्रवृत्ति देनी आरम्भ कर देता है।

बचत-धन को व्यय करने का एक दूसरा ढंग भी है। छात्रवृत्तियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए धन देने वाला स्वयं नहीं बाँटता। वह कोई अन्य योग्य व्यक्ति नियुक्त कर देता है और वह छात्रवृत्ति के अधिकारी विद्यार्थियों का निर्वाचन करता है। देने वाला स्वयं नहीं जानता कि किसको दिया जा रहा है और किसको नहीं। न ही पाने वाला जानता है कि कौन दे रहा है।

दोनों प्रकार से धन व्यय करने में अन्तर है। प्रथम में एक सीमा तक स्वार्थ रहता है, दूसरे में नहीं। दूसरा लोक-कल्याण अथवा यज्ञ कहाता है। प्रथम केवल परार्थ है और यदि इस परार्थ में देने वाले का स्वहित सम्मिलित हो तो यह भी स्वार्थ ही होगा।

अतः स्वार्थ और यज्ञ रूप ये दो प्रकार के उपभोग हैं।

उत्पादन में श्रम के मूल्य के बँटवारे का निश्चय करने में गड़बड़ हो सकती है। यह गड़बड़ उत्पादन यन्त्र की बढ़ती हुई विषमता के के कारण बढ़ती जा रही है। यह निर्णय करना दिन-प्रतिदिन अधिक और अधिक कठिन हो रहा है कि किसी उद्योग के मालिक से लेकर उसमें काम करने वाले भंगी चपरासी तक को कितना-कितना श्रम मिले। साथ ही श्रम का मूल्य बाजार में बने माल के मूल्यों पर निर्भर करता है।

एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न स्थानों पर और भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न मूल्य पर बिकती है। उस मूल्य का ही तो उत्पादन-क्षेत्र में लगे हुए मनुष्यों में वितरण होना है। अतः मशीन युग में जहाँ निर्माण विषम हो रहा है वहाँ वितरण (बिक्री) में भी कठिनाई उत्पन्न हो रही है। बने पदार्थों के लिए बाजार ढूंढे जा रहे हैं, बाजार में ग्राहकों की रुचि उत्पन्न करने का यत्न किया जा रहा है और फिर ग्राहकों की जेब में खरीदने के लिए पैसा बनाने की आवश्यकता हो रही है। मशीनों से एक ही प्रकार के बहुत मात्रा में पदार्थ बन जाते हैं। उस एक ही प्रकार के पदार्थों को खरीदने के लिए ग्राहकों में रुचि उत्पन्न करने के हेतु विज्ञापन और अनेक प्रकार के आकर्षण प्रस्तुत किये जा रहे हैं। दूर-दूर देशों में माल ले जाकर बेचने का यत्न किया जा रहा है।

इस सब का परिणाम यह हो रहा है कि मूल श्रमिकों का भविष्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनिश्चित हो जाता है। वे नहीं जानते कि कब उनको काम से पृथक् कर दिया जाएगा और कब तक बेकार बैठा रहना पड़ेगा। साथ ही यह भी सम्भव है कि जिस काम की योग्यता उसने प्राप्त की है, उसकी बाज़ार में आवश्यकता भी रहेगी अथवा नहीं।

अतः इस आर्थिक व्यवस्था पर नियन्त्रण और इसके पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता अनुभव हुई है। इस नियन्त्रण में निम्न बातें आती हैं।

(१) किसी कारखाने में पूंजी लगाने वालों और उत्पादन करने वालों में आय का उचित बँटवारा। पूंजी में कच्चे माल का मूल्य, कल कारखाने का मूल्य, माल का बाज़ार में जाकर बिकने और धन के लौटने में धन का बंधा रहना इत्यादि बातें आती हैं। इन सब में धन लगा रहता है और यह, चाहे तो बैंक से ऋण लिया जाए चाहे कारखाने के मालिकों के हिस्सों (shares) का हो, अपना मूल्य रखता है। यह धन भी तो किसी के श्रम का ही रूप है और उस श्रम का प्रयोग करने का मूल्य अर्थात् व्याज देना होता है। साथ ही उद्योग में हानि हो जाने का अथवा किसी दुर्घटना से पूंजी के विनष्ट हो जाने का भय भी रहता है। इसका विचार भी पूंजी लगाने वाले को करना पड़ता है।

(२) दूसरी ओर उद्योग में श्रम करने वाले अनेक प्रकार और अनेक योग्यता के लोग होते हैं। उनमें भी आय का बँटवारा अर्थात् उनके वेतन के परस्पर अनुपात पर नियन्त्रण होना चाहिए।

(३) वस्तुओं के मूल्यों पर भी नियन्त्रण की आवश्यकता रहती है। कई बार यह हो जाता है कि वस्तु (Commodity) का बाज़ार में स्वाभाविक अथवा कृत्रिम कारणों से अभाव हो जाता है और उस अभाव में वस्तु के मूल्य बहुत बढ़ जाते हैं। यदि यह वस्तु जीवन के लिए आवश्यक हो अथवा कृत्रिम कारणों से आवश्यक बन गई हो तो ग्राहकों को भारी कष्ट होने लगता है। अतः मूल्यों को नियन्त्रण में रखना भी आवश्यक है।

(४) कभी एक ही प्रकार की वस्तुओं को बनाने वाले अधिक हो जाते हैं और इससे बाज़ार में वे वस्तुएँ इतनी अधिक हो जाती हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि खरीदने वाले नहीं मिलते। अतः वस्तुओं का मूल्य गिर जाता है और कारखानों को हानि होने लगती है। इससे श्रम करने वाले बेकार होने लगते हैं। इस कारण वस्तुओं के उत्पादन पर भी नियन्त्रण अथवा पथ-प्रदर्शन (Guidance) की आवश्यकता रहती है।

यह हमने बताया है कि इस प्रकार के नियन्त्रणों की आवश्यकता समाज की अर्थ-व्यवस्था चालू रखने के लिए है। यदि अर्थ-व्यवस्था अवरुद्ध हो जाए तो समाज में भुखमरी व्याप्त हो जाने की सम्भावना है। प्रश्न यह है कि ये नियन्त्रण क्या हैं और इनको कौन लागू करे ? पूर्ण अर्थ-व्यवस्था में कौन सम्मतिदाता हो और उसके क्या अधिकार हों ?

यह हम पहले बता चुके हैं कि वर्तमान यांत्रिक युग में दिन-प्रति-दिन प्रगति हो रही है। प्रगति की दिशा यह है कि मानव-परिश्रम की आवश्यकता कम हो रही है और मानव-परिश्रम के स्थान पर मशीनों से अधिक काम लिया जाने लगा है। जहाँ हाथ के करघे पर एक जुलाहा दिन में पाँच से दस गज तक कपड़ा बुन सकता था, वहाँ इस शताब्दी के आरम्भ में बनी मशीनों से एक मशीन पर काम करने वाला पचास से साठ गज़ बुनने लगा था और अब स्व-नियन्त्रित मशीनों से एक मशीन पर काम करने वाला तीन मशीनों पर काम कर सकता है और डेढ़ से दो सौ गज कपड़ा एक दिन में तैयार कर सकता है। उसका अभिप्राय यह है कि प्राचीन काल के अनुपात में एक काम करने वाला तीस आदमियों का काम करने लगा है। यदि कपड़े की खपत तीस गुणा अधिक नहीं हो जाती तो उनतीस व्यक्ति बेकार हो जायेंगे। कपड़े की खपत की सीमा है। इस सीमा को बढ़ाने के लिए शीघ्र फटने वाला कपड़ा बनाना चाहिए और कपड़े के खरीदने की सामर्थ्य बढ़ानी चाहिए।

शीघ्र फटने वाला कपड़ा लोग स्वीकार कर सकें इसके लिए कपड़े हलके, सुन्दर और रंग-बिरंगे बनाए जाने लगे हैं। लोगों के खरीदने की सामर्थ्य बढ़ाने के लिये अन्न का दाम बढ़ाया जाता है। अन्न का दाम बढ़ने से सब प्रकार की वस्तुओं के दाम बढ़ जाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस वस्तुस्थिति में एक नयी समस्या उत्पन्न हो रही है। वह है उपभोक्ताओं के पास रुपया अधिक हो अथवा न। यह स्मरण रखना चाहिये कि रुपया अधिक होने से कोई धनवान नहीं होता। धनवान् होने का अर्थ आपद्‌काल में आपद् को टालने कीसामर्थ्य अधिक होना है। अतः जब हम यह कहते हैं कि रुपया अधिक हो तो हमारा अभिप्राय उपभोक्ताओं की वस्तुओं को खरीदने की सामर्थ्य मात्र से है। धनवान होना खरीदने की सामर्थ्य रखने से भिन्न बात है। यदि धन अधिक का अभिप्राय मनुष्य के पास बचा धन है जो वह कुसमय पर प्रयोग कर सकता है, तो मूल्यों की वृद्धि के अनुपात से व्यय करने की रुचि कम रहनी चाहिये।

एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जाएगी। एक किसान के पास दस एकड़ भूमि है। उसकी उपज से उसको वर्ष में बीज, खाद, सिंचाई तथा नौकरों की उजरत देने के उपरान्त ढाई सौ रुपया बचता था। उस समय अनाज रुपये में बीस सेर बिकता था। वह उस ढाई सौ में से पचास रुपया भूषणों तथा मकान के रूप ये रख सकता था। आज अनाज रुपए में तीन सेर बिकने लगा है। और सब प्रकार के खर्चे देकर उसके पास एक हजार रुपया बचना चाहिए। परन्तु अब तो नए खर्चे इतने प्रकार के बन गए है कि उसके पास कुछ बचने के स्थान उसको कुछ उधार लेना पड़ता है। तो वह निर्धन हो गया मानना होगा। यद्यपि इस समय उसके खरीदने की सामर्थ्य बढ़ गयी है। पहले वह वर्ष में दो कुर्ते बनवाता था तो अब छः बनवा रहा है। पहले खेत की मींड़ पर बाँसुरी बजाकर मनोरंजन कर लेता था तो अब घर में रेडियो रख विलायत खाँ का सितार वादन सुनने से ही उसका मनोरंजन हो सकता है।

हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि क्रय-शक्ति (Purchasing power) बढ़ जाने से किसी को धनवान हो गया मानना ठीक नहीं। धनवान तो वह है जो किसी अवसर पर अपनी जमा पूँजी में से निकालकर व्यय कर सके।

वर्तमान यांत्रिक युग में बढ़ती हुई उपज के साथ जन-साधारण की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रय-शक्ति बढ़नी भी आवश्यक है। न केवल शक्ति बढ़नी आवश्यक है प्रत्युत उसका अधिक और अधिक क्रय करना भी आवश्यक है। इसके लिए सुन्दर और प्रेरणात्मक भाषा में विज्ञापन तथा हल्के (Fancy) आकर्षक पदार्थ और अन्य प्रकार प्रलोभनों की भी आवश्यकता है। लोग माल की बिक्री पर लाटरी डालते हैं। खरीददारों से जुआ खेला कर उनको अधिक और अधिक माल खरीदने की प्रेरणा देते हैं।

यह सब ऐसा है जो अवांछनीय है। इसको सीमा के भीतर रखने की आवश्यकता है।

आर्थिक व्यवस्था को सीमान्तर्गत रखने के लिए कई उपाय विचार किये गए हैं।

(१) सरल-सादे जीवन की प्रेरणा। यह उपाय प्राचीन भारतीय उपाय रहा है। इस युग में महात्मा गांधी इस उपाय के प्रचारक थे।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को कम-से-कम करे। अपने व्यय को अपनी आय से कम रखे। जब कोई महँगी वस्तु खरीदनी अनिवार्य हो तो उसको, दूसरों से मिलकर खरीदे और मिल-कर प्रयोग में लाए।

सरल-सादे जीवन का अर्थ यह नहीं कि मनुष्य गन्दा रहने लगे, वह शरीर की शुद्धि न करे, मकान साफ-सुथरा और स्वस्थ्य-प्रद न बनाए। सरल-सादे जीवन का अर्थ है कि यदि तीन-चार रुपए की मजबूत धोती जो वर्ष भर चल सकती है, से काम चलता है तो पतली-हल्की बारह रुपए वाली धोती जो तीन चार मास ही चलती है, न ली जाये। इस प्रकार यदि घर पर चाय-पानी और भोजन का प्रबन्ध करने पर दो रुपए नित्य में गुजर हो सकता है तो होटल में केक-पेस्टरी और लंच-डिन्नर पर बीस रुपए नित्य व्यय न किए जायें।

यदि घर का काम पत्नी कर सके तो कम खर्च बैठेगा। परन्तु पत्नी के भी दफ्तर में काम करने पर रोटी होटल में अथवा किसी नौकर द्वारा बनवाने में अधिक खर्च बैठेगा।

यह संकेत मात्र विवरण है सरल-सादे जीवन का। परन्तु सरल जीवन का यह अर्थ नहीं कि आय में कमी की जाए। आय बढ़ाने के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए खर्च करना तो इस सरल जीवन का विरोधी नहीं। सरलता और सादगी का अर्थ है जीवन-निर्वाह में सस्ती और सुदृढ़ वस्तुओं का प्रयोग।

भारतीय व्यवस्था सरलता और सादगी को स्वेच्छा से स्वीकार करने की है। इसलिए जाति के नेताओं और महापुरुषों की प्रेरणा ही ठीक मानी गयी है।

(२) वर्तमान युग की अर्थ-व्यवस्था को सीमान्तर रखने का एक अन्य उपाय अर्थशास्त्री उपस्थित करते हैं। उनका कहना है उत्पादन एवं वितरण दोनों क्षेत्रों में संतुलन, स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा (Free com--petetion) से हो सकेगा। मांग और प्रदाय (Demand and supply) का सन्तुलन उत्पादन करने वाले स्वयं कर लेंगे। यदि वे यह नही करेंगे तो स्वयं हानि उठायेंगे।

माँग और प्रदाय के साथ स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा होनी आवश्यक है। अर्थात् मांग और प्रदाय तब ही ठीक प्रकार से कार्य कर सकता है जब उत्पादन में एकाधिकार (Monopoly) न हो। जब किसी वस्तु के उत्पादन में किसी एक को एकाधिकार (Monopoly) दे दिया जाए तो मांग और प्रदाय का सन्तुलन बिगड़ जाएगा और वस्तु का मूल्य उत्पादन-कर्त्ता की इच्छा पर हो जाएगा। यह पूर्ण अर्थ व्यवस्था को कृत्रिम कर देगा। इसकी गति स्वाभाविक नहीं रहेगी।

वे लोग श्रमिकों और मालिकों में भी वेतन का निश्चय माँग और प्रदाय के आधार पर रखना चाहते है। अर्थात् जिस किसी के श्रम का प्रदाय (Supply) पर्याप्त नहीं होगा उसका मूल्य बढ़ जाएगा और जिसका प्रदाय आवश्यकता से अधिक हो जाएगा उसका मूल्य गिर जाएगा। परिणाम यह होगा कि श्रमिक अपने को सदैव उस काम के योग्य बनाते रहेंगे, जिसका प्रदाय कम है और वेतन अधिक है। इस प्रकार स्वयमेव एक सन्तुलन बन जाएगा और प्रत्येक कार्य करने वाले का वेतन निश्चय हो जायेगा।

कई अवस्थाओं में, विशेष कर, जब कोई नया उद्योग आरम्भ किया जाए तो उत्पादन-कर्त्ता को कम-से-कम कुछ काल के लिए एका-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धिकार देना पड़ता है। इस एकाधिकार का अर्थ यह होता है कि व्यवसाय की प्रारम्भिक स्थिति में हानि की सीमा अधिक न हो। एकाधिकार के पक्ष में यह युक्ति केवल उन उद्योगों में ही चल सकती है जो नई प्रकार के हों और जिनके उत्पादन के लिए बाजार में मांग अभी बनी न हो। यह भी उद्योग के प्रारम्भिक काल के लिए है। यह इस प्रकार है जैसे किसी नए आविष्कार का 'पेटेन्ट' आविष्कारक को कुछ वर्षों के लिए दिया जाता है।

दूसरे शब्दों में, एकाधिकार (Monopoly) को सीमित काल और सीमित क्षेत्र के लिए ही दिया जाना चाहिए। एक सीमित काल में यदि उद्योग अपने पांव पर खड़ा नहीं हो सकता तो उसके संचालक को अधिकार नहीं कि व्यर्थ में एकाधिकार से लाभ उठा कर जनता के हितों का विरोध करता रहे।

यह दूसरा उपाय देश की अर्थ-व्यवस्था को सदा तरल रखेगा। कीमतें घटती बढ़ती रहेंगी। बेकारी भी कम-अधिक होती रहेगी। नए-नए लोग उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में आते रहेंगे। ये तीनों बातें उद्योग में प्रगति और उन्नति लाने वाली होंगी।

इस उपाय में सबसे अधिक आपत्ति बेकारी के बढ़ जाने के विषय में है। देश में बेकारी अशान्ति उत्पन्न करने वाली होगी। मूल्यों का कम-अधिक होना भी उपभोक्ताओं के जीवन को अस्थिर करने वाला होगा।

(३) अर्थ-व्यवस्था की उच्छृंखलताओं को नियंत्रण में रखने के लिए एक अन्य उपाय भी बताया जाता है। इसके अनुसार उत्पादन पर सरकार नियंत्रण रखती है। वह उद्योगों के उत्पादन, उद्योग में लगे श्रमिकों के वेतन, श्रमिकों के कार्य, समय और उनकी नौकरी की स्थिरता, उत्पादन के मूल्यों और उनके ले जाने तथा कच्चा माल लाने पर, अभिप्राय यह है कि उद्योग और व्यवसाय के प्रत्येक अंग पर नियन्त्रण रखती है और इस नियन्त्रण से अर्थ-व्यवस्था को एकसार गतिशील होने पर बाध्य करती है।

इस नियन्त्रण का एक उदाहरण भारत का चीनी उद्योग है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी क्षेत्र में कितनी भूमि पर गन्ना बोया जाए, इसकी व्यवस्था सरकार करती है। तदुपरान्त गन्ने का मूल्य निश्चय करती है, चीनी का मूल्य निश्चय करती है और बाजार में भी भाव निश्चय करती है। यहाँ तक कि चीनी बेचने वालों की नियुक्ति करती है और प्रत्येक परिवार कितनी चीनी प्रयोग करे, यह भी निश्चय करती है।

(४) एक चौथा उपाय भी है, जिससे देश की अर्थ-व्यवस्था नियन्त्रण में रखी जा सकती है। इस उपाय का नाम राष्ट्रीयकरण (nationalization) है। अर्थात्, सरकार देश के सब प्राकृतिक साधनों और पूर्ण समाज के श्रम की स्वामी बन जाए। सरकार सब उद्योगों को स्वयं चलाए और श्रमिकों को उचित वेतन दे और उत्पादन का वितरण स्वयं करे। साथ ही उनके मूल्यों का स्वयं निश्चय करे।

इस उपाय में सरकार का पूर्ण अर्थ-व्यवस्था पर एकाधिकार हो जाएगा। इसमें यदि कभी कहीं किसी क्षेत्र में बेकारी बढ़ जाए, तो सरकार बेकारों को वेतन देती है। यदि कोई व्यक्ति अयोग्य हो जाए, तो उसको जीविका चलाने के लिए पेंशन देना और वृद्धावस्था की पेंशन देना, यह सरकार का दायित्व माना जाता है। शिक्षा और चिकित्सा का प्रबन्ध भी सरकार के अधीन होता है। इस उपाय का नाम समाजवाद (socialism) है।

(५) इसी समाजवाद का एक रूप है जिसको साम्यवाद या कम्यूनिज्म (Communism) कहते हैं। इसमें और सब कुछ वही है जो समाजवाद में वर्णन किया गया है। इसके साथ-साथ मनुष्यों के आचार-विचार पर भी राज्य का नियन्त्रण इसमें माना गया है। यह कहा जाता है कि समाजवाद चल नहीं सकेगा, यदि व्यक्ति के उच्छृङ्खल रहने के स्वभाव को ही नहीं बदला गया। मानव आदिकाल से परमात्मा को मानता चला आ रहा है और भाग्य पर विश्वास रखता है। साम्यवादियों का कथन है कि ये और इसी प्रकार के विचार तथा स्वभाव मनुष्य में बने हुए हैं। इस स्वभाव को बदलने के लिए उसके विचारों को नियन्त्रण में रखने की आवश्यकता है। समय पाकर मनुष्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन और इसी प्रकार के विचारों को छोड़ देगा।

उदाहरण के रूप में, प्रायः मनुष्य विवाह-सम्बन्ध को आत्मा का मेल मानते हैं। पति अथवा पत्नी की असामयिक मृत्यु से दूसरा साथी शोक-ग्रस्त हो विरक्त रहने लगता है। कभी-कभी तो आत्म-हत्या कर लेता है। जो आत्मा के अस्तित्व को नहीं भी मानते, वे भी प्रेम के नाम पर इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का स्थायित्व (Stability) रखने का यत्न करते हैं। कम्युनिस्टों का यह कहना है कि विवाह-सम्बन्धी ये विचार मनुष्य में चिरकाल के संस्कारों के कारण उनका स्वभाव बन गए हैं। अतः यह स्वभाव छुड़ाने के लिए मनुष्य के विचारों पर नियन्त्रण आवश्यक है।

यह नियन्त्रण सब प्रकार के मानव-सम्बन्धों के विषय में होना आवश्यक माना जाता है। पति-पत्नी के सम्बन्ध के विषय में ऊपर लिखा है। मालिक-नौकर, नेता-अनुगामी, गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, अभिप्राय यह है कि प्रत्येक मानव सम्बन्ध के विषय में साम्यवादी विचार-धारा को एक ढांचे में ढाल देने की इच्छा रखते हैं। विचार से ही व्यवहार एक हो सकेगा, उनका यह विश्वास है।

प्रचलित अर्थ-व्यवस्था को ठीक ढंग से गति देने के लिए ऊपर पांच उपाय बताए हैं। उनमें प्रथम उपाय को, अर्थात् सरल-सादा जीवन रखने की प्रेरणा देने वाले उपाय को, शेष चारों उपायों को मानने वाले लोग (utopian) अर्थात् भूतल पर काल्पनिक स्वर्ग कह-कर, उसकी निन्दा करते हैं। उनका कथन है कि आज के काल में सरल-सादा जीवन असम्भव है। जनसाधारण का जीवन-स्तर नीचा नहीं किया जा सकता। उनकी दृष्टि में जीवन-स्तर अनेक प्रकार की भोग-सामग्री से नापा-तोला जाता है। उस व्यक्ति का जीवन-स्तर ऊंचा माना जाता है जिसके घर में टेलिविज़न सैट हो, रेफ्रिजरेटर हो, मोटर कार, टेलीफोन इत्यादि हो।

परन्तु इस उपाय को अशुद्ध बताने वाले इन वस्तुओं की प्राप्ति से जीवन-स्तर का सम्बन्ध नहीं मानते। वे जीवन-स्तर का अनुमान सत्य बोलने, अस्तेय का व्यवहार रखने, धृति एवं क्षमा-भाव रखते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से करते हैं। वे मानते हैं कि मित्रता तथा पारिवारिक सम्बन्धों में निश्छलता और सद्व्यवहार से जीवन-स्तर ऊँचा होता है। जीवन की भोग-सामग्री जितनी भी धर्मानुसार प्राप्त हो सके, उसमें से बुरे समय के लिए कुछ बचा कर रखने को, वे जीवन स्तर का ऊँचा होना मानते हैं।

दूसरा उपाय जो ऊपर बताया है उसे आजकल की भाषा में पूँजीवाद कहा जाता है। यह कहते हैं कि इस व्यवस्था से पूँजी ही मुख्य स्थान पा जाती है। पूँजी की महत्ता बढ़ जाने से पूँजी-विहीन (Proletariate) लोग असह्य कष्ट भोग चुके हैं और भोग रहे हैं।

अन्य तीनों उपाय समाजवाद के नाम पर चलते हैं। तीसरा उपाय समाजवाद के लिए क्षेत्र तैयार करने वाला माना जाता है। यह जन-साधारण को सरकारी नियन्त्रण में रहने का ढंग सिखाता है और यह कहा जाता है कि इसका दूसरा पग पूर्ण समाजवाद अर्थात् राष्ट्रीयकरण ही होगा।

कम्यूनिस्ट तो यह कहते हैं कि कम्युनिज्म ही समाजवाद है। वस्तुतः वे इसे वैज्ञानिक समाजवाद कहते हैं। साथ ही यह मानते हैं कि बिना विचार और स्वभाव पर नियंत्रण के समाजवाद चल नहीं सकेगा।

हम इन सब उपायों की विवेचना पुस्तक के दूसरे तथा तीसरे भाग में करेंगे। यहाँ इतना और बता देना उचित रहेगा कि समाजवादी अन्तिम तीनों उपायों को उपभोक्ताओं (Consumers) के लाभ के लिए समझते हैं। वे यह भी व्यवस्था करते हैं कि उपभोक्ता धन को किस प्रकार व्यय करें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रयोदश अध्याय

समाज और वर्ग

वर्ग तथा श्रेणी पर्यायवाचक शब्द हैं। इसको अंग्रेजी में क्लास (class) अथवा कम्यूनिटि (Community) कहते हैं। स्वभाव मानसिक अथवा आत्मिक योग्यता तथा आयु, लिंग व विद्या, इन दृष्टियों से मनुष्यों को श्रेणियों में विभक्त कर देने से सांसारिक कार्यों में सुविधा रहती है।

पूर्ण मनुष्य समाज सर्वत्र दो श्रेणियों में बंटा हुआ है। स्त्री-वर्ग और पुरुष-वर्ग। ये वर्ग जन्म से ही बनते हैं। वास्तव में प्रकृति ने तो मनुष्य को इन दो वर्गों में ही विभक्त किया है। ये ऐसे वर्ग हैं जो बदले नहीं जा सकते। इन दो वर्गों में मानवता-सम्बन्धी समानता होने पर भी शारीरिक कार्यों में भिन्नता बनी है। प्रकृति ने यह भी नियम बना दिया है कि वे दोनों वर्ग, पुरुष एवं स्त्री, परस्पर निर्भर रहें।

इससे सन्तुष्ट न हो मनुष्य ने समाज को दूसरे उपायों से भी बांटने का यत्न किया है। बालक, युवा और वृद्ध वर्गों में। ये वैसे वर्ग नहीं, जैसे पुरुष और स्त्री वर्ग हैं। स्वयमेव समय व्यतीत होने पर बालक युवा हो जाता है और युवा वृद्ध। इस पर भी बालक बालकों से हेल-मेल रखते हैं और युवा युवकों से। इसी प्रकार वृद्ध वृद्धों से। यह हेल-मेल इनके स्वभाव और मानसिक विकास में समानता के कारण ही है। जहां स्वभाव और मानसिक विकास के कारण इनका अपने-अपने वर्ग में लगाव होता है, वहां एक वर्ग दूसरे से अपने-आपको पृथक् अनुभव भी करता है। वह अपना हित अपने वर्ग वालों के साथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही चाहता है। बच्चे युवकों से भयभीत होते हैं और वृद्धों का आदर करते हैं। आपस में मित्रता अथवा शत्रुता रखते हैं।

प्राकृतिक दृष्टि से बाल, युवा तथा वृद्ध वर्ग भी निश्चित वर्ग हैं। यद्यपि वे उतने स्थायी नहीं, जितने स्त्री तथा पुरुष वर्ग हैं। न ही इनमें परस्पर उतनी निर्भरता है जो स्त्री एवं पुरुष वर्ग में दृष्टिगोचर होती है।

इन दो प्रकार के वर्गों से भिन्न प्रकार के वर्ग हैं, स्वभाव के विचार से। मुख्य रूप में स्वभाव के विचार से मानव दो वर्गों में बाँटे गए हैं। दैवी स्वभाव वाले और आसुरी स्वभाव वाले। दैवी के अर्थ हैं वे लोग जो दूसरों को हानि पहुँचाने से बचते हैं; सत्य-व्यवहार का अनुसरण कर क्रोध नहीं करते; दूसरों के हित में त्याग करने को उद्यत रहते हैं, चित्त में शान्त और प्रसन्न रहते हैं, किसी से द्वेष नहीं करते। सबके साथ दया-भाव रखते हैं। मोह माया से रहित होकर कर्तव्य-पालन में संलग्न रहते हैं। कोमल स्वभाव रखते हुए व्यर्थ की चेष्टाएँ नहीं करते। ये लोग शक्ति सम्पन्न, क्षमा करने को तैयार और धैर्य से अपने कर्तव्य-पालन में लीन रहते हैं। मन-वचन-कर्म से शुद्ध, किसी को शत्रु न मानने वाले, अभिमान से रहित होते हैं।

आसुरी स्वभाव के लोग वे हैं जो पाखण्ड, अभिमान, क्रोध, कठोर व्यवहार वाले, ज्ञान रहित होते हैं।

इनको अंग्रेज़ी में good and evil minded वर्ग कहते हैं।

ये स्वभाव कुछ तो पूर्व जन्म के कर्मों के फलस्वरूप बनते हैं और कुछ इस जन्म की शिक्षा-दीक्षा एवं वातावरण से निर्माण होते हैं। जिस प्रकार भी हो, ये भी मानव-समाज के वर्ग हैं। यद्यपि स्त्री और पुरुष वर्ग की भाँति ये अपरिवर्तनशील नहीं। स्वभाव बदल जाते हैं।

कर्मों के विचार से भी समाज में वर्ग माने जाते हैं। भारतीय समाज में गुण, कर्म, स्वभाव से मनुष्य समाज को चार वर्गों में बाँटा गया है। इनको भारतीय भाषा में 'वर्ण' कहते हैं। वर्णों के नाम हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय जीवन-मीमांसा में यह माना है कि स्वभाव से गुण बनते हैं और दोनों के आधार पर मनुष्य कर्म करता है। अतः यदि मनुष्य समाज को वर्गों में बाँटना ही है तो गुण, कर्म और स्वभाव के आधार पर बाँटना अधिक हितकर होगा। भगवद्गीता में इस विषय में इस प्रकार लिखा है—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥[1]

स्वभाव से गुण बनते हैं और इन दोनों के प्रभाव से कर्म किये जाते हैं। इन कर्मों से मानव-समाज विभक्त किया गया है—

यह विभाजन इस प्रकार है—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षत्रकर्म स्वभावजम् ॥
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥[2]

अर्थात्—अन्तःकरण में शान्ति, इन्द्रियों पर नियंत्रण, मन-वचन-कर्म की शुद्धि, कर्तव्य-पालन में संलग्न, सरल स्वभाव, आस्तिक बुद्धि, ज्ञान-विज्ञान में लगन, ऐसे गुण-कर्म-स्वभाव वाले को ब्राह्मण कहते हैं।

शौर्य, शक्ति, धैर्य तथा युद्ध से पीछे न हटना; दान देना और स्वामी बनने का स्वभाव रखना, ये क्षत्रिय के गुण, कर्म और स्वभाव हैं।

कृषि कार्य तथा व्यापार, उद्योग इत्यादि से धनोपार्जन करना वैश्य का स्वभाव होता है और दूसरों की सेवा करना शूद्रों का काम है।

यहाँ हम यह बता देना चाहते हैं कि आज हिन्दू समाज में ये वर्ण केवल जन्म के आधार पर माने जाते हैं। अर्थात हिन्दू-समाज ने समाज का यह विभाजन गुण-कर्म-स्वभाव से न मान, जन्म से स्वीकार करना आरम्भ कर दिया है। परन्तु यहाँ हम वर्तमान हिन्दू-समाज में प्रच-

१. भ० गी० १८-४१; २. वही, १८-४२, ४३, ४४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लित विभाजन की बात नहीं कर रहे । हमारा अभिप्राय हिन्दू-शास्त्रों में लिखी वर्ण-व्यवस्था से है। शास्त्र में भी वर्ण-व्यवस्था को गुण-कर्म-स्वभाव से ही माना है । हमने ऊपर भगवद्गीता के प्रमाण दिए हैं। उनमें इस विभाजन को जन्म से मानने का संकेत तक भी नहीं । प्रत्युत शास्त्र में तो इससे विपरीत बात वर्णित है—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥[१]

शूद्र ब्राह्मण हो जाता है और ब्राह्मण शूद्र बन सकता है । इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य अपने-अपने वर्णों से बदल कर दूसरे वर्णों में चले जाते हैं ।

ये कैसे चले जाते हैं ? इस विषय में महाभारत में व्याख्या सहित लिखा है—

शूद्रो राजन् भवति ब्रह्मबन्धुर्दुश्चारित्रो यश्च धर्मादपेतः ।
वृषलीपतिः पिशुनो नर्तनश्च राजप्रेष्यो यश्च भवेद् विकर्मा ॥
जपन् वेदानजपंश्चापि राजन् समः शूद्रै र्दासवच्चापि भोज्यः ।
एते सर्वे शूद्रसमा भवन्ति राजन्नेतान् वर्जयेद देवकृत्ये ॥
यः स्याद् दान्तः सोमपश्चार्यशीलः सानुक्रोशः सर्वसही निराशीः ।
ऋजुर्मृदुरनृशंसः क्षमावान् स वै विप्रो नेतरः पापकर्मा ॥[२]

अभिप्राय यह है कि जो ब्राह्मण दुश्चरित्र, धर्महीन, शूद्रजातीय, कुलटा स्त्री से सम्बन्ध रखने वाला, चुगलखोर, नाचने वाला, राज-सेवक तथा दूसरे (ब्राह्मण के लिए नियत से अतिरिक्त) कर्म करने वाला होता है, वह ब्राह्मण से गिरकर शूद्र हो जाता है ।

उक्त दुर्गुणों से युक्त ब्राह्मण वेदों का स्वाध्याय करता हुआ भी शूद्र के समान ही है । उसे दास की भाँति पंक्ति से बाहर भोजन कराना चाहिये । राजा का सेवक ब्राह्मण अधम है और शूद्रों के तुल्य है । उसको देव कार्यों में नहीं बैठाना चाहिए ।

मन और इन्द्रियों को संयम में रखने वाला, सोम याग करके सोम रस पीने वाला, सदाचारी, दयालु, कष्ट सहन करने वाला मिष्काम,

१. मनु० १०-६५; २. म० भा० शां० ६३-४, ५, ८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरल मृदु, क्रूरता रहित और क्षमाशील व्यक्ति ही ब्राह्मण कहलाने के योग्य है। उससे भिन्न जो पापाचारी है, यह ब्राह्मण नहीं मानना चाहिए।

हिन्दू जाति में प्रचलित ब्राह्मण, क्षत्रिय इत्यादि वर्णों को हम यहाँ इस पुस्तक के वर्ग-विभाजन में नहीं ले रहे। हमारे वर्ग-विभाजन अध्याय में अभिप्राय उन वर्णों से है जिनका हिन्दू-शास्त्र में उल्लेख है।

मनुष्य ने और भी कई प्रकार से मानव-समाज का बँटवारा किया है। सुनार हैं, डाक्टर हैं, वकील हैं, अन्न के व्यापारी हैं, करियाने की दुकान वाले हैं, सहकारी क्लर्क हैं, कारखानों के श्रमिक हैं, इंजीनियर हैं और प्रबन्धक हैं। सबों ने अपने-अपने वर्ग (Associations) बनाये हुए हैं।

इन वर्गों में आधुनिक समाजशास्त्री बहुत बाल की खाल उतारते है। उस सबको यहाँ लिखकर पाठकों के मन में विभ्रम ही उत्पन्न करना होगा। उन सबका सारांश यह है कि व वर्ग (classes) का आधार समाज में पद (status) मानते हैं।

उदाहरण के रूप में एक जर्मन समाजशास्त्री मिस्टर मैक्स वैबर (Max weber) लिखते हैं—

...The social and the economic order are not identical. The economic order is...merely the way in which economic goods and services are distributed and used. The social order is of course conditioned by the economic order to a high degree, and in its turn reacts upon it.[1]

(सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था पर्यायवाचक नहीं। आर्थिक व्यवस्था तो केवल वह है जिससे वस्तुएँ एवं सेवाए वितरण की जाती हैं। यह ठीक है कि सामाजिक व्यवस्था पर बहुत सीमा तक अर्थ का प्रभाव पड़ता है और फिर सामाजिक व्यवस्था का प्रभाव उलट कर

1. R.M. Maciver And Charles H. page, Society (1 : 62) p. 350

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ-व्यवस्था पर भी होता है।

इस वक्तव्य का आधार तो ठीक है परन्तु यह क्यों है ? यह अर्थशास्त्री इसके कारण तक नहीं जा सका। समाज में प्रतिष्ठा मनुष्य के गुणों से होती है और गुण स्वभाव की उपज हैं। जब प्रतिष्ठा बन जाती है तो धन आता है और धन पुनः सामाजिक प्रतिष्ठा उत्पन्न करने वाला है। गुण, कर्म तथा स्वभाव के विलुप्त हो जाने पर धीरे-धीरे प्रतिष्ठा समाप्त हो जाती है और फिर लक्ष्मी भी उस अप्रतिष्ठित व्यक्ति को छोड़ जाती है।

यह भी ठीक है कि जन-साधारण प्रायः प्रतिष्ठा उन गुणों के कारण करता है जो वास्तव में दुर्गुण होते हैं। परन्तु यह दोष समाज में अज्ञान के कारण है। जहाँ तक प्रतिष्ठित व्यक्ति का सम्बन्ध है वह अपने किसी न-किसी गुण (जिसको लोग समझते हैं) के कारण ही होती है।

अतः प्रतिष्ठा में कारण (गुण-कर्म-स्वाभाव) से ही समाज में वर्ग माने जाने चाहियें। अन्य सब विभाजन इन कारणों को छोड़कर अज्ञान पर आधारित होने से मिथ्या हैं। प्रभाव तो बनते और बिगड़ते रहते हैं।

यह ठीक है कि वर्गों (classes) में पदवी का अन्तर है। इसी कारण हमारा कहना है कि यह अन्तर गुण-कर्म-स्वभाव से हो तो समाज सुखी और उन्नतिशील होगा और यदि गुण-कर्म-स्वभाव से न रहकर केवल पद के प्रभाव से पदवी का निर्णय हुआ तो समाज में अव्यवस्था उत्पन्न हो जायेगी।

एक धनी व्यक्ति का एक पुत्र डाक्टर बन गया और दूसरा वैद्य। दोनों अपने-अपने कार्य में कुशल हैं। परन्तु वर्तमान युग की विषमता के कारण डाक्टर को रोगी देखने की फीस बीस रुपये मिलती है और वैद्य को पांच रुपये। अर्थात् समाज ने प्रतिष्ठा गुणों से नहीं, वरं कर्म से निश्चय की है। इस प्रतिष्ठा में अन्तर होने से डाक्टर धनवान हो जाता है और वैद्य निर्धन रह जाता है। अब धन प्रतिष्ठा को चार चाँद लगा देता है। कोई मूर्ख ही कहेगा कि वर्गों का निर्माण स्वभाव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और गुण को छोड़कर केवल कर्म से लगाया जाये। इस प्रकार की प्रतिष्ठा और फिर धन का अर्जन समाज की अशुद्ध वर्ग-व्यवस्था से हुई। भारत पाश्चात्य विज्ञान का दास हो जाने से डाक्टर की फीस बीस रुपये रख बैठा।

कहने का अभिप्राय यह है कि वास्तविक वर्ग, एक प्रकार से तो दो हैं—स्त्री और पुरुष। इनमें प्रतिष्ठा और अर्थ-सम्बन्धी अन्तर नहीं होता।

एक दूसरे ढंग से भी वर्ग-व्यवस्था है। वह गुण-कर्म तथा स्वभाव के आधार पर है। हिन्दू समाज ने इस प्रकार चार वर्णों की व्यवस्था की है। इस व्यवस्था में गुणों में भेद होने से प्रतिष्ठा में भी अन्तर है। प्राचीन भारतीय वर्ण-व्यवस्था में धन किसी भी स्थान पर नहीं आता था। धन गौण था।

ऊपर हमने एक अन्य प्रकार से समाज का विभाजन किया जाना लिखा है। भले कर्म करने वाले अथवा बुरे कर्म करने वाले। इसमें भी धन गौण है। मुख्य बात गुण और स्वभाव ही हैं।

शेष जितने विभाजन अर्थात् वर्ग-व्यवस्था के ढंग हैं, वे अस्वाभाविक, कृत्रिम और समाज में घोर पतन उत्पन्न करने वाले हैं। उनको वास्तव में न तो वर्ग कहा जा सकता है, न ही उनसे किसी प्रकार के कल्याण की आशा की जा सकती है।

उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायेगी। अन्न बेचने वाले एक वर्ग-निर्माण कर अपने हितों का चिन्तन करना आरम्भ कर देते हैं। इस चिन्तन में केवल वर्ग हित ही है। सत्य-न्याय-धर्म और क्षमा इत्यादि का विचार नहीं। ऐसा वर्ग निःसंदेह समाज के अधिकांश भाग को हानि पहुँचाने वाला होगा।

और देखिये। नगर के डाक्टर अपनी एक समिति (Association) बनाकर डाक्टरों के हित की बात विचार करने लगते हैं। उनमें अपने वर्ग के सदस्यों के लिए मोह उत्पन्न हो जाता है। निःसंदेह यह वर्ग सामान्य समाज के घटकों को हानि पहुँचाने वाला हो जायेगा।

इसी प्रकार अन्य वर्ग स्वभाव और गुण को छोड़कर केवल कर्मों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और वह भी एक श्रेणी के कर्मों के आधार पर बनाये जाते हैं। ये दूसरे कर्म करने वालों का विचार छोड़कर बनते हैं।

अतएव यह वर्ग-व्यवस्था ठीक नहीं। इसका यह अर्थ है कि मनुष्य जीवन-यापन के अथवा लोक-कल्याण के विभिन्न कार्य करते हैं। ये कार्य करने स्वाभाविक ही हैं। परन्तु लोगों के वर्ग (classes) तो उनके गुण तथा स्वभाव के आधार पर ही होने चाहियें।

उदाहरण के रूप में एक वकील है, एक डाक्टर है, एक दुकानदार है और क्लर्क है। सब-के-सब दो वर्गों में बँट सकते हैं। भले और बुरे। दैवी सम्पदा वाले और आसुरी सम्पदा वाले। ये दैवी अथवा आसुरी सम्पदा वाले डाक्टर, वकील, दुकानदार और क्लर्क सब हो सकते हैं।

इस प्रकार के समाज-विभाजन के कुछ अर्थ भी होंगे और उनसे कुछ लाभ भी होगा।

इस युग में वर्ग-विभाजन की एक और कल्पना की गई है। यह मार्क्सवादी वर्ग-विभाजन कहलाती है। मार्क्स भी समाज में दो वर्ग मानता है। एक सम्पत्ति रखने वाले और दूसरे सम्पत्ति-विहीन। वह सम्पत्ति रखने वालों को बूर्जूआ (Bourgeois) और सम्पत्ति-विहीनों को प्रोलिटेरियन (Proletarians) कहते हैं।

कार्ल मार्क्स का कथन है कि मानव सभ्यता के प्रारम्भिक काल से लेकर आज तक ये दो वर्ग चले आ रहे हैं। संपत्ति पर अधिकार पाने के लिए एक वर्ग यत्न करता रहा है और दूसरा वर्ग जो किसी न किसी प्रकार संपत्ति पर अधिकार पा जाता है वह अपने अधिकार की रक्षा करने का यत्न करता रहा है। यह अनादि काल से चल रहा संघर्ष कई प्रकार के रूपों में प्रकट होता रहा है। क्रांतियाँ, युद्ध और समाज में अन्य प्रकार के होने वाले संघर्ष संपत्ति पर अधिकार पाने के लिए ही हैं।

अतः इन दो, संपत्ति वाले और संपत्ति-विहीन वर्गों को मार्क्स निःशेष कर एक-वर्गीय समाज (classes society) अथवा वर्ग-विहीन समाज बनाने की योजना बनाकर, समाज में सुख शान्ति की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यवस्था करना चाहता है। इसी को वह समाजवाद कहता है।

समाजवाद पर व्याख्या से विवेचना तो आगे चलकर करेंगे। यहाँ हम यह बताना चाहते हैं कि वर्गों की कल्पना करने में उसने घोड़े के आगे गाड़ी लगा दी है। सम्पत्ति-विहीन होना और सम्पत्ति रखना ये किसी अन्य बात के लक्षण हैं। समाज में अव्यवस्था, युद्ध, क्रान्ति इत्यादि, संपत्ति रखने के कारण नहीं होती वरं इसमें कारण राग-द्वेष है। ये रजोगुणोत्पन्न विकार हैं।

अब हम समाज में दैवी और आसुरी स्वभाव के आधार पर वर्ग-निर्माण की बात कहते हैं तो यह सतोगुणोत्पन्न और रजोगुणोत्पन्न स्वभाव के आधार पर वर्ग-व्यवस्था की ही बात है। रजोगुण से तमोगुण उत्पन्न होता है। अतः इन स्वभावों के रखने वाले आसुरी संपदा (स्वभाव) वाले कहाते हैं।

रजोगुणी यदि सात्त्विक गुणों वाले के अधीन कार्य करें तो वे संसार में भले लोगों की रक्षा में तत्पर हो जाते हैं। यदि स्वतन्त्र हो जाएँ तो स्वयं तमोगुण-मय हो जाते हैं और फिर आसुरी सम्पदा के पोषक हो जाते हैं।

सम्पत्ति रखने वाले और सम्पत्ति-विहीन सदा अपने गुणों तथा अवगुणों से बनते हैं यह देखने में आता है कि सम्पत्ति जुटाने में कभी असत्य और अधर्माचरण का आश्रय लिया जाता है। यह इस कारण कि सम्पत्ति जुटाने वाला तो रजोगुणी होता है और वह रजोगुणी व्यक्ति सतोगुणी विद्वानों के नियन्त्रण में न होने से अधर्माचरण का आश्रय लेने लगता है।

जन-साधारण भ्रम और अज्ञानता के कारण रजोगुण पर मुग्ध उसके अधर्माचरण को जान नहीं पाता और वह प्रतिष्ठित धनवान हो जाता है। हम यह बता चुके हैं कि इसमें दो कारण हैं। एक तो अधर्माचरण वह रजोगुणी करता है जो किसी सतोगुणी के अधीन न हो। दूसरे, वह अपने अधर्माचरण में समर्थन पाता है अज्ञानी, भ्रम में फँसे हुए जनसाधारण से।

उदाहरण के रूप में स्टालिन का व्यवहार लिया जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब स्टालिन ने हिटलर से १६३६ में संधि की, तो अपने रजोगुण से प्रभावित होकर ही की थी। स्टालिन रूस की मिलकियत बढ़ाना चाहता था। उस समय कोई सतोगुणी ब्रह्मण (विद्वान) उसपर नियंत्रण रखने वाला नहीं था। यदि कोई होता तो वह हिटलर के आस्ट्रिया, जुकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड के साथ अधर्मयुक्त व्यवहार की उपस्थिति में उसे संधि करने न देता। साथ ही वह उसको रूमानियाँ, बलगारिया और पोलैन्ड के क्षेत्रों पर दृष्टि रखने से मना कर देता।

लेनिन और स्टालिन की नीतियों के कारण सात्त्विक प्रवृति के लोग रूस में नहीं रहे थे। साथ ही स्टालिन की इस संधि को रूस की मूर्ख जनता और संसार की मूर्ख कम्यूनिस्ट पार्टी के सदस्यों का समर्थन मिल गया था। स्टालिन अपनी विजय की मस्ती में बुद्धि खो बैठा। जब हिटलर इंग्लिश चैनल के किनारे इंग्लैंड पर आक्रमण में संग्लन था, उसने हिटलर से निश्चय किए से अधिक योरोप के भागों पर अधिकार करना आरम्भ कर दिया। प्राय: रजोगुणी जब अनियंत्रित हो जाते हैं तो ऐसा ही करते हैं। रूस को फल तो मिला। इस पर भी अमेरिका की मूर्खता और इंग्लैंड की दुर्बलता के कारण रूस रजोगुण में अग्रसर ही हुआ है। अधर्मयुक्त रजोगुण से किया कार्य अब चीन के रूप में प्रकट होने लगा है।

कहने का अभिप्राय यह है कि धनवान होना खराबी नहीं, न ही धनवान होने से किसी वर्ग विशेष में होने का संकेत मिलता है। वर्ग तो दो ही हैं, दैवी और आसुरी। दैवी सम्पत्ति वाले जब धनवान होते हैं और सात्त्विक प्रवृति वालों के नियंत्रण में रहते हैं तो संसार में सुख और शान्ति फैलती है और जब आसुरी सम्पत्ति (प्रवृति) वाले धनवान होते हैं, तो संघर्ष (क्रान्तियाँ और युद्ध) होते हैं। आसुरी सम्पत्ति वाले विद्वानों के नियंत्रण में न रहकर विद्वानों पर अपना नियंत्रण बनाये रखना चाहते हैं।

कार्ल मार्क्स इस व्यवस्था को नहीं मानता। वह अपने कम्यूनिस्ट घोषणा-पत्र (**Manifesto of the Communist Party**) में लिखता है :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Society as a whole is more and more splitting up into two great hostile camps, into two great classes directly facing each other—bourgeoisie and proletariat.[1]

(दिन-प्रतिदिन समाज दो महान् परस्पर विरोधी गुटों में विभक्त होता जा रहा है। इन गुटों को वर्ग कहते हैं। ये वर्ग हैं सम्पत्तिधारी और सम्पत्ति विहीन।)

कार्ल मार्क्स इस घोषणा-पत्र में सम्पत्तिधारी और सम्पत्ति-विहीनों के संघर्षों के निरंतर चले आने को सभ्यता के आदि युग से अपने काल तक का इतिहास कहता है और वर्तमान यांत्रिक युग में इस संघर्ष के और भी उग्र हो जाने का वर्णन करता है।

वह आगे कहता है—

The proletarian is without property; his relation to his wife and children has no longer anything in common with the bourgeois family relations; modern indastrial labour, modern subjection to capital, the same in England as in France, in America as in Germany, has stripped him of every trace of national character. Law, morality, religion, are to him so many bourgeois prejudices, behind which lurk in ambush just as many bourgeois interests.[2]

कार्ल मार्क्स एक सम्पत्तिविहीन मजदूर की दशा का वर्णन करता है। उसका कहना है कि एक प्रोलिटेरिएट मजदूर बिना सम्पत्ति के हो गया है। उसका अपनी पत्नी और बच्चों से सम्बन्ध वैसा नहीं है जैसे सम्पत्तिधारी मालिक का होता है। वर्तमान कारखानो का मजदूर पैसे वाले के अधीन होता है। इंग्लैंड क्या और फ्रांस क्या, अमरीका क्या और जर्मनी क्या, पैसे वालों ने उसके पूर्ण राष्ट्रीय चरित्र को मिटा दिया है। कानून, चरित्र, मजहब उसके लिए पैसे

1. The essential Left (Unwin Books) 1960, p. 15.
2. Ibid p. 25.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वालों के पूर्वग्रह रह गए हैं जिनके पीछे छुपकर सम्पत्तिधारी अपना मतलब पूरा करते हैं।

उक्त दोनों बातें घोषणा-पत्र लिखने वाले की विकृत बुद्धि का ही परिचय देती हैं। जान-बूझकर अथवा अनजाने में, इस व्यवस्था के कारण को जाने बिना, इसका पूर्ण दोष धनी और निर्धन के श्रेणी बद्ध होने को लिख दिया है।

जब मशीनें बनने लगीं तो देहातों में खेतों पर काम करने वाले मजदूर नगरों में आ-आकर नौकरी करने लगे। खेतों में काम करते हुए वे सम्पत्ति संचित नहीं कर सके थे। कार्ल मार्क्स इसमें कारण यह बताता है कि उनको ज़मींदार भूमिपति बनने नहीं देता था।

यह बात नहीं थी। बात यह थी कि सम्पत्ति-संचय करने के लिए घोर परिश्रम, मितव्ययता और तपस्या करनी पड़ती है। जो करने की क्षमता और योग्यता रखते हैं, वे सम्पत्ति संचय कर सकते हैं। जो कार्य करने की बुद्धि नहीं रखते, न अपनी आय में से कुछ बचाने के लिए तपस्या करते हैं, वे निर्धन रहते हैं।

इसमें एक बात ध्यान रखने की है कि प्रायः धनोपार्जन और धन संचय करने के लिए ऐसे ढंग प्रयोग में लाये जाते हैं जो न्याय-बुद्धि से स्वीकार नहीं किये जा सकते। उदाहरण के रूप में आज दिल्ली में मकानों का भाड़ा इतना अधिक हो गया है कि प्रायः भाड़े पर चढ़े मकानों की लागत का मूल्य पाँच वर्षों में प्राप्त हो जाता है। एक समय सरकार ने यह निश्चय किया था कि लागत के आठ प्रतिशत से अधिक मकान का भाड़ा न हो। परन्तु आर्थिक शक्तियों से विवश होकर सरकार को मौन हो जाना पड़ा।

ये आर्थिक शक्तियाँ ऐसी नहीं कि मकान मालिकों ने सरकार को विवश किया हो। आज देश में प्रजातंत्रात्मक राज्य है और पूर्ण जनता मतदाता है। यदि आज सरकार ने यह स्वीकृति दी है कि मालिक मकान मनमाना भाड़ा लें तो कारण यह है कि रुपये की कीमत कम हो गयी है। जिस मकान का भाड़ा आज एक सौ रुपया है, वह द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व सात-आठ रुपये के बराबर मानना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिए। यह रुपये का मूल्य क्यों कम हुआ है ? इसमें कारण सरकार की कुछ ऐसी नीतियाँ हैं, जिनको प्रजा के प्रतिनिधियों ने स्वीकार किया है। वर्तमान योजनाएँ और उन पर सरकार का ऋण ले-लेकर लगाना और फिर अपनी अयोग्यता के कारण लगाये धन का पूर्ण लाभ न उठा सकना, रुपये के मूल्य को गिराने वाला सिद्ध हुआ है।

रुपये के मूल्य कम होने में अन्य भी कारण हैं। इतना तो स्पष्ट है ही कि यह रुपये के मूल्य में कमी धनी-मानी लोगों के करने से नहीं हुई। धनीमानी अपने धन की क्रय-शक्ति को कम करने की न इच्छा रखता है, न ही वह करेगा। जब संसद ने बहुमत से यह स्वीकार किया कि सरकार अपने उद्योग चलाये और ऋण लेकर चलाये तो संसद ने यह स्वीकार किया कि रुपये की क्रय-शक्ति कम हो।

अतएव मकानों के भाड़े बढ़ जाने के लिए मार्ग खुल गया और निश्चित आय (Fixed income) वालों के लिए कष्ट आरम्भ हुआ। जिस चपरासी का वेतन बीस रुपये था, तब के मूल्य के आधार से आज कम-से-कम ढाई सौ रुपया होना चाहिये था। यह हो नहीं सका। परिणाम यह है कि उसके जीवन की सुख-सुविधाएँ कम हो गयी हैं।

रुपये की क्रय-शक्ति कम हो जाने के कारण निश्चित आय वालों के पास बचत नहीं होती और वे अपनी पूँजी-निर्माण नहीं कर सकते तथा आय बढ़ जाने पर भी अपने कहे जाने वाले सम्पत्ति-विहीन वर्ग से बाहर निकल नहीं सकते।

कार्ल मार्क्स आगे लिखता है :

The bourgeoisie keeps more and more doing with away the scattered state of the population, of the means of production and of property. It has agglomerated population, centralized means of production and has concentrated property in a few hands. The necessary consequences of this was political centralization. Independent, or but loosely connected provinces, with separate interests, laws, governments and systems of

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

taxation, became lumped together into one nation, with one government, one code of laws, one national class interests, one frontier and one customs tariff[1].

(बूर्जुओं ने जनता के फैलाव को कम करने में बहुत भाग लिया है; उत्पादन के तथा सम्पत्ति के फैलाव को मिटाया है और लोगों को एक स्थान पर लाकर ढेर कर दिया है; उत्पादन के साधनों को एक स्थान पर एकत्रित किया है और सम्पत्ति को कुछ हाथों में इकट्ठा कर दिया है। इसका आवश्यक परिणाम राजनीतिक दृष्टि से यह हुआ है कि भिन्न-भिन्न लोग एक स्थान पर, एक सरकार में, एक सीमाओं और एक प्रकार के टैक्सों में अस्वाभाविक रूप में बांध दिये गए हैं।)

परन्तु इसमें कारण सम्पत्ति रखने वाले नहीं हैं। वरंच तकनीकी ज्ञान का प्रसार है। उस तकनीकी ज्ञान के साथ समाज-शास्त्र का विकास नहीं हुआ।

तकनीकी विज्ञान की उन्नति तो सम्पत्ति रखने वालों ने नहीं की थी। उन्होंने इसका प्रयोग अवश्य किया था। यदि कोई और संस्थान होता जो उस समय इस तकनीकी उन्नति का प्रयोग करता तो वह भी, यदि इससे बुरा नहीं तो ऐसा ही प्रयोग करता। तकनीकी उन्नति के साथ-साथ स्वास्थ्य विज्ञान और मनोविज्ञान की तुलनात्मक उन्नति नहीं हुई थी।

आज भारत में समाजवाद एक सीमा तक चल रहा है और आज भी लोगों को बड़े-बड़े नगरों में ढेर किया जा रहा है और धन तथा सम्पत्ति एक स्थान पर एकत्रित हो रही है। यह सम्पत्ति किसी सरकारी विभाग के हाथ में है अथवा किसी लिमिटेड कम्पनी के पास है, यह प्रश्न दूसरा है। Concentration of population, wealth and property यहाँ भी हो रही है कार्ल मार्क्स के चेलों के देश रूस और चीन में भी हो रही है।

हमने बताया है कि इसमें कारण है, उद्योग में तकनीकी उन्नति के साथ-साथ स्वास्थ्य और अन्य विज्ञानों में बराबर की उन्नति का न

1. Ibid. p. 19.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होना। सन् १८४८ की अपेक्षा आज सब प्रकार के विज्ञानों में अधिक तालमेल है, इस पर भी जनता और धन-सम्पदा का केन्द्रीयकरण हो रहा है।

वास्तविक बात यह है कि कार्ल मार्क्स एक अज्ञ था और विकृत बुद्धि रखता था। वह अपने काल की बिषमता को देख तो रहा था, परन्तु उसका ठीक कारण जानना उसकी सामर्थ्य में नहीं था। पूर्ण का पूर्ण कम्यूनिष्ट घोषणा-पत्र एक ऐसे व्यक्ति का लिखा प्रतीत होता है, जिसको न तो युक्ति करनी आती थी और न ही जिसका ज्ञान अधिक विस्तृत था।

इस घोषणा के विषय में अधिक, हम कम्यूनिज्म के विषय में लिखते हुए बतायेंगे कि किस प्रकार यह एक महान भ्रम-जाल है।

यहाँ हम यही बताना चाहते हैं कि समाज में आर्थिक दृष्टि से वर्ग बनाना भूल है। अर्थ परिश्रम का एक रूप है। परिश्रम का मूल्य शिक्षा और बुद्धि के समावेश से बढ़ जाता है। यह कहना भूल है कि अर्थ की दृष्टि से कल्पना किया वर्ग किसी दूसरे वर्ग को दबाकर रखना चाहता है। वास्तविक बात यह है कि जब शासन निरंकुश लोगों के हाथ में चला जाता है तो वे लोग शासन को अपने स्वार्थ के लिये प्रयुक्त करते है। अंकुश ब्राह्मण वर्ग (विद्वानों और चरित्रवान) लोगों का होना चाहिये।

कार्ल मार्क्स तो यह समझता है कि सम्पत्ति वालों की करनी से राजनीतिक केन्द्रीयकरण हो रहा है अर्थात राजनीति कुछ लोगों में केन्द्रित हो रही है।

जरा ध्यान से पढ़िये। आप लिखते हैं—

The neccssary consequences of this (centralization of means of production and property) was political centralization.

इसका आवश्यक परिणाम होता है राजनीतिक शक्ति का केन्द्रीयकरण। परन्तु अगले ही वाक्य में आप लिखते हैं कि भिन्न-भिन्न आचार-विचार के लोग एक सरकार में एकत्रित हो रहे हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्ल मार्क्स का यह कथन कि यह बूर्जुआ समाज के करने से हुआ है, मिथ्या दृष्टि के कारण है। ये बातें किसी एक वर्ग के करने से नहीं हुईं। यह जनता में स्वतंत्रता की मिथ्या धारणा से उत्पन्न हुई हैं। संयुक्त राष्ट्र (Federal state) का ढाँचा सम्पत्तिधारियों के करने से नहीं हुआ, वरं जने-खने के (अयोग्यों के) राज्य में अधिकार पा जाने के कारण है। यह संसदीय प्रजातंत्र का सीधा परिणाम है।

जितना राजनीतिक शक्ति का केन्द्रीयकरण रूस और चीन में है, उतना अमेरिका में नहीं। अमेरिका कम्यूनिस्टों के विचार से एक बूर्जुआ प्रधान देश है। भारत में भी बूर्जुआ (सम्पत्तिधारी) लोग प्रान्तों को पृथक्-पृथक् रखना चाहते हैं, प्रान्त-प्रान्त के भिन्न-भिन्न नियम का और स्थानीय हितों का बोलबाला करना चाहते हैं। इसके विपरीत समाजवादी सरकार केन्द्र के हाथ में अधिक और अधिक शक्ति लाने में संलग्न हैं।

विकेन्द्रीयकरण प्रजातन्त्र पद्धति का परिणाम है और केन्द्रीयकरण तानाशाही (Dictalorship) का। वैज्ञानिक समाजवाद कार्ल मार्क्स ने ही चलाया है। वह सम्पत्ति रहितों की तानाशाही (dictatorship of the proletariat) चाहता है। इसने ही रूस में इतने बड़े क्षेत्र के अनेक भिन्न-भिन्न प्रकार के लोगों को एक राज्य में बांध रखा है।

कोई भी बुद्धिशील व्यक्ति इस परिणाम पर पहुँचे बिना नहीं रह सकता कि कार्ल मार्क्स किसी का भी दोष सम्पत्ति-धारियों पर लगाना चाहता है। पहले तो सम्पत्ति-धारियों को एक वर्ग मान लिया और फिर जने-खने के पाप उसके गले में मढ़ दिये है।

हम तो यह समझते हैं कि मानव-समाज में वर्ग धनी-निर्धन, व्यापारी-क्लर्क, मालिक-नौकर, डाक्टर-हकीम, दर्जी-सुनार इत्यादि के नहीं हैं। यह वर्ग-विभाजन तो कृत्रिम है। इनमें के एक वर्ग का व्यक्ति दूसरे वर्ग में जा सकता है। वह जा रहा है और उसके जाने को कोई रोक नहीं सकता।

वास्तविक वर्ग वे हैं जो मानव-प्रकृति (स्वभाव, गुण और कर्म) के आधार पर बनते हैं। गुण-कर्म-स्वभाव से मानवों में दो ही वर्ग हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देवता और असुर, अर्थात् भले और बुरे (Good and evil)। स्वभाव से बुरा व्यक्ति सुगमता से भला व्यक्ति नहीं बन सकता। स्वभाव सुगमता से और शीघ्रता से नहीं बदलता। जितनी सुगमता से एक स्कूल मास्टर कुली का कार्य कर सकता है अथवा कुली का पुत्र योग्य होने पर अध्यापक का काम कर सकता है, उतनी सुगमता से स्वभाव नहीं बदलता।

अत: मानव-समाज का वर्गीकरण भले-बुरे के आधार पर होना चाहिए। धनवानों में भी और निर्धनों में भी, ये दोनों प्रकार के लोग पाये जायेंगे। इसी प्रकार अन्य व्यवसायों अथवा गुटों में है।

वर्ग-मीमांसा जैसी योरोपियन मीमांसक, विशेष रूप में कार्ल-मार्क्स प्रतिपादित करता है, गलत है; अयुक्तिसंगत है और प्रमाण से सिद्ध नहीं की जा सकती।

सम्पत्तियुक्त अथवा सम्पत्ति-विहीन तो अपने-अपने परिश्रम और योग्यता से होते हैं परन्तु अच्छे और बुरे तो स्वभाव से होते हैं। स्वभाव जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, पूर्व जन्म के कर्मों तथा इस जन्म की शिक्षा-दीक्षा से बनता है। यदि कोई उद्योगपति अच्छा अथवा बुरा है तो वह उक्त कारणों से है न कि धन रखने अथवा न रखने से है। यदि कोई निर्धन अच्छा अथवा बुरा है तो उक्त कारणों से ही है न कि धन न रखने से है।

इस बात का प्रमाण वर्तमान शिक्षा से पूर्व हिन्दुस्तान में बहुत मिलता था। निर्धन प्राय: सत्यवादी, ईमानदार, न्याय-प्रिय होते थे। आज भी अंग्रेजी शिक्षा से बचे हुए ऐसे हैं। धनी लोग भी जो प्राचीन पद्धति के अनुसार शिक्षा प्राप्त किये हुए थे, आज के धनवानों से कम अन्यायी, कम स्वार्थी और कम लोभी थे।

यह हमारा निश्चित मत है कि अच्छा और बुरा होना शिक्षा-दीक्षा और पूर्व-जन्म के कर्म-फल के परिणामस्वरूप होता है।

मानव समाज में यदि वर्ग हैं तो वे दैवी और आसुरी ही हैं। आसुरी स्वभाव वालों को नियन्त्रण में रखने के लिये राज्य का विधान बनाया गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चतुर्दश अध्याय

आर्थिक समानता

एक मकान में लगने वाली ईंटें समान लम्बाई और चौड़ाई की बनाई जाती हैं। और यह माना जाता है कि समाज भी एक इमारत है जिसमें व्यक्ति ईंट का काम करते हैं। वे भी समान बना दिये जायें तो समाज रूपी इमारत सुन्दर और सुदृढ़ होगी।

यह उपमा देने वाले एक आधार-भूत बात को भूल जाते हैं। वह है व्यक्ति और ईंट में अन्तर। दोनों में मौलिक अन्तर है। ईंट पार्थिव (जड़) पदार्थ है और व्यक्ति एक चेतन प्राणी है। यह चेतन प्राणी देखता है, सुनता है, स्पर्श करता है, सूंघता है और श्रवण करता है और फिर इन अनुभवों की प्रतिक्रिया भी इसमें उत्पन्न होती है। इस प्रतिक्रिया को दिशा देने वाली एक वस्तु बुद्धि नाम की प्राणी में रहती है। यह बुद्धि मनुष्य में एक उन्नत प्रकार की होती है।

ईंट में यह चेतनता नहीं होती। इसे मकान बनाने वाला तोड़ कर मकान की आवश्यकतानुसार घड़ लेता है और ईंट इसमें आपत्ति नहीं कर सकती। अतः मकान और ईंट की उपमा समाज और व्यक्ति में लागू नहीं हो सकती।

यह कहा जाता है कि मनुष्य बुद्धिशील प्राणी होने से, उसे समझा-बुझाकर सबके सांझे हित के लिये बराबर अथवा समाज की आवश्यकतानुसार छोटा-बड़ा रहने के लिये तैयार किया जा सकता है। यह एक भिन्न बात है। इस पर भी मनुष्य को स्वेच्छा से छोटा-बड़ा काम करने के लिये तैयार करना तथा मकान और ईंट की इससे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपमा ठीक बैठती नहीं । कोई ईंटों को समझाने नहीं बैठ जाता कि उनको मकान में अमुक स्थान पर काम करना है और वहाँ वह समूची समा नहीं सकती, इस कारण उसको टूटकर छोटी हो जाना चाहिये। न ही ईंट स्वेच्छा से ऐसी होती हैं। इच्छा तो उनके अन्दर होती ही नहीं।

समाज का किसी व्यक्ति को कहना कि वह निःशुल्क अथवा बहुत कम प्रतिकार पर काम करे, ऐसे ही होगा, जैसे किसी इन्जीनियर को कहा जाये कि वह पचास रुपये मासिक अपने वेतन में से ही अपने पर प्रयोग कर शेष दान-दक्षिणा में दे दे। इस प्रकार की प्रेरणा तो समाजों में और सब कालों में भले लोग देते रहे हैं। परन्तु हमारा आर्थिक समानता से यह अभिप्राय नहीं है।

आज के युग में आर्थिक समानता का अर्थ यह लिया जाता है कि प्रायः व्यक्ति एक जितना अन्न खाते हैं और एक समान कपड़ा पहनते हैं। प्रायः एक समान स्थान ही उनके निवास के लिये आवश्यक है। अतः उनको लगभग एक समान ही धन मिलना चाहिये। यह बात उक्त प्रेरणा से भिन्न है। यह गलत है। उसके गलत होने में कारण यह है कि अर्थ (धन) परिश्रम का प्रतीक है न कि मनुष्य की आवश्यकताओं का। एक मनुष्य दिन में दो घण्टा ही उपयोगी काम करता है और शेष दिन वह भोग-विलास अथवा मनोरंजन में व्यतीत कर देता है। दूसरा व्यक्ति आठ घण्टे दिन में काम करता है। पहला दिन में छः रोटियाँ खाता है और दूसरा तीन। तो क्या काम का प्रतिकार नहीं मिलना चाहिये?

कहने का अभिप्राय यह है कि धन परिश्रम का प्रतीक है। धन आवश्यकताओं के अनुसार वितरण नहीं किया जा सकता। या तो मनुष्य को अपनी आवश्यकताएँ अपनी आय के अनुकूल बना लेनी चाहियें अथवा अपनी उपार्जन-शक्ति की आवश्यकताओं के अनुसार बढ़ा लेना चाहिये।

जहाँ तक आय का सम्बन्ध है यह परिश्रम के अनुसार होनी चाहिये। परिश्रम का आधार अर्थात् शारीरिक प्रयास सब मनुष्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बराबर-बराबर नहीं कर सकते । बुद्धि सब की एक समान कार्य नहीं करती और ज्ञान सब का समान नहीं हो सकता ।

एक ही बाप के दो बेटे हैं । दोनों को घर में समान खाने-पीने को प्राप्त होता है । दोनों को वस्त्र समान, रहने का स्थान, जेब खर्च और पुस्तकों इत्यादि के लिये खर्च एक समान मिलता है । इस पर भी यह देखने में आता है कि दोनों समान ज्ञान संचय नहीं कर सकते । दोनों समान बुद्धि का विकास नहीं कर सकते । अतः दोनों के परिश्रम का समान मूल्य नहीं हो सकता ।

यह कहा जाता है कि समाज के कल्याण के लिये दोनों को सर्वथा समान नहीं तो लगभग समान धन मिलना चाहिये । यद्यपि इस माँग की कोई युक्ति नहीं । इस पर भी यह ठीक हो सकती है । समाज के उपभोग के लिये धनवान अधिक दे और निर्धन कम दे । यह बात तो समझ में आती है परन्तु यह युक्तियुक्त नहीं कि योग्य की आय अयोग्य के अनुसार कर दी जाये । ऐसा करने से समाज का हित नहीं प्रत्युत अहित होगा । व्यक्ति का हित ही तो समाज का हित है ।

समाज में सामान्य (mediocre) योग्यता के लोग बहुत होते हैं । अतः उनकी आय लगभग समान ही होती है । इस पर भी सामान्य मानवों में भी असमानता रहती है और आय में भी असमानता होगी ।

इस असमानता को मिटाने के लिये एक अन्य युक्ति दी जाती है । यह युक्ति एक समाजवादी ड्यूजनबरी ने अपनी पुस्तक Income, Savings and the Theory of Consumer Behaviour (p. 45) में लिखी है । आजकल के अर्थशास्त्री उसकी युक्तियों को सबसे ठीक मानते हैं ।

इस पुस्तक में दी गयी पूर्ण युक्ति को चार निष्कर्षों में लिखा जा सकता है । वे ये हैं—

(1) The aggregate savings ratio is independent of the absolute level of aggregate income.

(2) The aggregate savings ratio is dependent on (a) interest rates, (b) the relation between current and

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

expected future income, (c) the distribution of income, (d) the age distribution of population, (e) the rate of growth of income.

(3) Because of the discontinuity in preference functions the aggregate savings ratio wiil be rather insensitive to changes in interest rates. expectations, and preference parameters. Large changes in these factors will be required to produce, substantial changes in the saviugs ratio.

(4) *Ceteris paribus*, the propensity to save of an individual can be regarded as a rising function of his percentile position in the economic distribution. The parameters of that function will change with changes in the shape of the income distribution.[1]

इस सब का अर्थ है—

(१) कुल बचत का (आय में से) अनुपात आय के वास्तविक स्तर से स्वतन्त्र है।

(२) कुल बचत का अनुपात निर्भर है—

(क) ब्याज की दर पर; (ख) वर्तमान और भविष्य में होने वाली सम्भावित आय के परस्पर सम्बन्ध पर; (ग) आय के वितरण पर; (घ) जनता में भिन्न-भिन्न आयु के लोगों के अनुपात पर; (ङ) आय-वृद्धि की गति पर।

(३) अधिमान-युक्त कार्य के बन्द हो जाने के कारण कुल बचत का अनुपात ब्याज की दर बदलने से, आय की आशाओं से और समष्टि अधिमान से प्रभावित नहीं होता। इन मदों में बहुत बड़े परिवर्तन ही बचत के अनुपात में कोई परिवर्तन उत्पन्न कर सकते हैं।

(४) Ceteris parisus एक व्यक्ति की बचत करने की प्रवृति, उसकी आर्थिक वितरण की शततम स्थिति में नित्य बढ़ने वाला कार्य

1. Qtd. by Asoka Mehta in Democratic Socialism (1963) p. 132.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समझा जा सकता है। यह (नित बढ़ने वाला) कार्य आय-विभाजन का रूप बदलने से बदल जायेगा।

यह एक अर्थ शास्त्री का शब्दजाल है। ये विशेषज्ञ सरल और सीधी बात करना जानते ही नहीं। इसपूर्ण शब्द जाल को सहज ही समझा का सकता है। यह महाशय कहते हैं कि राष्ट्रीय बचत आर्थिक समानता पर निर्भर करती है (व्यक्तियों की) उच्च और निम्न आय में जितना कम अन्तर होगा, उतनी ही बचत की प्रवृत्ति होगी। जितना अन्तर अधिक होगा उतनी ही बचत वह कम कर सकेगा।

इस सिद्धान्त को सत्य मान लिया जाये तो भी यह कैसे सिद्ध हो गया कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की आय में अधिक से अधिक समानता होनी चाहिये। कोई बचत करता है या नहीं करता, यह उसके अपने विचार करने का काम है।

यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि व्यक्तिगत बचत और राष्ट्राय बचत दो पृथक्-पृथक् बातें हैं। व्यक्तिगत बचत एक व्यक्ति की अपनी आय और उसकी कंजूसी (मितव्ययता) की प्रवृत्ति पर निर्भर करती है। इसी प्रकार जातीय बचत पूर्ण जाति की आय अर्थात् उत्पादन और विदेशों में उस उत्पादन की बिक्री पर निर्भर करती है। साथ ही यह निर्भर करती है कितना कम हम विदेशों के उत्पादन का आयात करते हैं।

देश के भीतरी उत्पन्न पदार्थों पर व्यक्ति का व्यय करना किसी प्रकार भी राष्ट्रीय बचत पर प्रभाव नहीं डालता। केवल एक अवस्था में इसका प्रभाव होता है। जब देश में उत्पन्न किसी पदार्थ की विदेशों में माँग हो तो उस पदार्थ की लागत कम करने के लिये देश में, जनता को कहा जाये। तब देश में व्यक्तियों के लिये उस पदार्थ के प्रयोग में मितव्ययता आवश्यक हो जाती है।

ड्यूजनवरी के उक्त सिद्धान्त में एक भूल तो हमने ऊपर दिखाई है। वह राष्ट्रीय वचत (national saving) को व्यक्तिगत बचत में ग़लत-मलत कर रहा है। व्यक्तिगत बचत में उसने यह बताने का यत्न किया है कि सब लोगों की आय यदि लगभग बराबर होगी तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई फजूलखर्ची नहीं कर सकेगा। कोई ऐसा नहीं होगा जो दूसरों के सन्मुख फजूलखर्ची कर बुरा आदर्श उत्पन्न कर सकेगा।

जब कोई अपने मुहल्ले में कुछ एक को बढ़िया फैशनेबल कपड़े अथवा समान खरीदते देखता है तो उसके मन में भी वैसी ही फजूलखर्ची करने की लालसा जागृत होती है और वह अपने साधनों में से अधिक व्यय कर वैसी ही बढ़िया फैशनेबल वस्तुएँ खरीदना चाहेगा। इस प्रकार वह बचत नहीं कर सकेगा।

यह युक्ति एक अंश तक ही ठीक है। एक तो आय में भले ही कम अन्तर हो अथवा आय बराबर हो, दो व्यक्ति एक जैसी मितव्ययता करने वाले नहीं हो सकते। दोनों के रहन-सहन और उनके वस्तुओं के पसन्द करने में अन्तर बना रहेगा। अतः एक दूसरे की नकल करने की लालसा तो आय बराबर होने पर भी बनी रहेगी। यह लालसा आय समान करने से नहीं मिट सकती। इसके लिये मनुष्य में विवेक उत्पन्न करने की आवश्यकता है।

हमने ऊपर यह बताया कि आय का सम्बन्ध परिश्रम से है न कि आवश्यकताओं के साथ।

अर्थ समानता का तात्पर्य केवल आय में बराबरी करना ही नहीं, वरं मनुष्य की सम्पत्ति में भी बराबरी करने से है। सम्पत्ति बचत का एक रूप ही है।

ये अर्थशास्त्री पहले तो बचत करने के लिये आय में समानता उत्पन्न करना चाहते हैं, पीछे बचत को छीनकर सम्पत्ति को बराबर करना चाहते हैं।

ये हैं समाजवादियों की युक्तियाँ। अर्थ समानता के विषय में भारत की योजना कमिशन के उपाध्यक्ष श्री अशोक मेहता लिखते हैं—

If the choice of alternatives, is to be democratically made by the people, there must be economic equality. Because only then the choice becomes meaningful

1. Ashok Mehta, Democratic Socialism p. 131.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि (अर्थ-व्यवस्था के) विकल्पों में प्रजातन्त्रात्मक ढंग से चुनना है तो आर्थिक समानता होनी ही चाहिये। कारण यह कि तब ही स्वतन्त्र चुनाव सम्भव हो सकेंगे।

आपके इस कथन का अर्थ है कि प्रजातंत्रात्मक विधि-विधान में लोगों में आर्थिक समानता होनी ही चाहिये।

यह क्यों? इसमें केवल इसके, कोई अन्य युक्ति नहीं कि धनी मानी लोग साधारण लोगों का मत धन के बल पर खरीद लेंगे। यदि जनसाधारण कुछ धन के लोभ पर अपना मत बेच सकता है और इस बात का भय बना ही रहता है तो प्रजातंत्र होगा ही कैसे। आज जनसाधारण धन लोभ से मत बेचेंगे तो कल (आर्थिक समानता होने पर) स्त्रियों के कटाक्षों पर मत बेच देंगे। परसों किसी अन्य वासना की तृप्ति के लिये बेच देंगे।

यह तो श्री मेहता ने प्रजातंत्र की निन्दा कर दी है। वास्तविक बात यह है कि ये लोग जिनके मन में धर्म, न्याय और स्वतंत्र आत्मा की अनुभूति नहीं, वे अपने मन की बात को सिद्ध करने के लिए निरर्थक बातें करने लगे हैं। उनकी बात का सिर और पैर ही समझ नहीं आता।

आप आगे चलकर लिखते हैं—

There are some socialists who consider that equality of income is the heart and core of socialism.[1]

(कुछ लोग हैं जो यह समझते हैं कि आय में समानता ही समाजवाद की आत्मा और जीवन है।)

यही कारण है कि हम समाजवाद को एक अन्याय-युक्त, अयुक्ति-संगत और अधर्म-युक्त विचार मानते हैं। इस विषय में हम पुस्तक के अगले भागों में समाजवाद की विवेचना करते हुए लिखेंगे। यहाँ तो हम यह बताना चाहते हैं कि ये समाजवादी कभी तो राष्ट्रीय बचत के लिए समान आय की युक्ति उपस्थित करते हैं, कभी प्रजातन्त्रात्मक पद्धति की रक्षा के लिये समान आय की दुहाई देते हैं और कभी किसी अन्य

1. Ibid.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण से उसको लाना चाहते हैं। ये सब कारण अयुक्ति-संगत हैं। आय का सम्बन्ध परिश्रम से है, अन्य किसी बात से नहीं। दूसरी बातों का सम्बन्ध आय से है ही नहीं। आय का सम्बन्ध कर से भी है। कितना भारी भी कर क्यों न हो, अधिक योग्यतापूर्वक परिश्रम करने वालों की, करों से बची आय अधिक होनी चाहिये, नहीं तो अधिक योग्यता प्राप्त करने और अधिक परिश्रम करने में उत्साह नहीं रह जायेगा।

एक अन्य प्रकार के प्राणी भी हैं जो समता के आधार में मज़हबी विचार रखते हैं। क्रिश्चियन डैमाक्रेट एक उदाहरण हैं। भारत में जनसंघ संस्था भी इसकी उदाहरण है। जनसंघी हिन्दू धर्म-शास्त्र में आत्मवत् सर्वभूतेषु···अथवा सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगप्ते।' प्रमाण देकर उच्च आय और सम्पत्ति पर सीमा बाँधने का फतवा देते हैं।

इन शास्त्रों के वचनों में आर्थिक समानता की गंध भी नहीं उपर्युक्त उद्धरणों के अर्थ हैं—जैसे तुम स्वयं हो, वैसे ही दूसरों को समझो। यदि कोई स्वयं अयोग्य है तो वह दूसरे अयोग्यों के समान ही अपने को रखे। यह नहीं कि स्वयं तो अयोग्य होते हुए पांच सौ रुपया वेतन ले ले और दूसरे अपनी योग्यता वालों को एक सौ पर ही रखे। इसी प्रकार दूसरी बातों में विचार करे।

शास्त्र के उक्त वाक्यों का यह भी अभिप्राय है कि तुम सबके साथ अपने जैसा व्यवहार करो। यदि तुम इन्जीनियर होने से दो हजार रुपए वेतन पाते हो तो किसी अन्य के भी उसी योग्यता प्राप्त करने पर दो हज़ार रुपये वेतन दिलाओ। यदि तुम चपरासी हो और साठ रुपये पाते हो तो दफ़्तर के सुप्रिण्टेडेण्ट के सात सौ वेतन पाने पर उससे घृणा न करो अथवा इतनी लालसा न करो। इसी प्रकार यदि तुम स्वयं चोर हो तो अपने साथ वही व्यवहार की लालसा करो जो किसी दूसरे के चोर होने पर उससे किया जाता है। शास्त्र के इन वचनों का यह अर्थ नहीं कि लम्बे-ठिगने, बलवान-दुर्बल, योग्य-अयोग्य, पढ़े-अनपढ़, ज्ञानवान-अज्ञ सबको एक शिकंजे में कस कर बराबर कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया जाये।

सम्पत्ति रखना ठीक है अथवा नहीं, यह हम पुस्तक के अगले भाग में लिखेंगे। यहाँ तो हम केवल सिद्धान्त रूप में ही यह बताने का यत्न कर रहे हैं कि सबकी आय (Income) बराबर नहीं हो सकती। कारण यह कि सबकी, परिश्रम करने की सामर्थ्य समान नहीं। आय परिश्रम का प्रतिकार ही है।

सम्पत्ति बचत का एक रूप है। यदि बचत करना अच्छा है-तो सम्पत्ति रखना भी खराब नहीं हो सकता। आय और सम्पत्ति पर कोई सीमा हो अथवा न, यह हम अगले भाग में लिखेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीय भाग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथम अध्याय

समाजवाद के लक्षण

समाजवाद एक पारिभाषिक शब्द है। इसके विशेष अर्थ हैं। इन अर्थों को समझने के लिए इस पुस्तक के प्रथम भाग में मनुष्य और समाज के विषय में लिखे विवेचन को पढ़ लिया जाए तो अधिक उपयुक्त होगा।

समाजवाद के अर्थ Encyclopaedia of the labour Movement (Vol. III) में इस प्रकार लिखे हैं—

Socialismis a working-class doctrine and movement aiming through the class struggle, at the collective control of society, by the capture of the State machine by the workers and the establishment of self-government in industry.[1]

(समाजवाद कर्मचारी-श्रेणी का सिद्धान्त और आन्दोलन है जो वर्ग-संघर्ष से उद्देश्य प्राप्त करना चाहता था। उद्देश्य हैं मिलकर समाज पर नियंत्रण। उपाय है राज्य-प्रपंच पर कर्मचारियों का अधिकार प्राप्त करना और उद्योग-क्षेत्र में स्वशासन प्राप्त करना।)

समाजवाद के इस लक्षण से निम्न बातें स्पष्ट होती हैं—

(१) यह कर्मचारी-श्रेणी का आन्दोलन है;

(२) इस आन्दोलन का उद्देश्य है कर्मचारियों को एकत्रित कर पूर्ण समाज पर नियंत्रण प्राप्त करना;

---

1. Qtd. by Asoka Mehta in Democratic Socialism p. 42.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३) कर्मचारियों के अतिरिक्त भी समाज का एक अंश है। उस अंश के विषय में यह लक्षण मौन है;

(४) समाज पर कर्मचारियों के नियन्त्रण का उपाय है, राज्य पर अधिकार प्राप्त करना और उद्योग क्षेत्र में कर्मचारियों का शासन प्राप्त करना।

इससे अच्छा लक्षण और कहीं मिला नहीं। वास्तव में किसी निष्पक्ष व्यक्ति ने आन्दोलन की रूप-रेखा देखकर ही इस लक्षण का निर्माण किया है।

समाजवाद समाज में आर्थिक दृष्टि से वर्गों की कल्पना करता है। क्या इसका अर्थ यह है कि कर्मचारी का बेटा कर्मचारी ही होगा तथा वह कर्मचारी से उठकर समाज में कुछ अन्य बन नहीं सकता ? यह तो हिन्दुओं के जात-पात की सी प्रथा बन जाएगी। हिन्दुओं में भी ब्राह्मण का लड़का ब्राह्मण और वैश्य का लड़का वैश्य माना जाता है। यदि घनश्यामदास गुप्ता का लड़का दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रोफेसर बन जाए तब भी उसका विवाह वैश्य के घर में उत्पन्न लड़की से ही हो सकेगा और उसके बच्चे गुप्ता ही कहाएंगे तथा उनके भी विवाह संबन्ध बिरादरी में ही होंगे।

क्या यही बात समाजवाद कर्मचारी वर्ग के विषय में समझता है ?

एक कारखाने में काम करने वाला रूसी राष्ट्रसंघ का प्रधानमंत्री होकर भी और चौबीस घंटे राज्य-कार्य करता हुआ भी मजदूर ही कहाएगा क्या ? केवल इतना ही नहीं, बल्कि क्या एक नर्तकी जो एक लाख डुकैट वार्षिक पैदा करती है, वह भी मजदूर ही रहेगी ? राज्य-कर्मचारी मास्को के आलीशान होटल में जीवन का प्रत्येक प्रकार का सुख प्राप्त करता हुआ भी मजदूर ही है क्या ?

यह कहा जाता है कि कर्मचारी का अभिप्राय संपत्तिविहीन (proletariate) व्यक्ति से है। जो व्यक्ति संपत्ति की आय से अपना जीवन-निर्वाह करता है, वह पूंजीवादी है। वह कर्मचारी नहीं।

यहाँ संपत्ति का अर्थ परिश्रम से उत्पन्न एवं बचत किये हुए धन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से ही मानना चाहिए। इस बचत किये हुए धन के आश्रय जीवन-निर्वाह करना हेय माना गया है। परन्तु यह तो सब व्यक्ति करते हैं। एक मजदूर भी अच्छे दिनों के परिश्रम से उत्पन्न धन में से बचत कर, किसी भविष्य में आने वाले कठिन दिनों में प्रयोग के लिए रख लेता है। एक मजदूर स्त्री है। वह अपने प्रसवकाल में, बिना काम किए निर्वाह के लिए, महीनों बचत करती रहती है और फिर उस बचत के आधार पर दो मास तक काम से छुट्टी कर सकती है। इसके विपरीत एक इंजीनियर है। वह पाँच वर्ष तक कार्य कर और एक आध लाख रुपये की बचत कर शेष जीवन प्रभु चिन्तन में लगाता है। विचार करिए दोनों में यदि कुछ अन्तर है तो मात्रा का है। कार्य की दिशा एक ही है।

एक कुशल लेखक एक पुस्तक लिखकर इतना पैदा कर लेता है कि उससे उत्पन्न आय में बचत कर वह धन बैंक में जमा कर देता है। अथवा एक मकान पर लगा देता है। और इससे मिले सूद अथवा भाड़े से जीवन व्यतीत करता है। एक मजदूर जो कुछ दिन की सैर-सपाटे के लिए जमा करता है और एक लेखक जो जीवन भर के लिए जमा करता है, इनमें क्या अन्तर है? केवल मात्रा का है।

हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि मजदूर कोई ऐसी श्रेणी नहीं जो किसी दूसरे से पृथक् की जा सके। यदि मजदूर कुछ अधिक बचत नहीं कर सकता तो इस कारण वह एक पृथक् श्रेणी में हो गया और एक इंजीनियर तथा लेखक जो अधिक बचत कर लेते हैं वे पृथक् श्रेणी में हो गए, एक समझ में न आ सकने वाली बात है।

अब इसमें तर्क यह उठाया जाता है कि एक मजदूर स्त्री प्रसव-काल में अथवा एक मजदूर सैर-सपाटा करने में धन से धन पैदा नहीं करता और इंजीनियर अथवा लेखक जब धन बैंक में जमा करता है अथवा मकान बनाकर भाड़े पर देता है तो बचत को पूंजी बनाकर उससे अनायास ही लाभ उठाता है। इस कारण दोनों भिन्न-भिन्न श्रेणी में हैं।

यह तर्क आधाररहित है। बैंक से सूद लेना अथवा मकान का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाड़ा मिलना बचत के उपयोग का ढंग है। यह ढंग गलत है या ठीक है पृथक् विवेचना का विषय है। जहाँ तक संपत्ति रखने का प्रश्न है एक स्त्री जिसने प्रसवकाल के लिए एक सौ रुपए जमा किये हैं और एक लेखक जिसने वृद्धावस्था के लिए पचास हजार जमा किया है एक ही श्रेणी में आते हैं।

यदि सूद लेना अथवा मकान का भाड़ा लेना दूषित आय है तो इस पर विचार किया जा सकता है। यह आय एक व्यक्ति के हाथ में दूषित है अथवा जिस किसी के हाथ में ही आए दूषित ही है? यह प्रश्न उपस्थित होता है। सरकार के हाथों में मकानों के भाड़े और बैंक में जमा किये धन का सूद कैसे पवित्र हो जाएगा।

इस विषय पर, आय, बचत और पूंजी के विषय में विचार करते समय और अधिक लिखेंगे। यहाँ तो हम समाजवाद के लक्षणों पर विचार कर रहे हैं।

समाज में आर्थिक दृष्टि से वर्गों की कल्पना न केवल मिथ्या है, वरं यह समाज में एक ऐसी कटुता उत्पन्न करने वाली बात है जो घोर संघर्ष के खतरे की घण्टी समझनी चाहिए। हिन्दू समाज में जन्म से जाति मानने के कारण जो अन्याय और उपद्रव हुए हैं वे सर्व विदित हैं। आर्थिक दृष्टि से वर्ग मानने पर इससे कम हानि होने वाली नहीं। जैसे जन्म से ब्राह्मण मानने से विद्वान और चरित्रवान बनने में अरुचि उत्पन्न हो गई थी, वैसे ही एक बार मजदूरी करने पर सदा के लिए मजदूर ही बने रहने की बाध्यता जीवन में उत्साह-हीनता उत्पन्न करेगी और उन्नति करने की आकांक्षा को मिटाकर रख देगी।

कर्मचारियों को एक वर्ग मानकर उस वर्ग द्वारा राज्य पर अधिकार प्राप्त कर, पूर्ण-समाज को उसके अधीन कर देना समाजवाद का लक्षण माना है।

इसमें सन्देह नहीं कि संपतिविहीन एक बहुत बड़ी संख्या में हैं, परन्तु यदि संख्या ही किसी श्रेणी के अधिकारों की सूचक है तो संसार में कीट-पतंगों का राज्य हो जाना चाहिए।

संपत्ति रखना अथवा न रखना तो राज्यधिकारी होने के लक्षण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं हो सकते। राज्यधिकारी होने के लिये कुछ दूसरे गुण हैं। प्रथम, वे लोग राज्य के अधिकारी हो सकते हैं जो क्षात्र-धर्म का पालन करने वाले हों। क्षात्र-धर्म के साथ नीति-शास्त्र का ज्ञाता होना राज्याधिकारी के लिये आवश्यक है। न्यायप्रियता, बुद्धिशीलता और तप-तपस्या से युक्त होना राज्याधिकारी के लिये आवश्यक है। इन गुणों वाला संपत्ति रखता है अथवा नहीं रखता, यह सर्वथा गौण बात है। दोनों वर्गों में (संपत्ति-युक्त तथा संपत्तिविहीन) उक्त गुण वाले व्यक्ति मिल सकते हैं।

अतः समाजवाद के लक्षण में ही मजदूर और मजदूर के अतिरिक्त समाज के घटकों में भेदभाव मानना और भेदभाव के आधार पर राज्य चलाना और उद्योग-क्षेत्र पर उनका पूर्ण अधिकार मान लेना पूर्ण समाज को बुद्धिविहीन बनाने का प्रयास है।

समाज में, जैसा हम प्रथम भाग में लिख चुके है, चार प्रकार के मनुष्य पाये जाते हैं। ब्राह्मण वर्ण के, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण के। राज्य इन चारों वर्णों के ऊपर इनमें व्यवस्था स्थापित करने वाला एक यंत्र है। राज्य इन चारों के कर्मों का समन्वय करने वाला होना चाहिए।

केवल विवादास्पद प्रश्न यह है कि कर्मचारी के क्या लक्षण हैं? एक ब्राह्मण जिसके पास कुछ अधिक जमा पूंजी नहीं और जो धनोपार्जन का कोई कार्य करता भी नहीं; केवल ज्ञान-ध्यान में लीन रहता है, वह किसी की नौकरी करना भी नहीं चाहता, स्वतंत्र रहकर अपने ज्ञान से समाज को प्रेरणा देता है; यह मजदूर वर्ग में माना जायेगा क्या? इसी प्रकार एक व्यक्ति कपड़े के कारखाने में जुलाहे का काम करता है और एक सैनिक बन्दूक ले शत्रु से लोहा लेने के लिये युद्ध क्षेत्र में अपना सर्वस्व बलिदान करने जा पहुँचता है। क्या दोनों कर्मचारी हैं? एक तो तीस वर्ष तक दिन के बाद दिन भर खड्डी पर काम करता है और दूसरा जीवन में एक आध-बार ही युद्ध क्षेत्र में जा अपने जौहर दिखा, शेष जीवन बैरकों में सुख से व्यतीत करता है। क्या दोनों कर्मचारी हैं?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्मचारी की व्याख्या में चारों वर्णों के लोग आते हैं अथवा नहीं ? वैश्य वर्ग जो व्यापार और उद्योग चलाते हैं अथवा जो खेती-बाड़ी करते हैं अथवा पशुधन की पालना करते हैं, वे किस वर्ग में आयेंगे ? वे कर्मचारी होंगे अथवा नहीं ?

हम चाहते हैं कि कर्मचारी के विषय में सम्पत्ति की बात छोड़ कर विचार किया जाये। कर्मचारी के लक्षण में चारों वर्ण के लोग आ सकते हैं, परन्तु क्या समाजवाद इन सबको कर्मचारी मानता है ?

वास्तव में समाजवाद के उक्त लक्षण अति अस्पष्ट हैं। यदि इनमें बात की स्पष्टता है तो वह यह कि कर्मचारी वर्ग के राज्य लाने के आन्दोलन को समाजवाद कहते हैं।

समाजवादी किसको कर्मचारी मानते है, यह सर्वथा अस्पष्ट बात है। यदि तो पूर्ण समाज अर्थात् इसके चारों वर्ण कर्मचारी हैं तब तो समाजवाद और मानववाद में कोई अन्तर नहीं रह जाता, परन्तु यह बात है नहीं।

शब्दकोश में कर्मचारी का अर्थ तो लिखा है परिश्रम करने वाला। परिश्रम मानसिक एवं शारीरिक दोनों प्रकार का हो सकता है। परि-श्रम के लिये कोई माध्यम (medium) होना चाहिए। भूमि अथवा कोई प्राकृतिक पदार्थ, जिससे मानवोपयोगी पदार्थ बनाये जा सकें।

अब तनिक एक ऐसे आदमी की कल्पना करें जो अपना शारीरिक परिश्रम (उदाहरणतः कपड़ा बुनने का काम) बेचकर ईंट, चूना इत्यादि मोल लेता है और उससे मकान बना लेता है। उस मकान को वह भाड़े पट चढ़ा देता है और भाढ़े से वह अपनी अन्य आवश्य-कताएँ पूर्ण करता है।

क्या इसका यह अभिप्राय नहीं कि उसने एक दूसरे व्यक्ति, जो कपड़ा बुनने के परिश्रम से प्राप्त धन को सिनेमा देखने अथवा शराब पीने में व्यय कर देता है, से कुछ अधिक किया है ? वह अधिक क्या है ? तनिक विचार किया जाये तो पता चलेगा कि तपस्या के अति-रिक्त उसने बुद्धि से भी परिश्रम किया है। तपस्या भी परिश्रम का एक रूप ही है। संयम से रहकर तथा बुद्धि के प्रयोग से उसने अपने कपड़ा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुनने के परिश्रम को ऐसी वस्तु में लगा दिया है, जिसकी दूसरे लोगों को आवश्यकता रहती है और वे उस वस्तु के प्रयोग का मूल्य देने को तैयार रहते हैं। कोई भी बुद्धि रखने वाला व्यक्ति, मकान बनाने में व्यय किये परिश्रम का मूल्य भाड़े में प्राप्त करने में दोष नहीं निकाल सकता। यह ठीक है कि मकान का भाड़ा कितना हो, विचारणीय बात है।

हमने यह बताने का यत्न किया है कि अर्थ के विचार से मनुष्यों में वर्गों की कल्पना ठीक नहीं। परिश्रम तो सब लोग करते हैं। वह मनुष्य भी परिश्रम करता है जो बैंक में धन जमा कर उसका सूद लेता है। कितना सूद हो और मकान का कितना भाड़ा हो, यह बात अवश्य विचारणीय है। परन्तु सूद लेना अथवा मकान का भाड़ा लेना तो परिश्रम का फल ही है। एक तो मूलधन एकत्रित करने में परिश्रम लगा है। दूसरे, धन का लगाना बुद्धि से विचारित कार्य है।

कुछ परिश्रम ऐसे हैं जिनसे मानवोपयोगी कार्य नहीं होते। परन्तु उनको कार्य नहीं भोग कहा जाता है। भोगों से कुछ निर्माण नहीं होता और उसके प्रतिकार में धन व्यय किया जाता है।

हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक वह कार्य, जिसका मूल्य प्राप्त होता है, वह उपयोगी ही मानना पड़ेगा। उदाहरण स्वरूप एक बाजीगर है। वह कलाबाजियाँ लगाकर दर्शकों का मनोरंजन कर, धन प्राप्त करता है। वह भी देखने वालों के लिये उपयोगी कार्य कर रहा है। कोई दूसरा तब ही धन देता है जब वह अपने लिए कुछ उपयोगी वस्तु प्राप्त करता है।

इस सब का अर्थ यह है कि इस दृष्टि से देश की जनता का अधिक नहीं, तो ६६ प्रतिशत भाग उपयोगी कार्य करता हुआ मिलेगा। यदि यह है तो प्रजातन्त्रात्मक राज्य ही समाजवादी राज्य मानना पड़ेगा।

परन्तु समाजवादी ऐसा नहीं मानते। वे न तो कर्मचारी के इस व्यापक लक्षण को स्वीकार करते हैं, न ही वे प्रजातन्त्र-पद्धति मात्र को समाजवाद मानते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनका ऐसा न मानना एक विशेष दृष्टिकोण के कारण है। इस दृष्टिकोण के बनने में भी विशेष कारण है। हम पहले संक्षेप में वह इतिहास बतायेंगे, जिसमें यह समाजवाद का विचार उत्पन्न हुआ था। उसके साथ-साथ समाजवादियों की कल्पना के कर्मचारी और समाज का ज्ञान भी हो जायेगा। तब ही पाठकगण इस पूर्ण योजना में अनर्गलता का भास पा सकेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीय अध्याय
समाजवाद की पृष्ठभूमि

समाजवाद शब्द भारतीय वाङ्मय में कहीं नहीं मिलता। यह शब्द योरोप में घड़ा गया है। इसकी रूप-रेखा अठारहवीं शताब्दी में कल्पना की जाने लगी थी और उन्नीसवीं शताब्दी में स्पष्ट वर्णन की जाने लगी थी। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में इसमें संशय उत्पन्न होने लगे थे और तब इसकी नयी-नयी कल्पनाएँ की जाने लगीं। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक समाजवाद के कई रूप उपस्थित किये जा चुके थे। फिर रूस में क्रान्ति हुई और लेनिन ने समाजवाद वहाँ स्थापित करने का प्रयत्न किया। जो रूप लेनिन ने निर्माण किया, उसमें भी संशय उत्पन्न हुए। स्टालिन ने इसको एक भिन्न रूप दिया। ख्रुश्चेव ने इसमें संशोधन करने का यत्न किया। चीन में माओ इत्यादि ने भी एक रूप निर्माण किया है और अब कहा जाता है कि रूस में समाजवाद का रूप ग़लत है और चीन में ही ठीक रूप चल रहा है।

इन सब रूपों के विषय में लिखना सम्भव नहीं; परन्तु प्रश्न उपस्थित होता है कि समाजवाद शब्द का निर्माण क्यों किया गया? इस शब्द की कल्पना करने वालें के मन में इससे क्या प्राप्त करने की आशा थी?

योरोप में पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी के काल में ईसाई धर्म का व्यापक प्रचार हो गया था। रोम में ईसाइयों के महा गुरु (पोप) योरोप के लोंगों के पाप-पुण्य के ठेकेदार बन गये थे। उनके माथे पर भृकुटि चढ़ी देख बड़े-बड़े सम्राट् कांपने लगते थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईसाई धर्म क्या था ? हज़रत ईसा एक यहूदी थे। वे जुडाइज़्म (यहूदी मत) को मानते थे, परन्तु उस मत में कई दोष घुस आये थे। उन दोषों के कारण वे यहूदी कौम् में ह्रास हो रहा अनुभव करते थे। फिलस्तीन तथा जैरूसलम, जो यहूदियों का कई सहस्र वर्षों से देश था, रोमनों ने अपने अधीन कर लिया था, जिससे यहूदी लोग रोम की प्रजा बन गये थे। ईसा का यह विचार था कि यहूदियों की यह दासता उनके मत में विकृति आ जाने के कारण है। मत में विकार उत्पन्न होने से चरित्र-हीनता उत्पन्न हो रही थी। अतएव हज़रत ईसा ने यहूदियों में सुधार करने का यत्न किया। उन्होंने उन पुजारियों, जिन्होंने यहूदी मत को अपनी जीविका का साधन बना रखा था, के विरुद्ध कहना आरम्भ किया और यहूदी मत मे सुधार-कार्य आरम्भ हो गया। पुजारियों के, तत्कालीन रीति-रिवाजों में निहित स्वार्थ थे। वे उन रीति-रिवाजों को चालू रखने का यत्न करते थे और हज़रत ईसा इन रीति-रिवाजों को हटा देने के लिए कहते थे। आख़िर यहूदी पुजारियों ने हज़रत ईसा के विरुद्ध रोमन शासक के सम्मुख शिकायत की। रोमन शासक ने इन पुजारियों को ही ईसा पर न्याय-कर्त्ता नियुक्त किया और उन्होंने ईसा पर जुडाइज़्म का अपमान करने का आरोप लगा प्राण दण्ड देने का प्रस्ताव कर दिया। रोमन हाकिम ने यह दण्ड दे दिया।

हज़रत ईसा के कुछ साथियों के मन में यहूदियों के तत्कालीन धर्म के प्रति घृणा उत्पन्न हो गयी। उन्होंने हज़रत ईसा के सुधारों को ईसा का मत अर्थात् ईसाई मज़हब का नाम दिया।

हज़रत ईसा की परमात्मा तथा मनुष्य के विषय में कल्पना लगभग वही थी, जो यहूदियों की थी। वे कहते थे कि परमात्मा सातवें आसमान पर बैठा हुआ है और उसके फरिश्ते पृथ्वी पर आते हैं और लोगों के व्यवहार के विषय में परमात्मा को सूचित करते हैं। लोगों के सब आमालों को एक बही पर लिखा जाता है।

क़यामत के दिन सब लोग उठाए जायेंगे और उनके आमालों को बही में से पढ़कर उनको नरक अथवा स्वर्ग में भेजा जायेगा। स्वर्ग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में वह सब सुख-सामग्री मिलेगी, जो पाने के लिए यहाँ मनुष्य लालसा रखते हैं।

यह एक संक्षिप्त रूप-रेखा थी ईसाई मज़हब की। सोलहवीं शताब्दी के दार्शनिकों को यह रूप ठीक समझ नहीं आया.। यहूदियों ने और उनका अनुकरण करते हुए ईसाइयों ने जुडाइज़म तथा ईसाई मत के अतिरिक्त अन्य पंथों के लिए अत्यन्त घृणा उत्पन्न कर दी थी। वे उनको पेगन (अन्धकार तथा अविद्या में फँसे हुए) मानते थे।

ईसाई मत की जीवन-मीमांसा भी अधूरी थी और बुद्धिशील लोगों को संतुष्ट नहीं कर सकी। योरोप के ये दार्शनिक भी ईसाई मत के अतिरिक्त अन्य दर्शनशास्त्रों तक नहीं पहुँच सके। उदाहरणतया परमात्मा की कल्पना कि वह एक स्थान पर बैठा है और दूसरे स्थानों का ज्ञान, बिना किसी दूसरे की सहायता के प्राप्त नहीं कर सकता, परमात्मा की महिमा को कम करने वाला सिद्ध हुआ। फिर आदम और हव्वा की कहानी, परमात्मा का अकेले उदास हो जाना, हव्वा को शाप देना, इस कारण कि उसने ज्ञान का फल खा लिया था, भला इससे किस प्रकार बुद्धिशील व्यक्ति का समाधान हो सकता था!

कदाचित् ये और इसी प्रकार की अन्य कथाएँ किसी गम्भीर सच्चाई को प्रकट करने के लिए रूपक मात्र थीं, परन्तु ईसाई पादरी और यहूदी पुजारी न तो उनको रूपक मानते थे और ना ही वे इनका कोई अन्य गम्भीर अर्थ लगा सकते थे। अतः सोलहवीं शताब्दी के दार्शनिक पहले पादरियों और उनके गुरु पोप के विरुद्ध हुए और तदुपरान्त ईसाई धर्म के ही विरुद्ध हो गये। उन दार्शनिकों के विरोध का ईसाई विद्वान् उत्तर न दे सके। ये ईसाई पादरी कितने मूर्ख थे, इसका अनुमान गलीलियो की कथा से ज्ञात होता है। गलीलियो कहता था कि पृथ्वी गेंद की भाँति गोल है, परन्तु बाइबल में लिखा है कि प्रलय के समय परमात्मा पूर्ण पृथ्वी के मृतकों को कहेगा कि उठो और वह उनको देखेगा। पादरी कहते थे कि यदि दुनिया गोल है तो परमात्मा कैसे पृथ्वी-भर के मुर्दों को एक दम देख सकेगा। इस कारण गलीलियो ग़लत है। वह बाइबल को ग़लत सिद्ध करने का यत्न कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहा है, इस कारण वह जीवित जला देने योग्य है। गलीलियो अपने कुछ मित्रों की सहायता से, जिनका पोप पर बहुत दबाव था, बच गया।

ये पादरी ही थे जिन्होंने जॉन ऑफ आर्क को जीवित जला दिया था। यदि बुद्धिशील लोग ऐसे धर्म के ठेकेदारों के विरोधी हो गये तो विस्मय करने की बात नहीं है।

इसके साथ ही पार्थव विज्ञान (Science of Matter) में उन्नति होने से जो-जो नयी बातें ज्ञात हुईं, उनको पादरी लोग धर्म के नाम पर अस्वीकार करते रहे। परिणाम यह हुआ कि दार्शनिकों ने ईसाई मत को मूर्खतापूर्ण समझा। इसके साथ-साथ उन्होंने परमात्मा और आत्मा के अस्तित्व से भी इन्कार कर दिया।

इस पर डार्विन का विकासवाद प्रस्तुत किया गया और इसने दार्शनिकों के मन पर गहरा प्रभाव उत्पन्न किया। परिणाम यह हुआ कि सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में ईसाई धर्म के, और साथ ही परमात्मा तथा आत्मा के विपरीत विचार बन गये। प्रायः पढ़े-लिखे जड़वादी हो गये। वे कामनाओं तथा विषय भोग के पीछे भाग खड़े हुए।

विचारों में इस क्रान्ति के साथ-साथ विज्ञान ने तकनीकी विकास भी किया और मशीन युग आरम्भ हो गया।

उस समय योरोप में दो कौमें शक्तिशाली थीं जिनके एशिया तथा नई दुनिया (अमरीका) में उपनिवेश बन गये थे। ये थीं अंग्रेज़ और फ्रांसीसी। इन दोनों जातियों ने अपनी तकनीकी उन्नति के बल पर और अपनी राजनीतिक प्रभुता के बल पर अपने उपनिवेशों का धन मूल देशों में अर्थात् फ्रांस और इंग्लैंड में एकत्रित करना आरम्भ कर दिया।

इंग्लैंड और फ्रांस के उद्योगपतियों के पास धन आने लगा परन्तु न तो ये उद्योगपति और न ही इन देशों की सरकारें, कारखानों में काम करने वाले मज़दूरों के साथ न्याय कर सकीं।

ये मज़दूर प्रायः देहातों में खेतों पर काम करने वाले भूमि-विहीन लोग थे। देहातों में वेतन बहुत कम था, परन्तु खाने-पीने और रहने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सुविधा थी। वे बेचारे खाने-पीने तथा रहने की सुविधा का मूल्यांकन न कर सके और केवल वेतन में वृद्धि अथवा वेतन को सरकारी सिक्कों में पानें के प्रलोभन में देहातों को छोड़ नगरों में आकर कारखानों में काम करने लगे। नगर में स्थानाभाव के कारण बहुत छोटे स्थान में बहुत लोग इकट्ठे रहने लगे। इनके निवास स्थानों पर सफाई नहीं हो सकती थी। मज़दूर स्वयं भी दिन-भर कारखानों में काम करने के कारण न तो अपने शरीर को साफ रख सके, न ही रहने की कोठरियों में सफाई रख सके। नगरों में कपड़े मिलने भी कठिन थे, अतः इन मज़दूरों की अवस्था बिगड़ने लगी।

इस पर रंग चढ़ा, अल्पायु बच्चों और स्त्रियों के कारखानों में काम पर लगाये जाने पर। उनकी अवस्था तो युवा पुरुषों से भी अधिक खराब हो गयी। साथ ही जब कारखानों में उत्पादन बिक्री से अधिक हो जाता तो कारखाने बन्द कर दिए जाते अथवा काम करने वालों की संख्या कम कर दी जाती। देहातों से उजड़कर आये ये लोग नगरों में बेकार-हो जाने पर सब प्रकार के पाप कर्म करने लगते। विशेष रूप में बच्चे और स्त्रियाँ ऐसी स्थिति में अति पतित जीवन व्यतीत करने लगीं।

इनकी इस अवस्था को कुछ बुद्धिशील व्यक्तियों ने देखा और वे इनकी दशा को सुधारने का यत्न करने लगे। दुर्भाग्य की बात यह हुई कि जहाँ राजा (सरकारी अधिकारी) ईसाई अथवा नास्तिक थे, वहाँ कारखानों के मालिक भी और फिर ये निर्धनों की अवस्था पर चिन्ता अनुभव करने वाले भी, प्रायः नास्तिक थे। वे निर्धन मज़दूरों के साथ अन्याय होता देख, उसका न तो कारण ढूंढ़ सके, न ही रोग की उचित चिकित्सा कर सके।

इंग्लैंड और फ्रांस में कारखानों के मज़दूरों की बुरी अवस्था देख, सरकार समझती थी कि उनकी दशा सुधारना उसका काम नहीं। मालिक मज़दूरों से उपलब्ध आय को अपनी पैतृक सम्पत्ति मानते थे। वहाँ के शासक कारखाने में काम करने वाले मज़दूरों को दास-तुल्य मान उनकी दुरावस्था के लिए चिन्ता नहीं करते थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारखानों में काम करने वाले कुछ व्यक्तियों ने इन मज़दूरों की कठिनाइयों को देख उनको दूर करने का यत्न किया। यह यत्न मुख्य रूप में दो दिशाओं में होने लगा। एक दिशा थी कारखानों के मालिकों को कहकर मज़दूरों की अवस्था सुधारी जाये और दूसरी दिशा थी मज़दूरों को संगठित कर उनकी अपनी अवस्था सुधारने के लिए कहा जाये।

प्रथम श्रेणी में कुछ लोग ऐसे भी थे जो मज़दूरों की दुर्दशा में सरकार को दोषी मानते थे और सरकार में सुधार करने में लग गये। फ्रांसीसी क्रांति इसी प्रकार के लोगों के यत्वों का परिणाम थी।

इंग्लैंड में मशीन युग के दुष्परिणाम १७६० में दृष्टिगोचर होने लगे थे और उसी काल में अंग्रेजों और फ्रांसीसियों में ऐसे लोग आगे आने लगे थे जो कारखानों में काम करने वाले कर्मचारियों की दशा सुधारने में लग गये।

आज कल के समाजवादी इनको काल्पनिक स्वर्ग का स्वप्न लेने वाले मानते हैं। यह इस कारण कि ये समाजवादी, मालिकों की प्रवृत्ति को बदल सकने की तथा मजदूर राज्य से इतर किसी अन्य राज्य-प्रणाली द्वारा मजदूरों का पक्ष लेने की आशा नहीं करते।

अतः उन सब सुधारकों को जो मालिकों को प्रेरणा देकर उनके अधीन कर्मचारियों की दशा सुधारने में संलग्न हैं, समाजवादी स्वप्न-लोक में रहने वाले मानते हैं। इसी प्रकार ये समाजवादी मजदूरों के राज्य के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार की राज्य-प्रणाली से भलाई की आशा नहीं करते।

यह धारणा समाजवादियों की सर्वथा मिथ्या ही थी। आज इंग्लैंड में, फ्रांस, जर्मनी, अमेरिका और जापान में मजदूरों की अवस्था सन् १८०० से बहुत अच्छी है। यदि यह कहा जाय कि रूस के एक सामान्य मज़दूर से उक्त देशों के मजदूर की अवस्था अच्छी है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

इन आरम्भ के सुधारकों के विषय में यह कहा जाता है कि ये लोग उच्च आदर्शों से प्रेरित थे। इनकी विचार, दिशा और उद्देश्य,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनके कार्यों की योजना ऐसी नहीं थी, जो वास्तविक और क्रूर सामाजिक परिस्थितियों से सम्बन्ध रखती थी अथवा उनके विचार से बनी थी।

वास्तव में इनको आज के विचार से समाजवादी कहा ही नहीं जा सकता। यह उन सबको, जो समाज में किसी प्रकार की न्याय-युक्त तथा युक्ति-युक्त अर्थ-व्यवस्था (economic order) स्थापित करना चाहते हैं, समझ लेना चाहिए कि समाजवाद सुधारवाद नहीं है। समाजवाद प्राचीन को निःशेष कर, अपने ढंग का नया ढांचा खड़ा करने वाला एक वाद है।

हमने समाजवाद के लक्षण से यह सिद्ध कर दिया है कि समाजवादी समाज के एक वर्ग का, पूर्ण समाज पर आधिपत्य चाहते हैं और ऐसा करने के लिए राजतन्त्र का प्रयोग करना चाहते हैं। राज्य पर अधिकार प्राप्त करने के लिए प्रत्येक प्रकार के उपाय को वे क्षम्य मानते हैं।

अतः मशीनों से काम होने के प्रारम्भिक युग में कुछ भले लोगों को मजदूरों की बुरी अवस्था का ज्ञान हो गया था और उन्होंने इस अवस्था को सुधारने के लिए मालिकों और मजदूरों में समन्वय उत्पन्न करना चाहा था।

वे ऐसा नहीं कर सके। इसमें कारण उनके काम की दिशा और प्रयत्न की मात्रा में भूल थी।

जब मालिक स्वार्थरत हो गये, तो उनका स्वार्थ रजोगुण का सूचक था। इस रजोगुण पर सात्त्विक गुणी विद्वानों का प्रभाव होना चाहिये था। भगवद्गीता में लिखा है—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥[1]

गीता के इस श्लोक के अनुसार जो लोग स्वार्थरत उद्योगपतियों और राज्याधिकारियों का सुधार करने चले थे, उनमें न तो ज्ञान-विज्ञान का प्रकाश था, न ही उनमें शम, दम, तप पर्याप्त मात्रा में

१. भ० गी० १८-४२;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। उनके असफल होने में मुख्य कारण यही थे। ये लोग न तो बलशाली थे, न ही उक्त ब्राह्मणत्व के गुणों से युक्त थे।

यह बात गलत है कि इनका कार्य काल्पनिक स्वर्ग का स्वप्न मात्र था। वास्तव में यह प्रेरणात्मक कार्य था और इसमें यह सफल हुआ था।

उस समय के सुधारकों ने उद्योगपतियों को ठीक करने के लिए राज्य-प्रणाली में सुधार किया था। उद्योगपतियों को तत्कालीन राज्य का समर्थन प्राप्त था। जब राज्य-प्रणाली में सुधार हुआ तब सुधारकों की प्रेरणा से राज्य ने उद्योगपतियों को सीधा कर दिया। इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, अमरीका और जापान इसके उदाहरण हैं।

इस दिशा में सैकड़ों वर्ष पूर्व इंग्लैंड में सर्वप्रथम प्रयत्न किया गया। वह १५ जून सन् (१०१५) में हुआ। ज़मींदारों और राजा के मध्य एक करार हुआ था, जिसको मैगना कार्टा (Magna carta) कहा जाता है।

समाजवादी इसकी हँसी उड़ाते हैं। इस पर भी उस काल में यह इंग्लैंड की दूरदर्शिता का एक अति उज्ज्वल प्रमाण है। इस मैगना कार्टा के करार में यह बात, राजा ने बिना युद्ध में हार-जीत के स्वीकार की थी कि राज्य भविष्य में केवल राजा की इच्छा पर नहीं, वरं देश के रीति-रिवाजों और परम्पराओं के अनुसार चलाया जायेगा।

इसी मैगना कार्टा की परम्परा में सन् १८२५ में साधारण जनता के हितों के लिए एक चार्टर स्वीकार करवाने का विचार किया गया। इसके लिए आन्दोलन चलाया गया। इस आन्दोलन को चार्टरिज़म कहते हैं।

सन् १८३२ में रॉबर्ट ओवन का पार्लियामेण्ट विरोधी आन्दोलन असफल हो चुका था। इस कारण १८३२ में लोग चार्टरिज़म में रुचि लेने लगे थे। रॉबर्ट ओवन का विचार था कि संसद भंग कर देनी चाहिये और उसके स्थान मज़दूर सरकार स्थापित करनी चाहिए। अंग्रेजी दिमाग में यह आन्दोलन जंचा नहीं। चार्टरियों ने इसको यह रूप दिया कि जन-साधारण के अधिकारों का एक 'चार्टर' तैयार कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसको राजा से मनवाना चाहिए।

फर्गुस ओ-कौनर (Feargus O'Conner) का कहना था कि यदि राज्य को मज़दूरों के हक में न बनाया गया तो यह विरोध करने वाला यन्त्र बन जायेगा और सरकार को मज़दूरों को हक में करने के लिए वयस्क मतदान (adult suffrage) का अधिकार होना चाहिये।

यह आन्दोलन कुछ देर तक चलता रहा। इसका परिणाम भी हुआ। मतदान का क्षेत्र विस्तार पाने लगा।

सन् १८४८ में कार्ल मार्क्स और उसके साथियों ने एक घोषणा पत्र (manifesto) निकाला। उन्होंने समाज सुधार को एक वाद का रूप दिया। यह चार्टरियों में विलियम लौवेट (William Lovett) के विचारों की उपज था।

कम्यूनिस्टों के उस घोषणा पत्र छपने से पूर्व, मज़दूरों की अवस्था के सुधार का दावा करने वालों में तीन व्यक्ति विख्यात हुए हैं। वे हैं—(१) सैन्ट साइमन, (२) चार्ल्स फॉरार (३) रॉबर्ट ओवन।

यद्यपि इन तीनों को वर्तमान युग के समाजवादी और कम्यूनिस्ट स्वप्नों में विचरने वाला मानते हैं, इस पर भी ये लोग ओ-कौनर से भिन्न प्रकृति के थे। इनको तत्कालीन सरकारों से अथवा इन सरकारी पद्धतियों से किंचित् मात्र भी आशा नहीं थी कि मज़दूरों की अवस्था सुधरेगी। एक शब्द में ये क्रान्ति लाने के पोषक थे। यदि यह कहा जाये कि इनके विचार ही पीछे जाकर समाजवादियों ने और कम्यूनिस्टों ने अपनी योजनाओं के आधार बनाये, तो अधिक ठीक होगा।

अतः हम इन तीनों के विचारों पर भी अपनी विवेचना लिखेंगे। इससे पाठकों को विदित हो जायेगा कि समाजवाद की पूर्ण योजना का आधार ही मिथ्या है।

यह रुचिकर होगा कि इन तीनों के विषय में कम्यूनिस्टों के विचारों की झलक यहाँ दे दी जाय। इससे इनके विषय में अपनी विवेचना स्पष्ट हो जायेगी। फ्रेडरिक एंजल अपने लेख 'Socialism Utopian and Scientific' में लिखता है :

One thing is common to all three. Not one of them

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

appears as a representative of the interests of the proletariat which historical development had, in the meantime, produced. Like the French philosophers, they do not claim to emancipate a particular class to begin with, but all humanity at-once. Like them, they wish to bring in the kingdom of reason and eternal justice, but this kingdom, as they see it, is as far as heaven from earth. from that of the French philosopher.[1]

(इन तीनों सेंट साइमन, फॉरार और ओवन) में एक बात समान है। इनमें से एक भी उस प्रोलिटेरिएट (सम्पत्तिविहीन) वर्ग का प्रतिनिधि नहीं है, जिस वर्ग को ऐतिहासिक विकास ने अब तक पैदा कर दिया है। अन्य फ्रांसीसी दार्शनिकों की भाँति वे भी किसी एक श्रेणी का उद्धार का दावा नहीं करते। वे पूर्ण मानव समाज का एकदम उद्धार करना चाहते थे। उन दार्शनिकों की भाँति वे इस भूतल पर युक्ति और शाश्वत न्याय का राज्य स्थापित करना चाहते थे, लेकिन वैसा राज्य उन फ्रांसीसी दार्शनिकों से इतना ही दूर है जितना पृथ्वी से स्वर्ग।)

यह एक विकृत मस्तिष्क का ही कथन है। उन तीन भले लोगों के विषय में तो हम अगले अध्यायों में लिखेंगे। परन्तु इतना यहाँ स्पष्ट कर देना ठीक होगा कि कम्यूनिज़्म के वकील इन तीनों को मूर्ख और अपने को बुद्धिमान मानते हैं। एंजल साहब के मस्तिष्क का यही विकार था। एक नास्तिक ही ऐसा कह सकता है।

यह हम लिख चुके हैं कि नास्तिक का अभिप्राय सत्य ज्ञान से रहित व्यक्ति है। सत्य ज्ञान का परिचय निर्मल बुद्धि को ही हो सकता है। कम्यूनिज़्म के इन वकीलों की बुद्धि निर्मल नहीं थी। कारण यह कि ये पूर्ण मानव समाज के उद्धार को वाञ्छनीय नहीं मानते। इनके दृष्टिकोण को भी ठीक समझ लिया जाये कि सम्पत्तिधारी और शोषणकर्त्ता पर्यायवाचक हैं तब भी कौन मूर्ख होगा जो उनके उद्धार को

1. The Essential Left (Unwin Books) 1960, p. 107.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ठीक नहीं समझेगा। क्या उनको सम्पत्ति त्यागने पर राजी करना, उनका उद्धार करना नहीं है?

एंजल के उक्त कथन का अर्थ यह है कि जो एक बार सम्पत्ति-धारी बन गया, वह गोली से मार डालने के योग्य है। उसको समझाने की भी आवश्यकता नहीं। इस बात के जानने की आवश्यकता नहीं कि उसके पास सम्पत्ति कैसे आयी है और वह सम्पत्ति का क्या उपयोग कर रहा है। बस उसको मार कर संसार से बाहर कर देना ही उचित है।

एंजल महोदय का यह अभिप्राय भी हो सकता है कि उसकी सम्पत्ति ही छीन ली जाये। मान लो सम्पत्ति छीनना ठीक है, परन्तु एक अदूरदर्शी मूर्ख की भांति वह यह नहीं समझ सका कि सम्पत्ति छीनने की सामर्थ्य सम्पत्ति-विहीनों में सन् १८३० में नहीं थी। वह सामर्थ्य सब स्थानों पर आज भी नहीं है। सत्तर वर्ष लगे हैं रूस में कम्यूनिस्ट राज्य लाने में। फिर भी वहाँ सर्वथा सब सम्पत्ति-विहीन तो अब भी नहीं हुए। अब तो रूस में सम्पत्ति छीनने का परीक्षण ४८ वर्ष तक करने के उपरान्त पुनः एक सीमा तक सम्पत्ति रखने की स्वीकृति दी जा रही है।

कार्ल मार्क्स और एंजल इतनी सीमित बुद्धि रखते थे कि वे नाक से आगे देख भी नहीं सकते थे। इस विषय पर अपने विचार हम कम्यूनिज़्म के विषय में लिखते हुए बतायेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तृतीय अध्याय

सेंट साइमन

इस महापुरुष का जीवन-काल अठारहीं शताब्दी के अन्त और उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ का काल था। इसने फ्रांस की बड़ी क्रांति देखी थी। यह फ्रांस का रहने वाला देख रहा था कि निर्धन लोग जीवन की कठिनाइयों से पीड़ित व्याकुल हो उठे थे और उन्होंने सम्पत्ति-धारियों को निःशेष कर देने का प्रयत्न किया था। जब धड़ाधड़ धनी-मानी, पादरी और जमींदार पकड़-पकड़ कर गुलेटीन पर चढ़ाये जा रहे थे, तब गुलेटीन चलाने वालों में भी कुछ थे, जो सम्पत्ति संचय कर रहे थे। परिणामस्वरूप पूर्वजों से सम्पत्ति प्राप्त धनिकों के साथ इन स्वनिर्मित धनिकों को भी गुलेटीन पर चढ़ाया जाने लगा और निर्धनों में धड़ेबंदी हो गयी। फ्रांस की पार्लियामेन्ट (Directory) में एक धड़ा दूसरे को गुलेटीन की ओर धकेलने लगा। इस अव्यवस्था का अन्त हुआ नेपोलियन की तानाशाही में।

सेन्ट साइमन ने यह देखा था। इसको एंजल ने अपने उक्त लेख में ही इस प्रकार लिखा है:

[1]We saw how the French philosophers of the eighteenth century, the forerunners of the Revolution, appealed to reason as the sole judge of all that is. A rational government, rational society, were to be founded ; everything that ran counter to eternal reason

1. The Essential Left, p. 108.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

was to be remorselessly done away with. We saw also that this eternal reason was in reality nothing but the idealized understanding of the eighteenth century citizen just then evolving into the bourgeois. The French Revolution had realized this rational society and government.

......The State based upon reason completely collapsed. Rousseau's Contract Social had found its realization in the Reign of Terror.........

अर्थ हैं—

हमने देखा है कि अठारहवीं शताब्दी के दार्शनिक, जो फ्रांस की क्रान्ति के पहले हुए थे, किस प्रकार युक्ति का आह्वान करते थे, मानो वे सब कुछ युक्ति से निर्णय करना चाहते हैं। युक्तियुक्त सरकार तथा समाज स्थापित करना है। जो कुछ युक्ति के विपरीत है उसे कठोरता से मिटा देना है। हमने यह भी देखा है कि सनातन युक्ति भी अठारहवीं शताब्दी के नागरिकों की आदर्श सूझ के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं थी। ये नागरिक तब बूर्जुआ बन रहे थे। उस युक्तियुक्त समाज और सरकार का अन्त फ्रांसीसी क्रान्ति में हुआ।

...युक्ति पर आधारित सरकार पूर्ण रूप से ढह गयी। 'रूसो' का सामाजिक करार (Contract) का अन्त आतंक के राज्य में जाकर हुआ।

यह विनाश तो हुआ, परन्तु एंजल का निदान कि यह युक्तियुक्त व्यवहार का परिणाम था, सर्वथा मिथ्या है। क्रान्तियां सामयिक उत्कट भावनाओं से उत्पन्न होती हैं। ये किसी युक्तियुक्त क्रिया-कलाप का परिणाम नहीं होतीं।

साथ ही युक्तियुक्त विचार सब तो कर सकते नहीं। युक्ति बुद्धि का विषय है और बुद्धियां सब में समान नहीं हैं। अतः बुद्धि का पूर्ण-रूप से प्रयोग तो कुछ इने-गिने लोग ही करने की योग्यता रखते हैं। भला 'रूसो' के 'सोशल कान्ट्रैक्ट' में यह बात कहां से निकल आयी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि पैरिस की गली कूचे में प्रत्येक ऐरा-गैरा नत्थू-खैरा युक्ति से ठीक परिणाम पर ही पहुँचेगा।

कुछ लोग थे जो भावनायुक्त बलवाइयों पर आधिपत्य प्राप्त कर, उनकी भावना से स्वहित सिद्ध करने लगे थे। वे भी युक्ति से काम नहीं कर रहे थे। वे स्वार्थ में रत थे अथवा मूर्ख हो गये थे। इस सब का परिणाम वह हुआ, जो फ्रांस की क्रान्ति में दिखाई दिया है।

यही बात तो सन् १९१७ में रूस में हुई थी। सैनिक जो जर्मनी के मोर्चों पर लड़ रहे थे, वस्त्र, भोजन, शास्त्रास्त्रों के अभाव का अनुभव कर रहे थे। ऐसे समय में लैनिन के साथी जर्मन धन के बल पर इन सैनिकों को भड़काने पहुँच गये। सैनिकों ने युक्ति नहीं की। केवल भावनाओं में भड़ककर मोर्चे छोड़कर वापस मास्को को चल पड़े। उन्होंने लैनिन की भड़काने वाली बातों में आकर उसका साथ दिया और परिणाम क्या हुआ! वही जो फ्रांस की क्रान्ति में हुआ था! कुछ नेताओं की तानशाही स्थापित हो गयी और फिर उन्हीं सैनिकों के भाई-बन्धु किसानों पर वह अत्याचार हुआ, जो फ्रांस की क्रान्ति में भी नहीं सुना गया था।

मोर्चा छोड़कर मास्को को जाने वाले कितने थे जो युक्ति कर रहे थे? वे युक्ति करना जानते भी नहीं थे। एक सिपाई जिसका जीवन नियंत्रण में व्यतीत हुआ हो, भला क्या युक्ति करेगा! न ही वे सैनिक साम्यवाद अथवा सामाजवाद के विषय में कुछ जानते थे। वे केवल आवश्यकताओं की अपूर्ति की अवस्था में भड़क उठे थे। उनको सत्य अथवा झूठ यह बताया गया था कि जब वे लड़ रहे हैं, राजा और रईस मास्को में गुलछर्रे उड़ा रहे हैं। किसी ने इस वक्तव्य की सत्यता की परीक्षा की थी क्या? जो कुछ सैनिकों न किया, लैनिन के साथियों के भड़काने पर किया औरफिर लैनिन तानाशाह बन उनको ही पीड़ित करने लगा।

हमारा यह कहना है कि 'रूसो' का सामाजिककरार तो एक ठीक बात थी। केवल उसमें दोष यह था कि इस करार के पालन होने को देखने वाले वे निर्धन नहीं थे, जिसको क्रान्ति ने नेता बना दिया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युक्ति तो यह थी कि उन धनी-मानियों को, जो करार को तोड़ रहे थे, हटाने से पूर्व दूसरे करार पालन करने वाले तैयार किये जाते। प्रायः सब क्रान्तियाँ इसी प्रकार होती हैं। क्रान्ति करने वाले लोग तैयार नहीं होते। वे केवल भावनाओं से प्रेरित हो काम करने लगते हैं। यही कारण है कि वे केवल भावना से प्रभावित बुद्धि से बाहर के काम करने लगते हैं।

यह बात सेंट साइमन ने देखी थी। इसी कारण वह क्रान्ति का विरोधी बन गया था।

इस पर भी योरोप के उस युग में साइमन प्रथम विचारक था, जिसने उद्योग-युग के आने को समझा था और आने वाली शताब्दी को संगठन का काल मान, इसका स्वागत किया था।

साइमन ने उद्योग-युग (यांत्रिक-युग) का स्वागत इस कारण किया कि वह इससे मनुष्य में (efficiency) दक्षता आने की आशा करता था। वह समझता था कि मशीन से मानव परिश्रम की उपज बढ़ेगी और उन्नति होगी। माल अधिक और बढ़िया बनेगा। वह कहता था कि विज्ञान का सम्बन्ध अर्थ-उत्पादन से जोड़ना चाहिये।

वह धीरे-धीरे काम करने की प्राचीन प्रवृत्ति और कार्यों में अदक्षता का घोर विरोधी था। वह कृषि में भी यंत्रों के प्रयोग को पसन्द करता था। इसी प्रकार वह एक नयी प्रकार के समाज को जन्म देने के पक्ष में था। यह सेंट साइमन ही था, जो थोड़े से काल में अधिक से अधिक कार्य की क्षमता का उपासक था। वह न केवल राजनीति के विरुद्ध था, वह पादरियों, रईसों इत्यादि को, जो उत्पादन यंत्र से सम्बन्ध नहीं रखते थे, अनिच्छित व्यक्ति मानता था।

वह इन्जीनियरों और 'बैंकरों' (धन उपलब्ध करने वालों) को मान की दृष्टि से देखता था। वह राज्य और राजनीति का आलोचक था।

सारांश यह है कि सेंट साइमन प्रथम व्यक्ति था जो औद्योगिक व्यवधान को लाना चाहता था।

सेंट साइमन सम्पत्ति के अधिकार को स्वीकार करता था। ऊँच-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नीच, जनता की सम्मति और समाज की भलाई के अनुसार वह यह अधिकार चाहता था।

सेंट साइमन का यह वक्तव्य ध्यान देने योग्य है—

…men should organise their society in the manner most advantageous to the largest number ; they should propose as the end to be aimed at in all their works and in all their action, to ameliorate as promptly and as completely as possible, the moral and physical existence of the most numerous class.[1]

इसका अर्थ है—मनुष्यों को चाहिये कि समाज का ऐसा संगठन बनायें जो अधिक से अधिक संख्या में मानवों के लाभ के लिये हो। उनको चाहिये कि अपने प्रत्येक उत्पादन-कार्य और चेष्टाओं में उनका उद्देश्य बहुसंख्यक वर्ग की पूर्णता और सतर्कता से नैतिक और शारीरिक उद्धार हो सके।

यह वक्तव्य किसी भी बुद्धिशील व्यक्ति का हो सकता है। इसमें वर्गवाद और वर्ग-घृणा की गन्ध नहीं आती। समाज का निर्माण समाज में सम्मिलित अधिक से अधिक व्यक्तियों को लाभ पहुँचाने के लिये होता है।

ऐसे भले समाज-सुधारक के विषय में कम्यूनिस्टों के वकील एंजल ने जो कुछ लिखा है, वह हमने ऊपर वर्णन किया है। हमारा दृढ़ मत है कि सेंट साइमन समाजवादी था ही नहीं। वह मानव-समाज की अर्थ-व्यवस्था का सुधारक कहा जा सकता है। उसके सुधार की दिशा किसी को मान्य नहीं भी हो सकती। इस पर भी वह एक सुधारक ही था।

सेंट साइमन ने योरोप की तत्कालीन अवस्था से प्रभावित होकर लिखना आरम्भ किया। उसका दृष्टिकोण सम्पत्ति रखने वालों का विरोधी नहीं था, अपितु वह समाज के अधिक से अधिक लोगों के नैतिक और शारीरिक उद्धार की इच्छा रखता था। ये दो बातें ही थीं जिनको कम्यूनिस्ट नेता एंजल पसन्द नहीं करता था।

1. Asoka Mehta—Democratic Socialism, (1963) p. 19 ;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसपर भी यह कम्यूनिस्ट नेता सेंट साइमन को इस प्रकार स्मरण करता है—

...in Saint Simon we find a comprehensive breadth of view, by virtue of which almost all the ideas of later Socialists, that are not strictly economic, are found in him in embryo,......[1].

(सेंट साइमन में हम पूर्ण और व्यापक दृष्टि देखते हैं जिसमें से, पीछे आने वाले प्राय: सब समाजवादियों के विचार जो आर्थिक क्षेत्र के नहीं कहे जा सकते, बीज रूप में मिलते हैं ।)

इनमें समाजवादियों के विचार मिलते हैं अथवा धर्मवादियों (Law abiding people) के मिलते हैं, लिखने की यहाँ आवश्यकता नहीं । एक बात स्पष्ट है कि यह दार्शनिक नैतिकता का अवलम्बन छोड़ना नहीं चाहता था जो कि पीछे के समाजवादियों को अभीष्ट नहीं था । यह निजी सम्पत्ति रखने में भी आपत्ति नहीं रखता था । पीछे आने वाले समाजवादी और विशेषरूप में कम्यूनिस्ट सेंट साइमन के विचार को नहीं मानते ।

कम्यूनिस्ट तो समाज के पूर्ण ढाँचे को ही बदलना चाहते हैं और वह भी राज्य-सत्ता द्वारा । ऐसा प्रतीत होता है कि कम्यूनिस्ट और समाजवादी सेंट साइमन की ख्याति को लोप करने के लिये उसकी गौण बातों की प्रशंसा कर उसकी मुख्य बातों को छोड़ अपनी चला रहे हैं ।

कुछ भी हो, हमारा दृष्टिकोण पूर्णरूप से सेंट साइमन के अनुकूल नहीं है । यह तब ज्ञात होगा जब हम धर्मवाद (Law-minded society) का वर्णन करेंगे ।

1. The Essential Left, p. 112.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चतुर्थ अध्याय

चार्ल्ज़ फॉरार

चार्ल्ज़ फॉरार भी सेंट साइमन की भाँति उस काल में जीवित था, जब औद्योगिक विकास हो रहा था। इस विकास को समाजवादी औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) कहते हैं। कुछ भी हो, वस्तुस्थिति यह है कि मशीन युग आरम्भ हुआ तो कारखानों के मालिक पैदा हो गये। उन्होंने अपने कारखानों के लिए पूंजी संचय की थी। बहुत बड़ी संख्या में श्रमिक देहातों को छोड़कर नगरों में आ रहे थे और उनके रहन-सहन की अवस्था बिगड़ रही थी।

इसमें वास्तविक दोष किसका था? मज़दूरों के नेता मालिकों पर दोष देते थे। मालिक इसमें अपनी जिम्मेदारी नहीं समझते थे। दोनों एक दूसरे को गाली देते थे और एक-दूसरे पर दोषारोपण करते थे।

हम समझते हैं कि इसमें दोष तत्कालीन सरकार का था। उस बदलती परिस्थिति में सुप्रबन्ध रखने का उत्तरदायित्व सरकार का था। सरकार प्रबन्ध नहीं कर सकी। वास्तव में सरकार में सुधार करने की आवश्यकता थी। जब बड़े-बड़े जमींदार निर्धन किसानों का धन लूट रहे थे तो फ्रांस में क्रान्ति हुई। वह क्रान्ति सरकार सुधारने के लिये ही थी। फ्रांस की क्रान्ति में दोष यही रहा कि क्रान्ति चलाने वाले लोग बुद्धिमान् नहीं थे। क्रान्तिकारियों के नेता निर्लिप्त, कामना रहित और यज्ञ रूप काम करने वाले नहीं थे। परिणामस्वरूप क्रान्ति करने वाले परस्पर लड़ पड़े और उनकी लड़ाई शान्त हुई नेपोलियन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की तानाशाही से । प्राय: सब क्रान्तियों में यही होता है ।

सेंट साइमन ने औद्योगिक विकास से उत्पन्न विषमता को दूर करने के लिये अपनी योजना दी । उसका विचार था कि मशीन युग का स्वागत करना चाहिये । इसका लक्ष्य होना चाहिये अधिक और अधिक बढ़िया प्रकार का माल तैयार हो । इस औद्योगिक विकास के लिये धन मिलना चाहिये । इसके लिये बैंकर्ज (Bankers) बनने चाहिये और सम्पत्ति रखने मे आपत्ति नहीं होनी चाहिये । सेंट साइमन समझते थे कि अधिक और बढ़िया माल बनने से वह स्वयंमेव सस्ता होगा और गरीबों का जीवन सुखी होगा ।

चार्ल्ज़ फॉरार भी औद्योगिक विकास को अनुभव करता था, परन्तु वह समझता था कि बने माल का वितरण भली-भाँति हो तो जनता सुखी होगी ।

श्री अशोक मेहता चार्ल्ज़ फॉरार के विषय में लिखते हैं—

Fourier's general approach was in the direction of a composite conception of production-cum-distribution... the most significant (contribution) being his plan for *Phalanstere*......something like the Taj Mahal Hotel, self contained but with this difference ; that while at the Taj a set of men do the work and another set of men enjoy the services : in the of vision of Fourier the same people would be working and enjoying. For instance, 1,500 men stay in such a place, a few hundred would work on the farm and produce food-grains and grow vegetables, other would work on looms and produce cloth, and so on......The entire activity, the complex activities of the life of a community, would be carried on by the people, the *Phalange*, in a co-operative manner, and in order that there should be no monotony the work would be changed from time to time. His main emphasis was on making attraction as against

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

restraint, the fulcrum of work.[1]

इसका अर्थ है : फॉरार के विचार की सामान्य दिशा थी कि उत्पादन और वितरण को जोड़ देना चाहिये। फॉरार की, सबसे मुख्य ध्यान देने योग्य बात उसकी फैलन्स्टीर थी। यह एक प्रकार का विद्यार्थियों के होस्टल का नमूना था।

फैलन्स्टीर एक ताज महल होटल की सी संस्था होगी, जिसमें सब कुछ होगा। अन्तर केवल यह होगा कि ताज महल होटल में काम करने वाले एक लोग होते हैं और वहाँ की सेवा का भोग करने वाले दूसरे और फॉरार की कल्पना के होटल में कर्मचारी भोग करने-वाले स्वयं ही होंगे। उदाहरण के रूप में इस संस्थान में १,५०० व्यक्ति रहते हैं। कुछ सौ खेतों में जाकर काम करेंगे और अनाज तथा सब्जियाँ पैदा करेंगे। दूसरे खड्डियों पर काम कर कपड़ा बुनेंगे और इसी प्रकार अन्य काम किये जायेंगे।

विषम समाज के सब काम वहाँ रहने वाले ही, सहयोग के आधार पर करेंगे। ये सब काम बदलते रहेंगे जिससे काम में नीरसता न आ जाये। उसकी मुख्य योजना यह थी कि काम को आकर्षक बनाया जाये। उसमें दवाब न रहे।

His Law of Attraction he based upon three passions in man, *la papilonne* the passion for variety and change; *la cabaliste*, the passion for intrigue and emulation, and *la composite*, the passion for associative work. Only by harnessing these elemental passions can attraction be made the basis of production......[2]

उसने आकर्षण का आधार तीन बातों पर रखा था—(१) परिवर्तन की प्रवृत्ति; (२) लाभ का प्रलोभन; (३) साथ मिलकर काम करने की प्रवृत्ति। केवल इन तीनों स्वाभाविक प्रवृत्तियों को नियंत्रण में लाने के लिए आकर्षण पैदा किया जा सकता है।

फॉरार चाहता था कि सब मनुष्य सब प्रकार के काम कर सकें।

1. Democratic Socialism, p. 21. 2. Ibid. 1.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह समाज-सुधार का अन्तिम चित्र है परन्तु यह व्यावहारिक नहीं। इससे विशेष ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। फॉरार के बाद आने वाले समाजवादियों ने यह अनुभव किया था और इसमें परिवर्तन किया है।

फॉरार एक दार्शनिक था। यह स्वप्न-लोक में अधिक रहता था और सेंट साइमन इससे अधिक व्यावहारिक था। इस पर भी यह स्पष्ट है कि वास्तविक अर्थों में न तो साइमन और न ही फॉरार समाजवादी था। इन्होंने समाज में विषमता बढ़ती देखी और उस विषमता को दूर करने के उपाय बताये हैं। ये उपाय वे नहीं जो समाजवादी बताते हैं। इस कारण हम इनको केवल सुधारक ही मानते हैं। यदि इनको कोई सुधार का अन्य ढंग बता दिया जाता तो ये निश्चय ही उसका विचार करते और कदाचित् मान जाते। समाजवादी तो अपने ढंग के अतिरिक्त अन्य किसी ढंग पर विचार करते ही नहीं।

फॉरार वास्तविक अर्थों में समाज-सुधारक ही था। वह स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए भी यत्नशील था।

इस पर भी फॉरार उस काल के दार्शनिकों की भाँति परमात्मा को नहीं मानता था तथा डार्विन के विकासवाद को ठीक मानता था।

उसका कथन था कि समाज के ऐतिहासिक विकास में चार चरण हैं: (१) जंगली लोग का युग (savagery); (२) बर्बर का युग (barbarism); (३) पारिवारिक युग (Patriarchate); (४) सभ्यता का युग (civilization)।

इस अन्तिम चरण का अभिप्राव बूर्जुआ युग से है। यदि विचार किया जाये तो यह युग-कल्पना डार्विन के विकासवाद की उपज ही है। वास्तव में यह सब इतिहास की अनभिज्ञता के लक्षण ही हैं। योरोप के सत्रहवीं, अठारहवीं शताब्दी के प्रायः सब दार्शनिक अज्ञानता की प्रतिमूर्ति ही थे। उनका सम्पर्क पूर्वी देशों की सभ्यता से नहीं था। जो कुछ था भी, वह पादरियों के चश्मों से देखा हुआ था।

ईसाई और यहूदियों ने पूर्ण प्राचीन ज्ञान-विज्ञान के स्रोत को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मलियामेट कर दिया था। इस कारण इस युग के दार्शनिक अपनी अज्ञानता के आधार पर अपनी कल्पना के घोड़े दौड़ा रहे थे।

यही बात ईसाई पादरियों ने हिन्दुस्तान में भी करने का यत्न किया था। शिक्षा प्रणाली को अपने हाथ में लेकर उन्होंने भारत के सब प्राचीन ज्ञान को मूर्खतापूर्ण प्रकट करने का विशाल आयोजन किया था। उन ईसाइयों ने संस्कृत और वेद-शास्त्रों को पढ़कर उनके विकृत अर्थ कर भारतीयों को भ्रम में डालने का यत्न किया। उनके इस प्रयास को अंग्रेज़ी राज्य ने हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी राज्य को सुदृढ़ करने वाला जान, उनकी सहायता करनी आरम्भ कर दी और वही कुछ, जो यहूदियों और ईसाइयों ने योरोप में किया था, यहाँ ईसाई और अंग्रेज़ी सरकार मिलकर करने लगी। ये भी बहुत अंशों तक अपने उस कुकृत्य में सफल हो गए। जिस प्रकार योरोप में नास्तिक दार्शनिक उत्पन्न हुए, वैसे ही हिन्दुस्तान में भी कहे जाने वाले पढ़े-लिखे नास्तिक उत्पन्न हो रहे हैं।

परन्तु ईश्वर की कृपा से और यहाँ के प्राचीन ऋषियों, महात्माओं एवं विद्वानों की कृपा से सत्य ज्ञान के मूल स्रोत वेद एवं देव-भाषा का लोप नहीं हुआ। इसके परिणामस्वरूप इस युग में भी एक महर्षि स्वामी दयानन्द का जन्म हुआ और उसने ईसाइयों के इस कुचक्र का भाण्डा फोड़ दिया।

यदि चार्ल्ज़ फॉरार और सेंट साइमन जैसे गम्भीर दृष्टि रखने वालों को सत्य ज्ञान का कुछ भी पता होता तो ये लोग सर्वथा न्याय और धर्म के मार्ग का अवलम्बन करते। योरोप में, सर्व प्रथम, भाषा (देव वाणी) का विस्मरण हुआ। तदनन्तर उस वाणी में लिखे ग्रंथ विद्वानों की पहुँच से दूर हो गए। कुछ काल तक विद्वान लोग परंपरागत ज्ञान के भरोसे ठीक मार्ग के पथिक रहे। धीरे-धीरे वे पथ भूल गए और उसके उपरान्त अज्ञानियों ने अँधेरे में टटोलने वाले अन्धे की भाँति मार्ग ढूंढना आरम्भ किया। परिणामस्वरूप वर्तमान युग का मार्क्सवाद है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंचम अध्याय

रौबर्ट ओवन

जब फ्रांस में क्रान्ति और क्रान्ति के उपरान्त की तानाशाही चल रही थी, इंग्लैंड में औद्योगिक और यान्त्रिक विकास हो रहा था और मजदूर तथा मालिकों में अन्तर बढ़ रहा था ! मालिकों के पास धन एकत्रित हो रहा था और मज़दूरों के कष्ट और दुःख बढ़ रहे थे। इस अवस्था को देखकर एक कारखाने के जनरल मैनेजर के मन में विचार उत्पन्न हुआ कि यह अवस्था वांछनीय नहीं। इसको दूर करना चाहिए। यह व्यक्ति था रोबर्ट ओवन।

रौबर्ट ओवन का ध्यान सरकार की ओर नहीं गया, न ही उसने मालिकों को सुधारने का यत्न किया था। उसनें मजदूरों में संगठन उत्पन्न करके उनको अपनी दशा सुधारने में यत्नशील बनाना चाहा था।

रौबर्ट ओवन पहला व्यक्ति था, जिसने पहली ट्रेड यूनियन स्थापित की। साथ ही इसने प्रथम उपभोक्ताओं की सहयोगी दुकान (Consumers' co-operative store) खुलवाई।

ये दोनों कार्य समाजवाद के नहीं हैं। हमने समाजवाद के लक्षणों में बताया है कि समाजवाद राज्य द्वारा पूर्ण समाज पर मज़दूरों का नियन्त्रण उत्पन्न करने का आन्दोलन और विचार है। को-ऑपरेटिव स्टोर तथा ट्रेड यूनियन राज्य द्वारा पूर्ण समाज पर नियन्त्रण प्राप्त करने के यन्त्र नहीं हैं।

रौबर्ट ओवन के विषय में भारत के योजना मन्त्री श्री अशोक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेहता इस प्रकार लिखते हैं :

There are three facts about him (Robert Owen) that need to be noted. He developed two of the most creative and abiding organisations that have merged in our time—call them the two wheels on which the chariot of social progress moves. What are these two organisations ? The trade-unions and consumers' co-operatives. Robert Owen organised some of the earliest trade unions in Great Britain and inspired the earliest co-operatives......

He, however, did something more, and that was the emunication of what he called the *Millieu Theory*. Every human being has a certain social back ground...[1]

(रौबर्ट ग्रोवन के विषय में तीन बातें जानने योग्य हैं। उसने दो अत्यन्त निर्माणात्मक और अस्थाई लाभ के संगठनों को विकास दिया था। ये संगठन इस समय सामाजिक उन्नति के रथ के दो चक्के बन गए हैं। ये दो संगठन हैं ट्रेड यूनियन और सहयोगी दुकानें। आरम्भ में रौबर्ट ने ग्रेट ब्रिटेन में इनका चलन किया था।

उसने एक काम और किया है। इसने 'मिल्यु विचार' को उपस्थित किया है। यह मिल्यु विचार है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी सामाजिक स्थिति के अनुरूप ही बनता है।)

इस विषय में हम पुस्तक के प्रथम भाग में लिख आए हैं। अकबर ने कुछ बच्चों को सब प्रकार के मानव सम्पर्क से पृथक् कर बंद कर रखा था। जब ये बच्चे बड़े हुए तो सर्वथा अज्ञ थे। इस प्रकार की अन्य घटनाएं भी हुई हैं।

समाजवादी इस परीक्षण से यह सिद्ध करना चाहते हैं कि मनुष्य का पूर्व जन्म और इस जन्म का संस्कार कुछ नहीं। मनुष्य अच्छा-बुरा, योग्य-अयोग्य जो कुछ भी बनता है अपनी समाज की परिस्थितियों के अनुरूप ही बनता है।

1. Democratic Socialism p. 22.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारा इसमें यह कहना है कि अकबर का परीक्षण अथवा इसी प्रकार की अन्य घटनाएँ यह बात सिद्ध नहीं करतीं। इससे यह तो सिद्ध हो गया कि बिना किसी दूसरे से सीखे, मनुष्य ज्ञानवान नहीं हो सकता, परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि सब मनुष्यों में बुद्धि के विकास की क्षमता बराबर है। उक्त परीक्षण से यह जानने का प्रयत्न ही नहीं किया गया। यदि इस बात को जानना इनका उद्देश्य होता तो वे बच्चे जो एकान्त में पलने के उपरान्त बाहर निकाले गए थे, उनको एक ही शिक्षक के अधीन रखकर देखा जाता कि क्या वे अब भी भिन्न-भिन्न योग्यता को प्राप्त होते हैं अथवा एक सी ही योग्यता के होते हैं। यह 'मिल्यु विचार' (Millieu theory) तो यह सिद्ध करता है कि मनुष्य को बिना किसी से सीखे कुछ नहीं आ सकता। पूर्व जन्म के कर्मों से मनुष्य अच्छे सुख-सुविधापूर्ण एवं ज्ञानवान माता पिता के घर जन्म लेते हैं और उनकी बुद्धि विकास-योग्य होती है तथा मन निर्मल होता है।

अकबर के परीक्षण के विषय में श्री अशोक मेहता लिखते हैं:

Straightaway, he got a score of new-sorn babies and locked them up in a palace, and isolated them from all human contact. After twelve years Akbar Badshah went to them eager to hear the quintessence of philosophy from the lips of the most uncontaminated of human beings. What did he find? That these children neither understood speech, not could they speak! After all, speech is the product of association. All that you do, you are able to do because the accumulated achievements of Man in the last 10,000 to 20,000 years are passed on to you by your parents......your teachers......It takes centuries, as Stalin belatedly discovered, to develop a language.[1]

(अकबर ने बीस नव जात शिशु पकड़े और उनको एक महल में

1. Ibid. p. 23.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बन्द कर दिया। साथ ही उनको सब प्रकार के मानव-सम्पर्क से पृथक् कर दिया। बारह वर्ष के उपरान्त अकबर बादशाह उनके पास गया। वह मानवों के दुर्गुणों से अछूत, उन बालकों से सत्य ज्ञान की बात सुनना चाहता था। परन्तु वे न तो किसी की बात समझते थे, न ही स्वयं कोई भाषा बोल सकते थे। यह तो सत्य ही है कि भाषा संगत से प्राप्त होती है। वह सब जो आप करते हैं, आप इस कारण ही कर सकते हैं कि आपको पिछले दस हज़ार अथवा बीस हज़ार वर्ष का संचित ज्ञान प्राप्त होता है। यह ज्ञान आपको माता-पिता, मित्र, शिक्षक और समाज से मिलता है। जैसे पीछे स्टालिन ने समझा था कि भाषा के विकास में शताब्दियाँ लगी हैं।)

ये वाक्य भारत के योजना मंत्री के हैं। यह उनकी अज्ञानता का एक नमूना है। जहाँ तक अकबर के परीक्षण का सम्बन्ध है, हमने ऊपर लिखा है। परन्तु श्री मेहता लिखते हैं कि भाषा का विकास हुआ है शताब्दियों के अनुभवों से। यही बात अज्ञानता की सूचक है। न तो स्टालिन भाषा-विज्ञान का ज्ञाता था और न श्री मेहता जी हैं। इस पर भी आप भोले-भाले विद्यार्थियों को भ्रम में डाल रहे हैं। उक्त वक्तव्य आपने विद्यार्थियों की सभा में ही दिया था।

इस स्थान पर एक भाषा-विज्ञान के विशेषज्ञ की बात हम लिख देना चाहते हैं—ऑटो जैस्पर्सन अपनी पुस्तक—Languages in Nature; Development and Origin (1950) के पृष्ठ ३२२ पर लिखते हैं।

The view that the modern languages of Europe, Persia and India are far inferior to the old languages from which they descend, we have already encountered in the historical part of this work, in Bopp, Humboldt, Grimm and their followers. It looms very large in Schleicher, according to whom the history of languages is all a decline and fall and in Max Muller, who says that, on the whole, the history of all the Aryan languages is nothing but a gradual process of decay.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह विचार कि योरोप, ईरान और भारत की आधुनिक भाषाएँ बहुत घटिया हैं, प्राचीन भाषाओं अथवा एक (प्राचीनतम) भाषा से, जिससे ये सब भाषाएँ निकली हैं, अति स्पष्ट है। इस विचार का उल्लेख हमने इस पुस्तक के इतिहास भाग में किया है। यहाँ हमने बॉप, हुम्बोल्ट, ग्रिम्म और उनके साथियों के विषय में लिखते हुए बताया है। यह विचार तो बहुत प्रधानता पा गया है, श्लाइशर में। वे कहते हैं कि भाषाओं का इतिहास पतन का इतिहास है। मैक्समूलर का भी यही कथन है। सारांश यह है कि सब आर्य भाषाओं का इतिहास एक निरंतर होने वाले ह्रास के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं।)

अब बताइए, स्टालिन और अशोक मेहता जैसे भाषा-ज्ञान से अनभिज्ञ लोगों की बात मानें अथवा भाषा-विज्ञान के विशेषज्ञ उक्त महानुभावों की।

हमारा विचार है कि 'मिल्यु विचार' गलत है। अकबर इत्यादि क्रूर राजाओं के उक्त परीक्षण यह प्रकट नहीं करते जो रॉबर्ट ओवन इत्यादि सिद्ध करना चाहते हैं। यह तो कुछ और ही बात बताते हैं।

रॉबर्ट ओवन और हमारे योजना आयोग के बुद्धिमान नेता यह बताना चाहते हैं कि मनुष्य सब बराबर-बराबर पैदा होते हैं और उनका वातावरण यदि उन्नत कर दिया जाये तो वे उन्नत हो जायेंगे। यह बात गलत है।

श्री मेहता जी ने भाषा का उदाहरण देकर तो अपने को गलत ही सिद्ध किया है। जिस विषय में उनका प्रवेश नहीं, उसका वर्णन करने से वे अज्ञानी सिद्ध हो गए हैं। हमारा मत इसमें यह है कि प्रथम मनुष्य तो अज्ञ था। यदि परमात्मा की ओर से उसको ज्ञान (वेद) न दिया जाता तो वह पशुओं की भाँति अज्ञ ही रहता। यह ज्ञान ही पीढ़ी-दर-पीढ़ी चला आता है। समाज ने कुछ भी नहीं जाना। दूसरी ओर भाषा-विज्ञान के इतिहास से तो यह सिद्ध होता है कि मनुष्य ने ज्ञान के मूल स्रोतों (वेद) को छोड़ कर कुछ गँवाया ही है, प्राप्त नहीं किया।

अब तनिक इस सुधारक के विषय में श्री फ्रैडरिक एंजल की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्मति भी पढ़ लें। आप अपने लेख Socialism Utopian and Scientific में लिखते हैं—

Robert Owen had adopted the, teaching of the materialistic philosophers : that man's character is the product, on the one hand, of heredity, on the other, of the environment of the individual during him life time, and especially during his period of development. In the industrial revolution most of his class saw only chaos and confusion, and the opportunity of fishing in these troubled waters and making large fortunes quickly. He saw in it the opportunity of putting into practice his favourite theory, and so of bringing order out of chaos.[1]

इस वक्तव्य का अर्थ है— रॉबर्ट ओवन ने भौतिकवादी दार्शनिकों की शिक्षा को स्वीकार किया था। वह यह कि मनुष्य का व्यवहार कुछ तो उसके माता-पिता की देन होता है और कुछ उसके इस जन्म के वातावरण से मिलता है। विशेष रूप में उस आयु के वातावरण से जिसमें उसका विकास हो रहा होता है। औद्योगिक क्रान्ति में उसकी श्रेणी के लोगों ने केवल अव्यवस्था और भ्रान्ति देखी। साथ ही उसने इस अव्यवस्था में शीघ्र धनी हो जाने का अवसर देखा। परन्तु रॉबर्ट ओवन ने इस अव्यवस्था में अपने विचारों को कार्य-रूप में लाने का अवसर देखा।

यह है चित्र जो एक कम्यूनिस्ट ने इस महानुभाव का बनाया है। रॉबर्ट ओवन ने अपने विचारों को कार्यान्वित करने के लिए एक 'कौलोनी' बसाई। वह सन् १८०० से १८२९ तक स्काटलैण्ड के एक नगर लैनमार्क में एक कारखाने का मैनेजिंग भागीदार था। उसमें काम करने वाले पांच-सौ कर्मचारियों को लेकर उसने अपने विचारों को साकार करने का यत्न किया। उसने इस कौलोनी में रहने वालों की आय को एक स्थान पर एकत्रित कर उनकी सुख-सुविधा का

1. The essential Left, p. 114.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रबन्ध आरम्भ कर दिया। इसकी सुख-सुविधाओं को देख इस कौलोनी में २५०० से ऊपर लोग सम्मिलित हो गये। साथ ही इस कौलोनी के सुप्रबन्ध की ख्याति योरोप भर में फैलने लगी। इस बस्ती में लोग शराब नहीं पीते थे। वहाँ पुलिस, मैजिस्ट्रेट, मुकद्दमे, भिक्षु इत्यादि दिखाई नहीं देते थे। यह उसने वातावरण बदलने से किया था।

एक ऐसा समय भी आया कि कपड़े के व्यापार में मन्दी आयी। दूसरे स्थानों पर मज़दूर बेकार हो गए, परन्तु यहाँ के मज़दूरों को वेतन मिलता रहा।

कहते हैं कि रॉबर्ट ओवन के सुप्रबन्ध से कारखाने के मालिकों को भी दुगना लाभ हुआ।

यह सब ठीक था, परन्तु रॉबर्ट ओवन अपने इस जीवन कार्य में असफल हुआ। इसमें क्या कारण था? यह एंजल के शब्दों में इस प्रकार है—

His advance in the direction of communism was the turning point in Owen's life. As long as he was simply a pilanthropist, he was rewarded with nothing but wealth, applauce, honour and glory. He was the most popular man in Europe. Not only men of his own class, but statesmen and princes listened to him approvingly. But when he came out with his Communist theories, that was, quite an-other thing.[1]

(उसका कम्यूनिज़्म की ओर बढ़ना उसके जीवन का मोड़ बन गया। जब तक वह एक दयालु सुधारक बना रहा, उसको पुरस्कार मिलता रहा, धन-दौलत मिलती रही, उसकी प्रशंसा होती रही, उसको मान और सम्मान मिलता रहा। तब वह योरोप का एक सुविख्यात व्यक्ति था। उसकी बात न केवल उसके अपने वर्ग के लोग सुनते थे, वरं राजनीतिज्ञ और राज-परिवार के लोग भी सुनते थे और उसकी प्रशंसा करते थे। परन्तु जब वह अपने कम्यूनिस्ट विचार सामने रखकर आया तो बात बदल गयी।)

1. Ibid. p. 116.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस स्थान पर एंजल साहब ने बताया नहीं कि कौनसी बात उसकी थी जो लोगों को पसन्द नहीं आयी। यह स्पष्ट है कि उसकी कौलोनी विघटित हो गयी और लोगों ने उसकी बात माननी छोड़ दी। ऐसा प्रतीत होता है कि ओवन साहब ने कौलोनी में और बाहर भी लोगों को यह कहना आरम्भ कर दिया होगा कि वे निजी सम्पत्ति न रखें।

मनुष्य में यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह मेरी और तेरी के चक्कर में रहता है। मनुष्य में जितना रजोगुण अधिक रहता है, उतनी ही यह प्रवृत्ति प्रबल रहती है।

रॉबर्ट ओवन ने इस प्रवृत्ति का विरोध किया और लोग उसके विरोधी हो गए। यह हम इस पुस्तक के प्रथम भाग में बता चुके हैं कि रजोगुण पर नियंत्रण रखने के लिए सतोगुण का प्रयोग होना चाहिए। परन्तु यह भी बात स्पष्ट है कि नियंत्रण का अर्थ यह नहीं कि रजोगुण को निःशेष कर दिया जाये। कदाचित् यह किया भी नहीं जा सकता।

आज भी कम्यूनिज़्म यदि किसी चट्टान पर टकरा कर चूर-चूर होगा तो इसी पर कि मनुष्य अपने परिश्रम से उत्पन्न धन को स्वयं प्रयोग करने से वंचित किया जाना पसन्द नहीं करेगा। यही कम्यूनिज़्म है, जिसके कारण रॉबर्ट ओवन का परीक्षण लैनमार्क में असफल रहा था। कुछ देर तक तो लैनमार्क की बस्ती जलती रही, परन्तु वहाँ के रहने वालों को शीघ्र ही पता चल गया कि सब बराबर आय नहीं कर सकते। इस कारण सब को बराबर भोग भी नहीं करना चाहिए। रॉबर्ट ओवन यही चाहता था।

संसार ओवन के विषय में कुछ भी कहता, यदि कौलोनी के रहने वाले संतुष्ट होते तो कौलोनी टूटती नहीं।

आरम्भ में तो कौलोनी वालों को बहुत स्वतन्त्रता थी और कौलोनी सफल हो रही प्रतीत होती थी। पीछे जब कम्यूनिज़्म (सम्पत्ति विहीन अवस्था) लाने का प्रयत्न हुआ तो सब कुछ चौपट हो गया।

राबर्ट ओवन इस असफलता से निराश हो अमेरिका में चला गया। वहाँ भी उसने कम्यूनिस्ट परीक्षण आरम्भ किये, परन्तु वहाँ उसकी पूर्ण सम्पत्ति ही स्वाहा हो गयी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षष्ठ अध्याय

मार्क्स और एंजल : कम्यूनिस्ट घोषणा-पत्र

इस समय कार्ल मार्क्स लंदन के म्यूज़ियम में बैठा, अपना एक बृहत् ग्रंथ Magnum Opus (कैपिटल) लिख रहा था। इस पुस्तक के ४,००० पृष्ठों में इसने पूंजी की मीमांसा की है। यह सम्भव नहीं कि पूर्ण पुस्तक पर यहाँ विवेचना की जाए। इस पर भी इसकी कुछ सैद्धान्तिक बातों का यहाँ उल्लेख कर, उन पर हम विवेचना करना चाहेंगे।

इस पुस्तक के लिए जाने के उपरान्त ही कार्ल मार्क्स ने कम्यूनिस्टों की एक सभा में अपना लिखा घोषणा-पत्र उपस्थित किया और पारित करवा दिया। यह सन् १८४८ की बात है।

यह पत्र निःसन्देह एक बम्ब के समान ही था और इससे भारी विस्फोट होने की सम्भावना थी। इस कारण इसको गुप्त रखा गया और गुप्त रूपों में ही इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी इत्यादि देशों में वितरण किया गया।

यह घोषणा-पत्र भी एक लम्बा-सा वक्तव्य है। इसमें मुख्य बातें ये हैं—

(१) समाज में दो श्रेणियाँ (वर्ग) सदा से रही हैं। सम्पत्तिधारी एवं सम्पत्ति-विहीन। दोनों में आदि काल से संघर्ष चलता रहा है। इस संघर्ष के रूप बदलते रहे हैं। कभी बलवान और निर्बल; कभी रईस और निर्धन; कभी ज़मींदार और खेतों के कर्मचारी तो कभी सौदागर और ग्राहक। और अब इस युग में हैं मिल मालिक और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्मचारी।

एक वर्ग दूसरे वर्ग पर प्रभुत्व जमाने का यत्न करता रहा है। इस यत्न में क्रान्तियाँ, युद्ध और विप्लव हुए हैं।

सम्पत्तिधारी को घोषणा-पत्र में बूर्जुआ कहा है और सम्पत्ति विहीनों को प्रोलिटेरिएट।

(२) दोनों के आचार-विचार, रहन-सहन और सामाजिक रीति-रिवाजों में अन्तर है। यह अन्तर आर्थिक अवस्था में अन्तर के कारण है।

(३) दोनों वर्गों की आर्थिक स्थिति में अन्तर अमरीका की खोज और एशिया के जल मार्ग के पता चल जाने से बहुत बढ़ गया है और इसके साथ ही प्रोलिटेरिएट वर्ग का कष्ट बढ़ गया है।

(४) बूर्जुआ वर्ग की करनी से ही बड़े-बड़े नगर बन गए हैं और बिखरा धन एक स्थान पर एकत्रित होने लगा है।

(५) जनता के एक स्थान पर एकत्रित हो जाने से समाज में विषम स्थिति उत्पन्न हुई है। इससे प्रोलिटेरिएट (सम्पत्तिविहीनों) का कष्ट अधिक हुआ है।

(६) मशीनों के व्यापक प्रयोग से, कर्मचारियों के भिन्न-भिन्न और विशेष कार्य करने पर भी उनमें भेद-भाव मिट रहा है। कर्मचारियों में विशेष कार्य करने की प्रतिभा विलुप्त होती जाती है।

(७) मशीनों के निर्माण से समाज का पुराना रूप (जमीदारों की व्यवस्था) व्यर्थ हो गयी है और वह वापस नहीं आ सकती। इस औद्योगिक यंत्र से सम्पत्तिविहीनों के पाँवों में बेड़ियाँ पड़ गयी हैं। इनको तोड़ना होगा।

(८) बूर्जुआ वर्ग ने औद्योगिक यंत्र निर्माण कर एक कर्मचारी श्रेणी को जन्म दिया है जो बिना काम के जी नहीं सकती।

(९) कर्मचारियों को मजदूरी करनी पड़ती है; मेहनत से वे पूंजीपत्ति की पूंजी बढ़ाते हैं और उससे वह और कर्मचारी निर्माण करता है। परिणामस्वरूप कर्मचारियों की संख्या बढ़ रही है और वे एक दिन क्रान्ति से अपने बंधन तोड़ेंगे। कारण यह है कि संख्या बढ़ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के साथ-साथ बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्रों में एकत्रित भी हो जायेंगे और मिलकर आन्दोलन कर सकेंगे।

(१०) कर्मचारी वर्ग के दूसरे संगठनों से कम्यूनिस्टों का संगठन इस प्रकार भिन्न है—

(a) In the national struggles of the proletarians of the different countries, they point out and bring to the front the common interests of the entire proletariat, independently of all nationality.

(b) In the various stager of development which the struggle of the working class against the bourgeoisie has to pass through, they always and everywhere represent the interests of the movement as a whole.

The Communists, therefore, are on the one hand practically, the most advanced and resolute section of the working-class parties of every country, that section which pushes forward all others ; on the other hand, theoretically, they have over the great mass of the proletarait the advantage of clearly understanding the lines of march, the conditions, and the ultimate general results of the proletariat movement.[1]

(अ) सब जातियों के संपत्ति-विहीन के राष्ट्रीय आन्दोलनों में ये (कम्यूनिस्ट) संपत्ति-विहीनों के पूर्ण वर्ग के साझे हित को बताते हैं और सब के सामने आते हैं। ये जातीयता की भावना से स्वतन्त्र हैं।

(ब) कर्मचारियों के वर्ग के संपत्तिधारियों से संघर्ष के विकास के सब स्तरों पर ये (कम्यूनिस्ट) पूर्ण आन्दोलन का प्रतिनिधित्व करते हैं।

अतः कम्यूनिस्ट एक ओर तो व्यावहारिक रूप में कर्मचारियों के सब दलों से अधिक आगे बढ़े हुए हैं और सबसे अधिक दृढ़-निष्ठ हैं। ये कर्मचारियों का वह भाग हैं जो उन सब को धकेल कर आगे ले जा

1. The Essential Left, p. 27.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहा है। दूसरी ओर ये पूर्ण संपत्ति-विहीन वर्ग की अपेक्षा अधिक स्पष्टता से प्रगति की दिशा को समझते हैं और उसकी अवस्था को जानते हैं तथा संपत्ति-विहीनों के आन्दोलन के अन्तिम उद्देश्य को जानते हैं।

कम्यूनिज़म के प्रवक्ता कम्यूनिस्ट के ये लक्षण करते हैं। इसका अर्थ स्पष्ट है कि कम्युनिस्ट अपने-आपको पूर्ण कर्मचारी आन्दोलनका अगुआ बताते हैं और आन्दोलन के उद्देश्य और उसकी प्रगति में उत्तरोत्तर लिए जाने वाले पगों को सबसे अधिक समझने वाला मानते हैं।

(११) कार्ल मार्क्स से पूर्व, कहे जाने वाले समाजवादियों के विषय में भी इस घोषणा-पत्र में लिखा है—

The socialist and commnnist systems, properly so called, those of Saint-Simon, Fourier, Owen, and others spring into existence in the early undeveloped period, described above, of the struggle between proletariat and bourgeoisie.[1]

(समाजवादी अथवा कम्यूनिस्ट ढंग जो ठीक रूप में सेंट साइमन, फॉरार, ओवन इत्यादि का कहा जाना चाहिए, उस समय प्रतिपादित किये गए थे, जब अभी बूर्जुआ और प्रोलिटेरिएट का संघर्ष आरम्भिक एवं अविकसित अवस्था में था।)

आगे लिखा है—

The undeveloped state of the class struggle, as well as their own surroundings, causes Socialists of this kind to consider themselves far superior to all class antagonisms. They want to improve the condition of every member of society, even that of the most favoured Hence, they habitually appeal to society at large, without distinction of class......[2]

(संघर्ष की अविकसित अवस्था, साथ ही इन (ओवन इत्यादि) के वातावरण ने इन समाजवादियों को ऐसा बना दिया था कि वे अपने

1. The Essential Left, p. 43 ; 2. Ibid. p. 44.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपको वर्ग-विरोध से ऊपर समझने लगे थे। वे समाज के प्रत्येक घटक की अवस्था सुधारने में लग गए थे। अति सुविधा-संपन्नों की भी। अतः स्वभाव से वे पूर्ण समाज को प्रेरणा देते थे। वे वर्गों में भेद-भाव नहीं करते थे। यह कल्पना का स्वर्ग (utopia) ही था।)

घोषणा-पत्र में लिखा है कि यद्यपि ये लोग मिथ्या पथगामी थे, इस पर भी उनके अधूरे गलत परीक्षणों ने आने वाले संघर्ष के लिए मार्ग प्रशस्त किया था।

The Communist turn their attention chiefly to Germany, because that country is on the eve of a bourgeois revolution that is bound to be carried out under more advanced conditions of European civilization...[1]

(कम्यूनिस्ट अपना ध्यान विशेष रूप में जर्मनी की ओर लगा रहे हैं। कारण यह कि यह देश बूर्जुआ क्रांति के लिए तैयार है। यह क्राँति योरोपियन सभ्यता के उन्नत होने की अवस्था में ही संभव है।)

In short, the Communists everywhere support every revolutionary movement against the existing social and political orders of things.

In all these, movements they bring to the front, as the leading question in each, the property question, no matter what is degree of development at the time.

Finally, they labour every where for the union and agreement of the democratic parties of all countries.

The Communists disdain to conceal their views and aims. They openly declare that their ends can be attained only by the forcible overthrow of all existing social conditions. Let the ruling classes tremble at a communist revolution. The proletarians have nothing to lose but their chains.. They have a world to win.

Working men of all countries, unite ![2]

1. Ibid. pp. (46-47) ; 2. Ibid. p. 47.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(संक्षेप में, कम्यूनिस्ट सब स्थानों पर प्रत्येक क्रांतिकारी आन्दोलन की सहायता करेंगे, जो वर्तमान सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के विरुद्ध किया जायेगा ।

इन सब आन्दोलनों में वे संपत्ति का प्रश्न आगे लायेंगे भले ही उस समय (समाज के) विकास की अवस्था हीन हो ।

अन्त में वे सब स्थानों पर देश के सब सार्वजनिक दलों को एकत्रित करने का यत्न करेंगे ।

कम्यूनिस्ट अपने उद्देश्य और विचारों के छिपाव को घृणा की दृष्टि से देखते हैं । उनका विचार है कि उनका उद्देश्य केवल उपस्थित अवस्था को बलपूर्वक नष्ट करने से ही पूरा हो सकता है । सत्ताधीश वर्गों को कम्यूनिस्ट क्रांति का विचार कर काँप जाना चाहिए । प्रोलिटेरिएटों के पास गँवाने को कुछ नहीं । उनको तो अपनी जंजीरें उतार फेंकनी हैं । उनके सम्मुख पूर्ण पृथ्वी जीतने के लिए पड़ी है ।

सब देशों के कर्मचारी वर्ग को एक हो जाना चाहिए ।)

यह है कम्यूनिस्ट घोषणा-पत्र । इसकी स्पष्टवादिता पर तो इसकी प्रशंसा ही करनी पड़ेगी । इस पर भी इसके विरोधियों द्वारा, इस कथन की उपस्थिति में, अन्धे होकर इसकी अवहेलना अथवा इसकी सहायता करने पर आश्चर्य होता है ।

इस घोषणा-पत्र के विषय में विचार करने पर ज्ञात होगा कि यह दो मुख्य आधारों पर लिखा गया है । एक तो संपत्ति के आधार पर वर्गों की उपस्थिति और दूसरा, संपत्ति-धारी वर्ग को बलपूर्वक संपत्ति-विहीन करने का प्रबन्ध ।

जितनी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि बनाई गई है, वह भी इन दो मुख्य विचारों को लेकर बनाई गई है ।

इस घोषणा-पत्र में यह भी लिखा है कि जो लोग इस वर्ग-मीमांसा को नहीं मानते, वे स्वप्न-लोक में विचरते हैं और उनके सब प्रयास विफल होंगे ।

शेष तो केवल वाग्जाल ही है । यह घोषणा-पत्र लगभग १२,००० शब्दों में लिखा गया है । इसका सारांश ऊपर की १३ कंडिकाओं में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भली-भाँति आ गया है।

प्रथम तीन कंडिकाओं में, वर्गों को आर्थिक आधार पर मानने के लिए कहा गया है। बूर्जुआ वह वर्ग है जो संपत्ति रखता है और प्रोलिटेरिएट वह वर्ग है जो संपत्ति-विहीन है। हमने इस विषय में ऊपर भली-भाँति लिख दिया है कि वर्गीकरण की यह विधि और आधार ठीक नहीं। आचार-विचार मनुष्य के प्रत्येक काम का आधार है। उसको ध्यान में रखें तो मनुष्य समाज में दो वर्ग ही हैं। भले लोग और बुरे लोग। इनको भारतीय परम्परा में दैवी तथा आसुरी प्रवृत्ति वाले कहा जाता है।

ये दोनों वर्ग संपत्तिधारियों में भी हैं और संपत्ति-विहीनों में भी। वास्तव में संपत्ति संचय करने का संबन्ध इन वर्गों से है ही नहीं। दुष्ट प्रकृत्ति के लोग कारण-अकारण दूसरों के परिश्रम का फल छीनते ही रहते हैं। संपत्ति-विहीनों में भी दुष्ट प्रवृत्ति वाले लोग हैं। जहाँ तक उनका बस चलता है, दूसरों की संपत्ति छीन लेने में वे संकोच नहीं करते।

जब संपत्ति-विहीनों को यह समझ आ जाता है कि दस-बीस, पचास अथवा लाख दो लाख मिलकर किसी की संपत्ति छीन सकते हैं और वे छीनते हैं तो यह भी तो वैसा ही कृत्य होगा जो आसुरी स्वभाव वालों का होता है। बहुत लोगों के इकट्ठे मिलकर संपत्ति छीनना क्षम्य नहीं हो सकता। यह भी आसुरी स्वभाव ही है। वे आपस में बराबर-बराबर बाँटेंगे अथवा अपनी योग्यता के अनुसार बाँटेंगे, एक पृथक् प्रश्न है।

हमारा तो यह कथन है कि मनुष्य समाज में वर्ग दो ही हैं। दैवी स्वभाव वाले और आसुरी स्वभाव वाले। ये स्वभाव संपत्ति से पैदा नहीं होते, वरं इन स्वभावों से संपत्ति का निर्माण होता है। स्वभाव के कारण ही यह दूसरों से छीनी जाती है अथवा स्व-अर्जित होती है। दूसरों से छीनी हुई और स्व-अर्जित का निर्णय कौन करेगा ? क्या वे, जो अर्जित नहीं कर सके अथवा वे जो अर्जित कर चुके हैं ? हमारा कहना है कि दोनों नहीं। इसके लिए एक तीसरा पक्ष होना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसको न्यायकर्त्ता कहते हैं।

इसका अभिप्राय यह हो जाता है कि देश में धर्म-व्यवस्था और इस धर्म-व्यवस्था को संचालन करने वाला समाज का एक अंग होना चाहिए, जो संपत्ति अर्जन कर सकने वालों अथवा न कर सकने वालों से पृथक् हो। वह अंग निर्णय करे कि कोई धनवान कैसे बना है, धर्म-युक्त उपायों से अथवा अधर्मयुक्त उपायों से। अधर्मयुक्त उपायों से अर्जन करने वाले दंडित माने जाने चाहियें।

कम्यूनिस्ट और समाजवादी इस अवस्था को नहीं मानेंगे। वे चाहते हैं कि बहु-संख्यक लोग मिलकर जिसका जो कुछ चाहें छीन लें। वास्तव में ऐसी व्यवस्था देने वाले स्वयं चोर हैं। एक भारी संख्या में मिले हुए चोर भी चोर ही होते हैं।

उद्योगपति यदि अपने उद्योग में काम करने वाले कर्मचारियों को उचित वेतन नहीं देता तो वास्तव में वह चोरी करता है। इसी प्रकार यदि किसी कारखाने के कर्मचारी, अथवा किसी देश के सभी अकिंचन मिलकर किसी कारखाने को अथवा देश के संपत्ति वालों की संपत्ति को छीनकर परस्पर बाँट लें तो वे भी चोर हैं।

कार्ल मार्क्स ने ४००० पृष्ठों की पुस्तक लिखकर संपत्ति के निर्माण और रखने के विषय में कुछ लिख दिया, वह परमात्मा का आदेश नहीं हो गया। उसकी विवेचना हम आगे चलकर करेंगे। जो बात यहाँ देखने की है वह यह कि संपत्ति धर्मयुक्त उपायों से भी संचय हो सकती है और अधर्मयुक्त उपायों से भी। केवल अधर्मयुक्त उपायों से संचित संपत्ति ही वर्जित एवं दंडनीय हो। परन्तु यह निर्णय करना कि अमुक संपत्ति धर्मयुक्त उपायों से संचित की गई है अथवा नहीं, धर्म-शास्त्री (Law and law-dispensers) ही कर सकते हैं।

प्रथम तीन कंडिकाओं में यह भी लिखा है कि प्रोलिटेरिएट का आचार-व्यवहार और पुत्र-कलत्र का सम्बन्ध भी बुर्जुआ वर्ग से विलक्षण है। इस पर भी घोषणा-पत्र भ्रमित ही है। आचार-व्यवहार मेज-कुर्सी पर बैठकर भोजन करना एवं पतलून कोट, कॉलर, नैकटाई पहनना नहीं। यह धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धी, विद्या, सत्य एवं अक्रोध के अपनाने अथवा न अपनाने को कहते हैं। इसी प्रकार इन आचरणों के अनुसार ही पुत्र-कलत्र से सम्बन्ध रखने को श्रेष्ठ अथवा घटिया कहते हैं। आचार-व्यवहार की पहचान रात क्लबों में जाना, नाचना, दूसरों की पत्नियों से मेल-मिलाप और अपनी से बैर रखने इत्यादि से पता नहीं चलता। साथ ही ये बातें साधनों पर नहीं, वरं प्रवृत्ति पर निर्भर होती हैं। साधन-विहीन भी अपनी पत्नियों को छोड़ दूसरों के पीछे भागते देखे जाते हैं। साधन-युक्त भी पति-पत्नी में निष्ठावान देखे जाते हैं।

पिता का पुत्र से सम्बन्ध केवल सम्पत्ति का ही नहीं, वरं स्नेह का भी है। स्नेह को धन के बाटों से नहीं तोला जाता। इसका मापदण्ड दूसरा है। यह भी धर्मान्तर है।

इस घोषणा-पत्र की दूसरी कंडिका में यह भी लिखा है कि मनुष्य का इतिहास आदि काल से आर्थिक वर्गों के संघर्ष का इतिहास है। क्रांतियाँ, युद्ध तथा विप्लव इस संघर्ष के ही परिणाम होते हैं। यह बात इतिहास को गलत ढंग से पढ़ने के कारण है।

हमारा यह कहना है कि इतिहास दैवी स्वभाव और आसुरी स्वभाव वालों में संघर्ष का नाम है। इसमें सम्पत्ति का कुछ भी हाथ नहीं।

इतिहास की बहुत पुरानी बातों को तो ये बुद्धि के धनी मिथ्या (mythology) अथवा प्रागैतिहासिक कहकर टाल देते हैं। अतः यहाँ वर्तमान युग के उदाहरण ही हम देंगे। नेपोलियन एक साधारण परिवार में पैदा हुआ था। उसने कल्याण अथवा अकल्याण, जो कुछ भी किया, धनवान होने के कारण नहीं, वरं अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए ही किया था। यह ठीक है कि वह अपने सब कामों को फ्रांस देश के हित में बताता था। एक प्रकार से वह हितकर भी रहा था। इस पर भी गंभीरतापूर्वक देखें तो ज्ञात होगा कि वह स्वहितों और स्वजनों के हितों की अधिक चिन्ता कर रहा था। जितना उपद्रव उसने योरोप में मचाया, वह केवल अपना प्रभुत्व जमाने के लिये ही था। स्वयं सब प्रकार से सम्पन्न हो जाने पर भी उसकी महत्वा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कांक्षाओं की पूर्ति नहीं हुई। अब वह अपना परिवार चाहता था और किसी राजकुमारी से विवाह करना चाहता था। इस लालसा में उसकी प्रथम पराजय हुई। नेपोलियन का पूर्ण इतिहास उसके अपने स्वार्थ का इतिहास है। निःसंदेह वह आसुरी स्वभाव का व्यक्ति था।

इसके उपरांत हिटलर के जीवन-चरित्र को पढ़ने पर ज्ञात होगा कि—

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥[1]

वह गीता के इस श्लोक में कहे सब लक्षण पूर्ण करता था।

वह अपने आपको ही श्रेष्ठ मानता था। वह अपने वैभव के शिखर पर पहुँचा तो उसका प्रभुत्व अटलांटिक महासागर से लेकर रूस की सीमा तक पहुंच गया। परन्तु वह अपने मित्र रूस की उच्छृंखलता को सहन नहीं कर सका। फिर जब रूस की सेनाएँ भाग रही थीं तो अपने सैनिक उच्चाधिकारियों को भी वह मूर्ख मानने लगा। वह मास्को और लेनिनग्राद विजय करने के स्थान युक्रेन को अपने अधीन करना चाहता था।

इस पर भी वह कहता था कि जर्मनी के हित में सब कुछ कर रहा है। वह (नामयज्ञैस्ते) नाम मात्र का यज्ञ कर रहा था। अर्थात् जर्मनहित की बात केवल नाम की थी, वास्तविकता नहीं थी।

वह अपने कर्मों में 'आत्म संभाविता' का भी पालन कर रहा था। वह दम्भ के कारण यहूदियों को 'शास्त्रविधि' के विपरीत (अर्थात् न्याय के विधि-विधान का पालन किये बिना) पीड़ित कर रहा था। गीता में लिखे 'आसुरी स्वभाव' के सब लक्षण हिटलर में और बिना अपवाद के सब युद्ध तथा क्रांतियाँ करने वालों में मिलते हैं। ये प्रायः विधि-विधान के विपरीत कार्य करने वाले और अपने को महान पंडित मानने वाले होते हैं।

कार्ल मार्क्स की यह बात भ्रांत मन की उपज ही है कि इतिहास में वर्णित संघर्ष संपत्तिधारी और संपत्ति-विहीनों के संपत्ति की अदला-

1. भ० गी० १६-१७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बदली के लिए होते हैं। वास्तव में ये आसुरी प्रवृत्ति के कारण होते हैं। यह आसुरी प्रवृत्ति केवल संपत्तिधारियों में ही उत्पन्न होती है और संपत्ति-विहीनों में नहीं होती, ऐसी बात नहीं।

नैपोलियन और हिटलर दोनों संपत्ति-विहीन परिवारों के घटक थे। जो कुछ उन्होंने किया, वह अपने आसुरी स्वभाव से प्रेरित होकर किया था। यदि उनका स्वभाव आसुरी न होता तो सत्ता और संपत्ति पा जाने पर वे संतोष करते और अपने देशवासियों की सामाजिक और नैतिक स्थिति को सुधारने में लग जाते।

इसका अर्थ यह नहीं कि हम नैपोलियन और हिटलर के विपक्षियों को देवता मानते हैं। हम तो यह कह रहे हैं कि हिटलर जब चांसलर बन गया था और सत्ता हाथ में ले लेने पर भी जब फ्रांस और इंग्लैंड ने उस पर आक्रमण नहीं किया था तो उसको जर्मनी की उन्नति में लीन हो जाना चाहिए था। अंग्रेज़ों, फ्रांसीसियों इत्यादि ने हिटलर के मार्ग में बाधा खड़ी नहीं की थी। यह उनके दैवी स्वभाव के कारण था अथवा किसी अन्य कारण से, यह एक पृथक् बात है। इतना स्पष्ट है कि उन्होंने जर्मनी को उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होने से रोका नहीं था। उसके मार्ग में बाधा खड़ी नहीं की थी। पिछले युद्ध के तावान को भी वे छोड़ने को उद्यत हो गये थे। इस पर भी हिटलर ने ज़ेकोस्लाविया, आस्ट्रिया और पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। उस आक्रमण को जर्मन हितों के लिए कहना उसका दम्भ था। वास्तव में यह हिटलर की महत्वाकांक्षा के कारण ही था।

इस लम्बे वक्तव्य को देने से हमारा आशय यह है कि समाजवादियों की इतिहास की विवेचना सर्वथा मिथ्या है। यह आर्थिक दृष्टि से वर्गों के संघर्ष का इतिहास मानकर की गई है। वास्तव में इतिहास भले और दुष्ट लोगों के भीतर के संघर्ष की गाथा है।

घोषणा-पत्र के सारांश की कंडिका ४, ५, ६, ७ में मशीन युग के परिणामों का वर्णन है। पत्र लिखने वाले का विचार है कि मशीन युग के आने से नगरों की जनसंख्या बढ़ गई है। कारखानों में काम करने वाले अपने परिश्रम से पूंजीपतियों की पूंजी में वृद्धि करते हैं। इससे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूंजीपति काम बढ़ाते हैं और अधिक मजदूरों की सृष्टि होती है। ये सब मजदूर ऐसी स्थिति में होते हैं कि इनके अपने पास कुछ जमा नहीं होता और ये एक दिन भी बेकार नहीं रह सकते। अतः ये चरित्रहीन हो, शरीर, मन तथा बुद्धि से हीन हो जाते हैं।

घोषणा-पत्र में लिखा है कि ये सब परिणाम पूंजीपतियों की करनी से हुए है। हमारा इसमें कहना यह है कि मशीन युग का आगमन विज्ञान पर असंतुलित बल देने से हुआ था। जब यूरोप के विद्वानों ने यह धारणा बना ली कि इस जीवन के पहले और पीछे कुछ नहीं है, इसी जीवन के सुखों में जीवन का ध्येय है, तब वे विद्वान लोग अपना पूर्ण ध्यान सांसारिक सुखों की उपलब्धि में लगाने लगे और विज्ञान का मुख तकनीकी उन्नति की ओर लग गया। यदि इसके विपरीत दार्शनिकों की रुचि मनुष्य में चेतना के स्रोत तथा उसस्रोत की उन्नति की ओर जाती तो वर्तमान युग की तकनीकी उन्नति के स्थान अध्यात्म ज्ञान की उपलब्धि होती।

इन दोनों दिशाओं में कौन-सी दिशा ठीक है और कौन गलत, इस पर विचार करना इस पुस्तक का विषय नहीं। यहाँ तो हम यह बता रहे हैं कि विज्ञान की इस संसार को सुखमय बनाने की दिशा में प्रवृत्ति ही मशीन के आविष्कार में प्रेरणा बनी है। और मशीनों के निर्माण से कारखाने बने और उनमें मजदूरों की आवश्यकता पड़ी। कारखानों का निर्माण धनीमानी लोगों ने किया तो क्या खराबी की ? खराबी तो उस समय हुई जब मशीनों से उत्पादन-वृद्धि का लाभ मजदूरों को नहीं हुआ। इसमें दोष तत्कालीन सरकार का था। सरकार धनी-मानी लोगों की उंगलियों पर नाचती थी तो सरकार में सुधार करने की आवश्यकता थी, न कि धनीमानी लोगों को डराने-धमकाने की अथवा उनकी हत्या करने की।

'चार्टर पंथी' इत्यादि, जो इंग्लैंड की पार्लियामेण्ट से जनता के अधिकारों का 'चार्टर' स्वीकार करवाना चाहते थे, ठीक दिशा में काम करते प्रतीत होते थे। सेंट साइमन और फॉरार तो केवल विचारक थे और उन्होंने मशीनों से उत्पन्न विषमता का विश्लेषण कर रख

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया और उस अवस्था को सुधारने के ढंग भी अपनी बुद्धि के अनुसार बताये। रॉबर्ट ओवन विचारक के साथ-साथ कार्यकर्त्ता भी थे। ऐसा प्रतीत होता है कि वह कार्ल मार्क्स और उसके साथियों के अयुक्तियुक्त विचारों से प्रभावित हुआ और उसने मजदूरों में सहयोगी संस्थाएँ तथा ट्रेड यूनियनें बनवा उनकी दशा सुधारने के स्थान संपत्ति-विहीनता का सिद्धान्त प्रतिपादित एवं कार्यान्वित करना आरम्भ कर दिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि न तो कारखाने मालिकों की, मजदूरों की दशा सुधारने में रुचि बन सकी और न ही मजदूरों को सहकारी योजनाओं में किसी प्रकार का लाभ प्रतीत हुआ। रॉबर्ट ओवन का पूर्ण कार्य संपत्ति-निर्माण के विरोध की चट्टान पर टकरा कर चूर-चूर हो गया।

यदि रॉबर्ट ओवन के स्थान पर कोई विचारक होता तो वह मशीन युग की पूर्ण अव्यवस्था का कारण जान जाता। कारण केवल यह था कि मशीनों से बढ़ गए उत्पादन के लाभ का ठीक वितरण नहीं हो रहा था। उस दूषित वितरण को सुधारने में जहाँ मालिकों को अपने भाग का सत्य ज्ञान कराना था, वहाँ मजदूरों को अपनी आय की भली भाँति प्रयोग कर अपनी आय में से पूँजी निर्माण कर आर्थिक उन्नति का मार्ग दिखाना था। इन दोनों बातों से भी अधिक मशीनों से हो रही अतिरिक्त आय के उचित वितरण न करने वालों के लिए सरकार द्वारा दण्ड का विधान कराना था।

इन कारणों को रॉबर्ट ओवन जान नहीं सका। यदि जानता था, तो वह उन उपायों को प्रयोग में लाने का ढंग नहीं जानता था। उस समय कार्ल मार्क्स इत्यादि के दूषित प्रचार से प्रभावित, वह भी संपत्ति न रखने की बात करने लगा। यह बात न तो मालिकों को पसन्द आई और न ही मजदूरों को। सरकार भी यह व्यवस्था नहीं कर सकी। अतः, रॉबर्ट ओवन का प्रयास विफल गया।

इस समय कार्ल मार्क्स व्यावहारिक क्षेत्र से दूर लंदन म्यूजियम के पुस्तकालय के अँधेरे कमरे में बैठा पूर्ण समस्या का निदान अपनी मिथ्या दृष्टि से कर बैठा और उसने इस समस्या को सुलझाने का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिथ्या मार्ग विचार कर लिया।

उपरिलिखित संक्षिप्त घोषणा-पत्र की कंडिका १ से ६ तो समस्या का विश्लेषण ही है। यह विश्लेषण गलत इस प्रकार है कि इसमें वर्गों की कल्पना मिथ्या है। पूंजीपति, पूंजी-विहीन होते रहते हैं और पूंजी-विहीन पूंजीपति बनते देखे जाते हैं। यदि किसी के पास पूंजी नहीं रहती, तो पूंजीपति की अयोग्यता ही इसमें मुख्य कारण होती है और यदि कोई पूंजी-विहीन पूंजी संचय कर पाता है तो अपनी योग्यता और तपस्या से ही कर पाता है। जहां कोई भी पूंजी संचय करनेमें अनियमित व्यवहार अपनाये तो वह चोर माना जाना चाहिये था और उसके साथ सरकार को निपटना चाहिये था।

वास्तव में समस्या यह थी कि बदलते युग के साथ सरकार आवश्यकतानुसार बदल नहीं सकी।

हमारे इस कथन का प्रमाण प्रचुर मात्रा में मिलता है। जिस-जिस देश में बदलती परिस्थितियों के साथ देश की न्याय-व्यवस्था भी बदली, वहां कर्मचारियों की अवस्था सुधरी है। अमरीका, फ्रांस, इंग्लैंड और पश्चिमी जर्मनी इसके उदाहरण हैं।

सम्पन्नता (व्यक्ति की अथवा देश की) के क्या अर्थ हैं, यह हम अर्थ-व्यवस्था पर लिखते हुए बताएँगे। यहां तो यह बताने का यत्न किया जा रहा है कि घोषणा-पत्र में तत्कालीन समस्या का विश्लेषण गलत है।

न तो आर्थिक दृष्टि से वर्गों की कल्पना, वस्तुस्थिति का विश्लेषण था, न ही सम्पत्ति रखना किसी प्रकार से वर्गों का लक्षण हो सकता है।

मशीनों के कारण परिश्रम से उत्पादन की मात्रा कई गुणा बढ़ गयी थी। एक मनुष्य की सामर्थ्य का फल पचास गुणा और कई स्थानों में तो सौ गुणा बढ़ गया था। इस फल की वृद्धि में जहां मशीनों के आविष्कार करने वाले का भाग था, वहां पूंजी का भी भाग था। इस वृद्धि का वितरण आविष्कारक और पूंजी लगाने वाले में बांटने के साथ-साथ परिश्रम करने वालों में भी होना चाहिए था। यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरकार का कर्तव्य था कि इसमें हस्तक्षेप करे और उचित वितरण की व्यवस्था करे। यह नहीं किया गया।

इस पर सरकार में सुधार करने के स्थान, कार्ल मार्क्स ने सुझाव यह ढूंढा कि सरकार मज़दूरों के हाथ में आनी चाहिए। उसे यह समझ आया कि पूर्ण समाज में सम्पत्ति रखना वर्जित कर देना चाहिये। देश की पूर्ण सम्पत्ति समाज की हो जानी चाहिये और राज्य इस सम्पत्ति को प्रयोग कर उतपादन करे और उस उत्पादन का वितरण करे। यही कम्युनिज़म है।

घोषणा-पक्ष के शेष भाग का सारांश हमने कंडिका १० से १३ में दिया है।

इसमें कम्युनिज्म और मज़दूरों की अवस्था सुधारने वाले अन्य विचारों का सम्बन्ध बताया है। सेण्ट साइमन इत्यादि को काल्पनिक स्वर्ग में विचरने वाले सुधारक का नाम दिया है। यह भी बताया है कि सब मज़दूरों की दशा सुधारने वालों में केवल कम्युनिस्ट ही ठीक समझते और करते हैं। ये मज़दूर आन्दोलन के नेता हैं। कम्युनिस्टों को मज़दूर आन्दोलन के साथ मिलकर और उनका नेता बनकर काम करने के लिए कहा है। उनको यह भी कहा है कि वे किसी भी देश में उन सब तत्त्वों से मिलकर काम करें जो समाज की वर्तमान अवस्था को नष्ट करने में संलग्न हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि ये देश में उपद्रव मचाने वाले तत्त्वों से मिलकर उपद्रव मचाने में अग्रसर हो जायें।

घोषणा-पत्र के इस अंश के अनुसार ही कम्युनिस्टों ने हैदराबाद के रज़ाकारों से मिलकर तिलंगाना में उपद्रव किया था। घोषणा-पत्र के इस अंश के अनुकरण में ही तो कम्युनिस्ट भारत में श्री जवाहरलाल नेहरू की विघटनकारी नीतियों का समर्थन कर रहे थे।

इन सबके अन्त में घोषणा-पत्र यह कहता है कि कम्युनिस्ट खुले रूप में स्वीकार करते हैं कि उनका उद्देश्य केवल बलपूर्वक वर्तमान अवस्था को मिटा देने से ही पूरा हो सकेगा।

इस घोषणा-पत्र में तीन बातें हैं जो कम्युनिस्टों को करने के लिये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कही हैं। (१) वर्तमान व्यवस्था को मिटाना; (२) वर्ग-व्यवस्था को सम्पत्ति के आधार पर मानना; (३) राज्य पर सम्पत्ति-विहीनों का आधिपत्य स्थापित कर व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने वालों को बल-पूर्वक सम्पत्ति-विहीन करना।

प्रश्न यह है कि क्या अन्य समाजवादी इन बातों को मानते हैं? यह हम आगे चलकर देखेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सप्तम अध्याय

अर्थ-व्यवस्था

कार्ल मार्क्स ने अपनी समाज-सम्बन्धी विवेचना उपस्थित करने के उपरान्त एक बार तो मजदूर वर्ग में कम्युनिस्टों का प्रभाव ऐसा बैठा दिया कि दूसरे समाज-सुधारक मौन हो गये।

मज़दूर वर्ग प्रायः अशिक्षित थे। योरोप में सरकारें अपनी सत्ता को सँभालने में लगी थीं। फ्रांस की क्रान्ति ने राज्य-परिवारों की स्थिति को डाँवाडोल कर दिया था। जनता के मन में राज्य कार्य में भाग लेने की लालसा जाग पड़ी थी और वह यह विचार करने लगी थी कि राजा लोग रहें अथवा न रहें, यदि रहें तो किस रूप में रहें? जनता और राज्य-परिवारों में संघर्ष उत्पन्न होने लगा था। इस संघर्ष में मज़दूरों के नेता कम्युनिस्टों ने तत्कालीन अव्यवस्था, अर्थात् राज्य-परिवारों के उन्मूलन में जनता का नेतृत्व करना आरम्भ कर दिया।

इस काल में यद्यपि मज़दूरों (कारखाने में काम करने वालों) की संख्या बढ़ रही थी, इस पर भी वे अभी सरकारों पर अधिकार जमाने की क्षमता नहीं रखते थे।

जनता और राजाओं में संघर्ष आरम्भ हुआ था सन् १७९० में और यह चला १९१४ तक। इस संघर्ष में राजाओं के अधिकार कम होते गये और जनता के अधिकार बढ़ते गये। १९१४ के युद्ध के आरम्भ होने तक योरोप के बहुत से देशों में पार्लियामेंट की ढंग की सस्थाएँ बन चुकी थीं और कहीं-कहीं राजा लोग हटा दिये गए थे; कई स्थानों पर उनके अधिकार सीमित कर दिये गए थे। परिणामस्वरूप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मज़दूरों की दशा सुधारने में सरकारें रुचि लेने लगी थीं।

इस सब काल में कम्युनिस्ट अपनी डुग्गी पीटते रहे। कम्युनिस्ट राज्य में इन सुधारों को लाने में सहयोग देते हुए भी इतने मात्र से सन्तुष्ट नहीं थे। उनकी मुख्य बात थी पूर्ण समाज को सम्पत्ति-विहीन करना और फिर किसी को भी सम्पत्ति संचय करने न देने का प्रबन्ध करना।

इस मुख्य सिद्धान्त को कार्ल मार्क्स ने अपने ग्रंथ मैगनम ओपस (कैपिटल) में सिद्ध करने का यत्न किया है। धन क्या है? यह किस प्रकार संचय होता है और धनी लोग धन संचय करने के लिये धन-विहीन लोगों को किस प्रकार अकिंचन रखने का यत्न करते हैं! कार्ल मार्क्स ने पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था का एक चित्र खींचने का यत्न किया है।

यह पुस्तक 'मैगनम ओपस' तो एक बहुत बड़ा ग्रन्थ है। इस पर भी इसका सार बहुत छोटा है और प्रायः मिथ्या है। इस ग्रन्थ के हम कुछ मुख्य अंशों पर विवेचना देने के लिए उसका सारांश भी दे रहे हैं।

इस ग्रन्थ में कार्ल मार्क्स ने मुख्य रूप में पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था का ही उल्लेख किया है। समाजवाद में क्या अर्थ-व्यवस्था हो, उसके विषय में जो कुछ भी लिखा है, वह नगण्य है।

वास्तव में कार्ल मार्क्स का दृष्टिकोण है अर्थ से वर्ग-व्यवस्था मानना। वह यह मानकर ही चलता है कि समाज में बूर्जुआ और प्रोलिटेरिएट दो वर्ग हैं। ये परस्पर एक-दूसरे के शत्रु हैं। मार्क्स स्वयं अपने को प्रोलिटेरिएट वर्ग का वकील मान दूसरे (बूर्जुआ वर्ग) को शत्रु समझ उसकी विवेचना कर रहा है।

हमारा तो कहना वही है जो हम पूर्व के अध्यायों में वर्णन कर आये हैं। वह यह कि समाज में सम्पत्ति के आधार पर वर्गों का निर्माण गलत है। और यदि यह हम समझ लें तो यह पूर्ण ग्रंथ ही, एक मिथ्या आधार पर स्थित होने के कारण सार-हीन हो जायेगा।

कम्युनिस्ट और समाजवादी इस ग्रन्थ को अपने मजहब का वेद मानते हैं। इस कारण इसमें वर्णित मूल सिद्धान्तों का सार हम सरल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा में लिख रहे हैं।

कार्ल मार्क्स अपने विचारों को इतिहास के उदाहरण देकर सिद्ध करना चाहता है। वह लिखता है—

'यह पर्याप्त नहीं कि वर्तमान अन्यायपूर्ण समाज को विनष्ट करने की इच्छा की जाये। इसके साथ ही—

One must know in obedience to what laws they come into being, in order to know how to act within the frame-work of these laws, since to act against them deliberately or not, in blind ignorance of the causes and character, would be a futile and suicidal act and would be creating chaos, defeat and demoralise the revolutionary class, and so prolong the existing agony.[1] (यह जानना आवश्यक है कि किन नियमों के अधीन वह (अन्यायपूर्ण अवस्था) बनी है, जिससे इन नियमों के चौखट के भीतर रहकर काम किया जा सके। इन नियमों के विरुद्ध जान-बूझकर अथवा अनजाने में बिना उन नियमों के कारण और प्रकृति को समझे, कार्य करना व्यर्थ होगा और पांव पर कुल्हाड़ी मारने वाला होगा। यह घोर अव्यवस्था उत्पन्न कर देगा। इससे कर्मचारी श्रेणी की पराजय होगी और यह उनका साहस भंग कर देगा। इस प्रकार इससे वर्तमान वेदना और भी बढ़ेगी।)

कार्ल मार्क्स के कथन का अर्थ यह है कि वर्तमान (पूंजीवाद) अर्थ-व्यवस्था का इतिहास और इसके नियम इत्यादि जाने बिना, इनका विरोध कर्मचारी वर्ग को हानि पहुँचायेगा।

यह बात तो ठीक है परन्तु असत्य इतिहास जानना और प्रचार करना तो न जानने से भी अधिक भयंकर परिणाम उत्पन्न कर सकते हैं।

अर्थात् अर्थ-व्यवस्था के इतिहास को तथा इसके नियमों को जानना अत्यावश्यक है। परन्तु यदि यह ज्ञान असत्य हो तो इससे आयोजित

1. Democratic Socialism p. 85.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काय भी तो हानिकारक होगा। कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तों पर काम करने वालों के वक्तव्य पढ़ें तो ज्ञात होगा कि ये सिद्धान्त जो कार्ल मार्क्स की ऐतिहासिक विवेचना के आधार पर बने थे, व्यावहारिक नहीं थे। उनमें संशोधनों की आवश्यकता थी। वर्तमान चीन और रूस का तथा स्टालिन और टीटो का विवाद भी तो सिद्धान्तों की इसी असफलता के उदाहरण हैं।

ऐतिहासिक सिद्धान्त क्या हैं, उनका एक नमूना हम यहाँ देना चाहते हैं।

श्रमिक (labourer) के अर्थ बदलते इतहास में बदल गये हैं। पहले एक व्यक्ति स्वतन्त्रता से अपने लिये परिश्रम करता था। बदलते-बदलते श्रमिक का अर्थ हो गया, किसी दूसरे के लिये परिश्रम करने वाला मनुष्य। दूसरे का अभिप्राय है जिसकी भूमि है अथवा जिसके यन्त्र (tools) हैं। श्रमिक का अर्थ अब एक कारखाने में परिश्रम कर जीवन-यापन करने वाले के हो गये हैं।

इसी प्रकार मार्क्स महोदय (political economy) अर्थ में राजनीति की बात करते हैं। आप लिखते हैं कि इस वाक्य का अर्थ अब पदार्थों का ज्ञान और श्रम का ज्ञान नहीं रहा। यह उससे बहुत बड़ अर्थ वाला हो गया है।

Political Economy is no longer a science of commoditiets and science of labour only indirectly, and in an abstract and one-sided manner. It becomes a direct science of social labour, of the productive force of that labour, of their development and afterwards their enslavement of the fixed forms of the production relation prevailing in present day bourgeois society......[1]

(पुलिटिकल इकॉनामी अब पदार्थ-विज्ञान अथवा गौण रूप से परिश्रम का ज्ञान नहीं रहा। इसके अर्थ अब सामूहिक परिश्रम का सीधा विज्ञान हो गया है। इसके अर्थ सामूहिक परिश्रम की उत्पादन-

1. Ibid.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामर्थ्य और परिश्रम के विकास और उससे उत्पन्न दासता के बंधन, जो आज बूर्जुआ समाज में परिश्रम के स्थिर रूप बन गये हैं, से हो गये हैं। और अन्त में इस (पुलिटिकल इकॉनामी) के अर्थ हो गये हैं वर्तमान समाज में उत्पादन सामर्थ्य को क्रान्तिकारी कार्य द्वारा कैसे बन्धनों से मुक्त कराया जा सकता है।)

सिद्धान्त रूप में तो कुछ भी बदला नहीं। यदि कुछ अन्तर पड़ा है तो वह रूप और मात्रा का ही है। जब मनुष्य अपने लिये और स्वेच्छा से परिश्रम करता था, तब वह स्वतन्त्र था। यह तो ठीक है, परन्तु मनुष्य ने अपने को दास बनाया अपनी आवश्यकताओं (कामनाओं) का। वह दासता, रूप बदलती हुई आज के काल तक चली आ रही है। कुछ भी बदला नहीं।

तनिक विचार करें कि एक मनुष्य केवल अपने लिये ही काम कर स्वतन्त्र क्यों नहीं रह सका? इसका कारण यह है कि उसकी कामनाओं ने उसको अपने परिश्रम से उत्पन्न होने वाले पदार्थ पर संतुष्ट नहीं रहने दिया। सबसे प्रथम और प्रबल कामना थी पुरुष को स्त्री की और स्त्री को पुरुष की। पुरुष अपनी संगिनी के लिये खेतों में काम करने लगा और स्त्री अपने साथी के लिये घर में काम करने लगी। यह परस्पर अवलम्बन (inter-dependence) उत्पन्न हो गया। आदि काल से उत्पन्न परस्पर अवलम्बन ही बढ़ता-बढ़ता बड़े-बड़े फार्मों और फिर कारखानों के रूप में उपस्थित हुआ है। इसका आरम्भ हुआ है मनुष्य की सब कामनाओं का केवल अपने परिश्रम से पूरा न होने पर।

पुरुष और स्त्री के, परस्पर निर्भर रहने की अवस्था में भी, यदि एक कम काम कर अधिक भोग सामग्री उपलब्ध करने का यत्न करे तो आज के कारखानों के मालिक की सी बात ही हो जायेगी। आज का मालिक भी प्रायः कम काम कर अधिक फल प्राप्त करने का यत्न कर रहा है।

यदि पुरुष आसक्ति-वश स्त्री के, घर का कुछ भी काम न करने पर भी, उसको भूषण वस्त्र अधिक देता है तो सिद्धान्त में बात वही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती है, जब मजदूर-वर्ग विवश हो मालिक के लिए परिश्रम करता है और मालिक एक नखट्टू स्त्री की भाँति भोग ही करता है और कार्य कुछ नहीं करता अथवा बहुत कम करता है।

कहने का अभिप्राय: यह है कि अर्थ-व्यवस्था तो वही की वही है। केवल रूप और क्षेत्र विस्तृत हो जाने से इसके सिद्धान्तों का क्षेत्र भी विस्तृत हो गया है।

मार्क्स महोदय ने कुछ भी नयी बात ढूंढ़ नहीं निकाली और जो कुछ नयी योजना बनाई है वह भी मिथ्या है। उसका कल्याणकारी प्रभाव नहीं हुआ है।

समस्या यह थी कि परिवार, जाति अथवा मनुष्य मात्र में परिश्रम करने वाले को उसके परिश्रम का उचित पारिश्रमिक मिलना चाहिये।

इसका उपाय उस आदि काल में भी किया जाता था, जब पुरुष और स्त्री ही परिश्रम में सांझेदारी रखते थे। उस समय भी बँटवारा ठीक कराने के लिये कुछ मूर्ख पुरुष स्त्रियों को मार-पीट कर ठीक किया करते थे अथवा स्त्रियां सत्याग्रह हड़ताल इत्यादि का अवलम्बन लेकर पुरुषों को सन्मार्ग दिखाने का यत्न करती थीं। उस काल में भी इन दोनों उपायों से समझाने-बुझाने का मार्ग ही श्रेष्ठ माना जाता था।

यही आज हो रहा है। हमारा तो यह मत है कि मार्क्स महोदय ने इस ग्रन्थ को लिखकर अपने जीवन का बहुत बड़ा भाग न केवल व्यर्थ गंवाया है वरं सरल चित्त व्यक्तियों को मिथ्या पथ पर भटकने की प्रेरणा भी दी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अष्टम अध्याय

परिश्रम और पूँजी

अब मार्क्स की अर्थ के विषय में भ्रांति का वर्णन करेंगे। मार्क्स लिखते हैं कि अर्थ (wealth) का स्रोत केवल परिश्रम ही है इस पर ही उन्होंने अपनी पूर्ण विवेचना आधारित की है। परिश्रम ही धन है। इस बात को बताने के लिए उन्होंने अपनी पुस्तक के एक सहस्र से ऊपर पृष्ठ काले किये हैं।

हमने इस पुस्तक के प्रथम भाग में 'कर्म और अर्थ' के विषय में लिखते हुए बताया है कि परिश्रम ही धन है। परिश्रम को माध्यम चाहिए। बिना माध्यम के परिश्रम फल नहीं ला सकता। यह माध्यम भूमि अथवा पूंजी कुछ भी हो सकता है।

मार्क्स साहब का कथन है कि भूमि अथवा पूंजी बिना परिश्रम के कुछ भी उपार्जन नहीं कर सकती। परन्तु क्या परिश्रम बिना इन साधनों के कुछ भी फल उत्पन्न कर सकता है ?

हमारा इसमें कहना यह है कि पूंजी परिश्रम का एक स्थिर रूप है। जैसे एक रुपये का नोट परिश्रम का रूप है, इसी प्रकार वह रुपया भी जो पूंजी के रूप में प्रयुक्त होता है, परिश्रम का रूप ही है। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या इस रूप में रुपया परिश्रम के फल को बढ़ा देता है अथवा नहीं ? यदि कहें कि नहीं बढ़ाता तो मशीनों के प्रयोग से परिश्रम का फल बढ़ जाने की बात कैसे बन गयी ?

उदाहरण के रूप में एक मनुष्य तकली से सूत कातता है। दूसरा चर्खे से कातता है। तीसरा अम्बर चर्खे से और चौथा कातने की मशीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से कातता है, जिस पर पचास या सौ तकलियाँ लगी हैं। चारों के परिश्रम के फल में अन्तर है। मशीन से कातने वाला अधिक फल पाता है।

इस कथन से कौन इनकार कर सकता है कि बिना पूंजी के तो मनुष्य के परिश्रम का कुछ भी मूल्य नहीं होता। तकली पर भी कुछ व्यय होता ही है।

कार्ल मार्क्स यह कहना चाहता है कि पूंजी भी लगे और पूंजी लगाने वाला इसका प्रतिकार न ले। इसमें युक्ति वह यह देता है कि पूंजी तो कुछ पैदा करती नहीं।

यही मिथ्या दृष्टि है। पूंजी परिश्रम के फल को बढ़ा देती है। इसके साथ ही यह भी निर्विवाद है कि पूंजी लगाने के ढंग पर फल की मात्रा कम-अधिक होती रहती है। जितनी बढ़िया मशीन होगी उतना ही परिश्रम का अधिक फल मिलेगा।

वास्तविक समस्या एक ही है। वह यह कि पूंजीपति को लाभ का कितना भाग मिलना चाहिए? जब यह निश्चय हो गया कि पूंजी परिश्रम के फल को अधिक करती है तो इसका भाग भी फल में है। वह कितना है, इस पर विवाद खड़ा किया जा सकता है। यह विवाद का विषय नहीं कि पूंजी का भाग कुछ है अथवा नहीं।

इसी प्रकार भूमि की बात है। भूमि की बात तो मशीन से भी अधिक स्पष्ट है। बिना भूमि के कृषि नहीं हो सकती। बिना खनिज पदार्थों के पदार्थ बन नहीं सकते।

एक बात और है। भूमि प्रकृति की देन है। और मशीन पूंजपति ने बनाई है। निःसन्देह भूमि का मूल्य कुछ नहीं और मशीन तो किसी दूसरे के परिश्रम से बनी वस्तु है। यह मूल्य के बिना मिल नहीं सकती।

परन्तु भूमि का कर सरकार लेती है। यह भूमि प्रयोग करने का मूल्य ही तो है। यदि सरकार भूमि को समतल कर, इसमें खाद डाल और सिंचाई के साधन निर्माण कर भूमि दे तो कर अधिक लेती है। यही बात मशीन की होती है। बढ़िया मशीन और उसको कारखाने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में फिट कराकर यदि पूंजीपति दे, तो मशीन के लाभ में उसका भाग बढ़ जाता है।

यह बात निर्विवाद है कि पूंजी और भूमि लाभ को बढ़ाने वाली होती हैं। इस कारण इनकी सहायता से किये परिश्रम के फल में इनका भी भाग होगा।

भूमि के भाग का फल सरकार लेती है और मशीन पर लगी पूंजी से परिश्रम के बढ़े फल का पूंजीपति भी भागीदार है।

कहने का अभिप्राय यह है कि पूंजी का लाभ में भाग है। यह भाग ब्याज के रूप में लिया जाता है, मकान के भाड़े के रूप में लिया जाता है, किसी कम्पनी के हिस्सों पर लाभ के रूप में लिया जाता है यह भाग किसी भी प्रकार अधर्मयुक्त नहीं। यह अधर्मयुक्त तब होगा, जब यह परिश्रम करने वालों के उचित भाग में से छीन कर लिया जाएगा।

यह निश्चय करना कठिन अवश्य है कि कितना भाग परिश्रम का हो और कितना भाग पूंजीपति का। इस पर भी यह असंभव नहीं। इसके ढंग हैं। इन ढंगों के विषय में हम धर्मवाद के विषय में लिखते हुए कहेंगे।

यह हमनें ऊपर लिखा है कि कार्ल मार्क्स ने समाजयादी समाज में अर्थ-व्यवस्था के विषय में कुछ नहीं लिखा। उसने तत्कालीन अर्थ-व्यवस्था के विषय में ही अपना विश्लेषण प्रस्तुत किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि कार्ल मार्क्स कुछ निर्माणात्मक पग उठाना नहीं जानता था। वह केवल विघटनात्मक कार्य ही करना जानता था। उस विघटनात्मक उद्देश्य से ही उसने अपनी पुस्तक 'कैपिटल' लिखी है।

कार्ल मार्क्स ने लाभ की विवेचना इस प्रकार की है कि लाभ है परिश्रम का मूल्य जो निर्वाह से अधिक उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ एक मजदूर चार घंटे काम कर इतना प्राप्त कर लेता है जितने से वह अपना निर्वाह कर सकता है। तो वह इन चार घण्टों से जितने अधिक घण्टे काम करता है, उतना ही उसका लाभ है।

साथ ही वह लिखता है कि—

Value is...labour and time and nothing else ; profit

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

is nothing but unpaid labour or surplus value.[1]

(परिश्रम और काल जितने में परिश्रम किया जाए, ही केवल मूल्य है और लाभ है वह परिश्रम जिसका मूल्य नहीं दिया गया।)

अर्थात्—मालिक श्रमिक को उसके परिश्रम का मूल्य देता है और उससे अधिक मूल्य बाज़ार से प्राप्त करता है। यह है लाभ। कार्ल-मार्क्स का कथन है कि एक ओर तो मालिक श्रमिकों में परस्पर मुकाबला करा कर उचित से कम पारिश्रमिक देता है और दूसरी ओर वह अपनी आर्थिक स्थिति के कारण वस्तुओं का मूल्य बढ़ाकर अधिक-से-अधिक लाभ प्राप्त करता है।

यह कहना शत-प्रतिशत ठीक नहीं। इसमें छिद्र हैं। प्रथम छिद्र यह है कि उत्पादन का मूल्य केवल परिश्रम और उस समय पर निर्भर नहीं, जिसमें यह परिश्रम किया गया है।

यह हम ऊपर बता चुके हैं कि परिश्रम के अतिरिक्त माध्यम पर भी उत्पादन का मूल्य बनता है। उदाहरण के रूप में एक मनुष्य ऊसर भूमि पर ज्वार, बाजरा उत्पण्न करता है और दूसरा पंजाब के व्यास, सतलुज के भीतरी क्षेत्र पर गेहूँ अथवा कपास पैदा करता है। दोनों समान परिश्रम करते हुए भी भिन्न-भिन्न मूल्य प्राप्त करते हैं। फिर घटिया और बढ़िया बीज पर भी परिश्रम का मूल्य निर्भर करता है।

उक्त कथन में दूसरी बात यह है कि पूंजीपति अपनी विशेष आर्थिक परिस्थिति से वस्तु का अधिक से अधिक मूल्य लेता है। यह वह वहाँ ही कर सकता है, जहाँ अराजकता फैली हुई हो। मनमाना मूल्य प्राप्त करने का आयोजन सफल होता है काम का एकाधिकार (monopoly) प्राप्त करने पर। यह बिना राज्य के सहयोग के प्राप्त नहीं हो सकता। अतः यह कहना है कि पूंजीपति अपने धन के बल पर मनमाना दाम वसूल करता है, गलत है। पूंजीपति एकाधिकार प्राप्त करता है राज्य पर अपने अनुचित प्रभाव के कारण। यह प्रभाव धन के बल पर हो सकता है अथवा अन्य उपायों से भी होता है। रिश्तेदारी, राजनीतिक संबन्ध, मित्रता और अन्य कितने ही कारण होते हैं,

1. Democratic Socialism p. 86.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्य पर प्रभाव उत्पन्न करने के। ये सब प्रकार के प्रभाव तब ही अनुचित रियायत प्राप्त करा सकते हैं, जब राज्य दुर्बल और बेईमानों के हाथ में हों।

भारतवर्ष में स्वराज्य काल के आरम्भ से कितने ही ठेके, परमिट और एकाधिकार कांग्रेस के नाम पर दिये गए थे और अभी भी दिए जा रहे हैं। कितने मन्त्रियों के पुत्रों और सम्बन्धियों को परमिट मिले हैं? हमारा यह दृढ़ मत है कि राज्य से एकाधिकार प्राप्त करने में धन का प्रयोग करना एक कारण है। अन्य अनेकों कारण भी हैं। अतएव इस प्रकार के एकाधिकारों (monopolies) को समाप्त करने का एक मात्र उपाय स्थिति में सुधार है न कि समाज के पूर्ण आर्थिक ढांचे को बदलना।

उत्पादन केन्द्र के मालिक को मनमाना लाभ प्राप्त करने में एक अन्य बात सहायक होती है, बाजार में वस्तुओं का अभाव। यह कहना कि यह अभाव पैसे वाले मालिक अथवा सौदागर ही पैदा करते हैं, परिस्थितियों का एक मिथ्या विश्लेषण है। इस अभाव में दो कारण हो सकते हैं। वस्तुओं की प्रदाय (supply) माँग से कम होना अथवा भविष्य में लाभ की संभावना में प्रदाय को रोक (hoarding) रखना।

ये दोनों बातें भी राज्य में दुर्बलता के लक्षण हैं। यदि तो मांग से प्रदाय कम है तो (Free economy) में स्वयमेव उत्पादन करने वाले आ जायेंगे। उनके आने में सहायता करने के लिए बैंक और क्रेडिट संस्थाएँ बनायी जाती हैं और बनाई जानी चाहिएँ।

अधिक से अधिक ऐसी वस्तुओं के बनाने में सरकार से पूंजी की सहायता ली जा सकती है। रुपये की गति को स्वतन्त्र करने से यह बात स्वयमेव मिट जाती है। जब यह अभाव नहीं रहेगा, तो मांग और प्रदाय का सन्तुलन स्वयमेव बन जायेगा।

अभाव का दूसरा कारण होता है वस्तुओं को जमा करके रखना। अर्थात् (hoarding) यह तो धर्म के विरुद्ध कार्य है। इस व्यवहार को दण्डनीय मानना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब वस्तुओं के मूल्य बढ़ते हैं तो उक्त दोनों अथवा दो में से किसी एक कारण से अभाव उत्पन्न होने पर ही बढ़ते हैं और उस अभाव को मिटाने का उपाय हमने बताया है। अतएव फालतू कीमत (surplus-value) प्राप्त करने का किसी को अवसर नहीं रह जाएगा।

कोई भी कारखाने वाला वस्तुओं के दाम अनुचित तरीके से बढ़ा नहीं सकता। स्वतन्त्र अर्थ के प्रवाह से दस्तकारी में एकाधिकार नहीं रह सकता। उससे मूल्य बढ़ने सम्भव नहीं।

यह सम्भव है कि यदि सरकार दुर्बल हो तो सरकारी आज्ञा से अथवा कृत्रिम उपायों से किसी को एकाधिकार प्राप्त हो जाये। ऐसी अवस्था में सरकार को सबल बनाने की आवश्यकता है।

जब ठीक ढंग से प्रतियोगिता (fare competetion) होगी, तब अनुचित लाभ की सम्भावना नहीं रहेगी। यह राज्य का कार्य है कि वह निर्माण-कर्त्ताओं का किसी भी उद्योग में, व्यवसाय अथवा व्यापार में, एकाधिकार स्थापित न होने दे, न तो सरकारी स्वीकृति से, न ही कृत्रिम हथकंडों से।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नवम अध्याय

पूँजी-निर्माण

पूंजी-निर्माण का विवेचन करते हुए कार्ल मार्क्स ने पूंजी को पहले दो भागों में विभक्त किया है। एक को अस्थाई पूंजी (Constant-Capital) तथा दूसरे को वह बदलने वाली पूंजी (Variable Capital) कहता है। स्थायी पूंजी से उसका तात्पर्य, उस पूंजी से है। जो इमारत, मशीनरी इत्यादि में लगी होती है और बदलने वाली पूंजी में वह कच्चे माल का मूल्य और कर्मचारियों का वेतन मानता है।

बदलने वाली पूंजी को भी उसने दो भागों में विभक्त किया है। एक कच्चा माल खरीदने में लगा धन और दूसरा कर्मचारियों का वेतन। कार्ल मार्क्स का कहना है कि केवल वह पूंजी जो वेतन में व्यय होती है, वह ही लाभ देती है। स्थायी पूंजी और कच्चे माल में लगी बदलने वाली पूंजी किसी प्रकार से भी लाभ में योगदान नहीं करती।

इसके साथ ही, कार्ल मार्क्स का कथन है कि पूंजीपति, कर्मचारियों और जनसाधारण को धोखा देने के लिए लाभ की गणना पूर्ण पूंजी पर करता है। उसको केवल बदलने वाली पूंजी पर करनी चाहिए। इस प्रकार वह फालतू आय को कम करके बताता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि कार्ल मार्क्स ने किसी चोर उद्योगपति के बहीखाते देखे हैं और इस प्रकार के परिणामों पर पहुंचा है। प्रायः सब लेखा-कारक हानि-लाभ का चिट्ठा बनाते समय इमारतों, मशीनरी औरअन्य स्थाई रूप में लगी पूंजी का उल्लेख पृथक् करते हैं। धोखा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देने का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता ।

साथ ही यह भी सत्य नहीं कि केवलमात्र श्रमिकों का श्रम ही लाभ देता है और स्थायी पूंजी अथवा बदलने वाली पूंजी अर्थात् कच्चे माल में लगी पूंजी लाभ उत्पन्न करने में योगदान नहीं करती ।

मान लीजिए दस हजार कर्मचारी एक कारखाने में काम करते हैं। कारखाने के बिना वे कुछ अधिक काम नहीं कर सकते । अधिक से अधिक यदि वे सूत कातते हैं तो दिन भर में एक हजार रुपए का काम करेंगे । यह काम एक मजदूर के दस पैसे के परिश्रम के समान होगा। मशीन की सहायता से वे सब मिलकर पचास साठ हजार का काम कर सकते हैं। इस प्रकार एक मजदूर दस पैसे नित्य के स्थान पाँच छः रुपए नित्य का काम निकाल सकता है।

यह कहना मिथ्या है कि मशीन और इमारत लाभ उत्पन्न करने में योगदान नहीं करतीं ।

यह एक पृथक् प्रश्न है कि मशीनें इत्यादि लाभ में कितने अंश की भागीदार हैं।

कार्ल मार्क्स का कहना कि उक्त गणना से एक पूंजीपति कर्मचारियों की ओर से पैदा किया धन मशीनों और इमारतों में लगाता चला जाता है। अर्थात् वह बदलने वाली पूंजी से लाभ उठा-उठा कर स्थायी पूंजी में बदलता जाता है।

जब यह निश्चय हो जाये कि कर्मचारियों का लाभ में कितना भाग है और वह भाग उसको मिल जाये तो फिर किस को क्या आपत्ति हो सकती है कि उद्योगपति अपनी बचत का धन पूंजी के स्थायी रूप में लगाता है अथवा बदलने वाले रूप में।

यदि कार्ल मार्क्स के सिद्धान्त को मान लें तो इसका सरल रूप यह हो जाएगा कि एक कुली दिन भर टोकरी उठाता हुआ जब दो रुपए कमाता है तो उसको अधिकार नहीं कि वह नित्य की आवश्यकताओं से दो आने बचा कर अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने का यत्न करे । जितना वह कमाता है उसे उतना व्यय ही करना चाहिए ।

व्यक्तिगत, पारिवारिक, कम्पनी की, जाति अथवा देश की बचत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुरक्षित रखने की सदैव आवश्यकता रहती है। उस बचत से ये सब अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए यत्न करना अपना अधिकार रखते हैं। यही पूंजीपति करता है।

कार्ल मार्क्स ने स्वयं किसी प्रकार का अर्जन कार्य किया नहीं था। इससे वह इस मानव भावना को समझ ही नहीं सका कि प्रत्येक व्यक्ति स्वत: अथवा किसी की सहायता से आर्थिक स्थिति को सुधारने की अन्त:प्रेरणा रखता है। हमारा यह अभिप्राय नहीं कि कार्ल मार्क्स को बौद्धिक कार्य नहीं करना चाहिए था। इस पर भी यह मनोविज्ञान से परिचय न रखने का सूचक ही है।

वास्तविक समस्या यह है कि किसी कारखाने में अथवा व्यवसाय में लगी हुई पूर्ण पूंजी में कर्मचारी कौन से भाग का अधिकारी है, लाभ का कौन सा भाग उसको मिले ? इस विषय पर विवेचना करते हुए कम्युनिज़्म का प्रवक्ता मिथ्या मार्ग पर चल पड़ा है। उसका कहना है कि लाभ का पूर्ण वितरण कर्मचारी वर्ग में होना चाहिये और किसी भी उद्योगपति का यह अधिकार नहीं कि वह बचत से पूंजी का निर्माण करे।

यह कथन पक्षपात पूर्ण है। यह पक्षपात दो कारणों से उत्पन्न हुआ है। एक तो कार्ल मार्क्स का समाज का आर्थिक दृष्टि से बंटवारा करना और दूसरे, एक काल्पनिक वर्ग का वकील बन मुकद्दमे में विरोधी को येन-केन-प्रकारेण पराजित करने का यत्न करना।

कार्ल मार्क्स की विवेचना न्याय-संगत और मानव हित में नहीं है।

कार्ल मार्क्स का कहना है कि एक पूंजीपति मजदूरों के परिश्रम का कम मूल्यांकन कर उससे बचाए धन को पूंजी निर्माण में व्यय करता है और फिर उससे अधिक कर्मचारी नौकर रखता है और पूर्व की भांति उनके भी परिश्रम का कम मूल्य देकर अपनी पूंजी को और बढ़ाता है।

इस प्रक्रिया का एक उदाहरण श्री अशोक मेंहता देते हैं।[1] एक डेविड सैसून के नाम का व्यक्ति १८३२ में बगदाद से बम्बई में आया

1. Democratic Socialism p. 95.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और अफीम का व्यापार करने लगा। वह भारत से अफीम बाहर के देशों में भेजता था। उसको मालूम हुआ कि चीन इसका एक बहुत बड़ा ग्राहक है। उसने अपना कार्यालय वहाँ खोल दिया और वहाँ अफीम भेजने लगा। दूसरा कोई इतनी सूझ-बूझ नहीं रखता था। इस कारण वह अफीम बेचने में एकाधिकारी बन बैठा।

इस प्रकार सैसून परिवार धनी हो गया। इस परिवार की बम्बई में कपड़ा की मिलें हो गईं। उनका अपना बैंक भी हो गया और फिर जहाज़ चलने लगे।

अफीम के व्यापार में आपत्ति हो सकती थी। इसका तो कहीं उल्लेख मेहता जी ने किया नहीं; न ही यह बताया है कि दुनिया में किसी भी व्यक्ति को अफीम बेचने अथवा खरीदने से किसी ने मना किया था? सैसून परिवार की मोनोपोली किस प्रकार बनी? साथ ही उनकी बम्बई में कपड़ा मिलें कैसे खुलीं? तो क्या किसी अन्य की मिलें नहीं खुलीं? और किसी अन्य ने बैंक नहीं खोले?

यह ठीक है कि यह व्यापार सर्व-साधारण नहीं कर सकता था। मिलें भी सब खोल नहीं सकते थे। इस कारण किसी दो चार दस पैसे वालों अथवा चतुर लोगों ने खोल लीं तो ईर्षा करने की आवश्यकता है क्या?

अंत में घूम-घुमाव कर समस्या एक ही रह जाती है कि एक मालिक अपने अधीन कर्मचारियों को कितना वेतन दे।

कार्ल मार्क्स और अन्य समाजवादी किसी को धनी होता देख ईर्ष्या से जलते प्रतीत होते हैं। उसके पास संचित धन देख, उनके मुख से लार टपकने लगती है। यथार्थ बात यह है कि वे और उनके साथी धन संचय करने की योग्यता और समार्थ्य नहीं रखते। इस पर वे किसी दूसरे को धनी होता देख नहीं सकते।

इसमें हमारा मत यह है। धन अर्जन करना पाप नहीं। पाप है धन को अधर्मयुक्त उपायों से अर्जन करना। पूंजी निर्माण करना स्वतः बुरी बात नहीं। हाँ, पूंजी के बल से कर्मचारियों को कम पारश्रमिक देना अथवा अन्य प्रकार से हानि पहुँचना पाप है। यह पाप दण्डनीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। राज्य को ऐसा करने वाले के लिए दण्ड का नियम बनाना चाहिए। परन्तु ऐसा करने वाले को दण्ड देने के स्थान पूंजी निर्माण को ही वर्जित करना भी तो पाप हो जाएगा।

भारत के विख्यात समाजवादी ने तो सैसून परिवार का उदाहरण लिया है। हमने उसके तत्त्वों को बताया है। उस परिवार की बहुत बड़ी सम्पत्ति देख जलने से कुछ लाभ नहीं। हम यहाँ एक बहुत ही साधारण मज़दूर का उदाहरण देते हैं। नाम देने की आवश्यकता नहीं। कोई भी व्यक्ति तनिक ध्यान से अपने चारों ओर देखे तो बीसियों ऐसे उदाहरण दिखाई दे जायेंगे।

एक बहुत ही निर्धन दुकानदार का लड़का राष्ट्रीय टेकनिकल स्कूल लाहौर ब्रेडला हाल, में सातवीं श्रेणी तक पढ़ कर, स्कूल से लोहार के काम में रुचि ले, लाहौर रेलवे वर्कशाप में भरती हो गया। धीरे-धीरे १९३७ से नौकरी करता हुआ तथा उन्नति करता हुआ १९६२ में वह चितरंजन वर्कशाप में फोरमैन बन गया। इस काल में परिश्रम कर जमा किए दस सहस्र रुपयों की पूंजी से गाजियाबाद में ढलाई का कारखाना खोल लिया। अपने जमा किए धन और तीस वर्ष के अनुभव की पूंजी से वह काम करने लगा। तीन वर्ष में उसकी पूंजी एक लाख के लगभग है। उसकी योग्यता और परिश्रम का परिणाम है कि वह एक विख्यात पम्पों की कम्पनी का एजेन्ट है और स्वयं पम्पों के 'स्पेयर पार्ट्स' बनाता है। इस समय उसके अधीन दो ढाई हजार रुपए महीने वेतन के कर्मचारी काम करते हैं।

यह सैंकड़ों-सहस्रों में से एक का उदाहरण है। यह ढंग है पूंजी निर्माण करने का और हम उन्नति करने वाले मिस्त्री के इस प्रयास को दण्डनीय नहीं वरन् प्रशंसनीय मानते हैं।

यह ठीक है कि सब ऐसा नहीं कर सके और न कर सकते हैं। इसमें दोष उस उन्नति कर सकने वाले मजदूर का नहीं। न ही इसमें समाज का दोष है। यह बुद्धि पूर्वजन्म के कर्मों तथा इस जन्म के त्याग और तपस्या का फल है।

सब मनुष्य एक समान बुद्धि और गुण तथा स्वभाव नहीं रखते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस कारण सब मज़दूर से कारखानों के मालिक नहीं बन सकते।

भारत में गोडरेज़ और अन्य कई कारखाने इसी प्रकार से बने हैं। अतः हम कहते हैं कि पूंजी निर्माण करना पाप नहीं। पूंजी को उपजाऊ कामों में लगाना पाप नहीं। पाप है इसका अधर्मयुक्त उपायों से अर्जन करना और इसका अधर्मयुक्त प्रयोग करना।

देशों में सरकारें अधर्माचरण को रोकने के लिए बनी हैं न कि मनुष्यों में उपस्थित बुद्धि और योग्यता पर सीमा बांधने के लिए।

पूंजी निर्माण में भी कार्ल मर्क्स की विवेचना गलत है। कार्ल मार्क्स यह समझता था कि पूंजीपति की एक विशेष मनोवृत्ति होती है और उससे वह धन (पूंजी) एकत्रित करता है और कर्मचारियों को कम वेतन देता है। वह लिखता है—

We see, then, that in spite of the progressive fall of the rate of profit, there may be an absolute increase of the number of labourers employed by capital, an absolute increase of the labour set in motion by it, an absolute increase of the mass of surplus labour absorbed, a resulting absolute increase of the produced surplus value and consequently a resulting absolute increase of the mass of produced profit. And this increase may be progressive. And it may not only be so. On the basis of capitalist production, it must be so, aside from temporary fluctuations. The capitalist process of production is essentially a process of accumulation.[1]

इसका अर्थ है—इस प्रकार हम देखते हैं कि लाभ की दर में बढ़ती हुई कमी पर भी (कारखानों के) कर्मचारियों की संख्या बढ़ती जाती है। पूंजीपति के अधीन कर्मचारी बढ़ते हैं, उन कर्मचारियों की संख्या भी बढ़ती है जो उत्पादन में लगे होते हैं अथवा लगने के लिए फालतू रहते हैं। इस सबका परिणाम यह होता है कि सामूहिक रूप में व्यय करने के उपरांत बचत (Surplus) बढ़ती है और सामूहिक लाभ बढ़ता है। यह बढ़ोती आगे चल भी सकती है और नहीं भी

1. Ibid p. 94.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चल सकती। पूंजीपति के तरीकों से इसको बढ़ना ही चाहिये। कभी-कभी (बढ़ोती) न्यूनाधिक हो सकती है। पूंजीपति के उत्पादन का ढंग तो वस्तुतः धन जमा करने का ढंग ही है।)

इसमें भी युक्ति कोई नहीं। यह सब कुछ होता है और हो सकता है, परन्तु क्यों? इसका कारण बताने में कार्ल-मार्क्स अपने पूर्वग्रहों से ग्रसित ही प्रतीत हुआ है।

कारण यह है कि न्यून अथवा अधिक धन जो कुछ भी एक उद्योगपति जहाँ कहीं से भी प्राप्त करता है, वह अपने काम को विस्तार देने में लगाता है। प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या उत्पादन-कार्य को विस्तार देना अपराध है अथवा इस विस्तार के लिए धन को अधर्माचरण से प्राप्त करना अपराध है? कार्य को विस्तार देना तो कोई मूर्ख ही बुरा कहेगा। कार्ल मार्क्स के मस्तिष्क में एक भ्रम बन गया था कि केवल मात्र श्रमिक को श्रम का कम मूल्य देकर ही पूंजी का निर्माण हो सकता है। यह बात सर्वथा भ्रम है। कुछ लोग ऐसा करते होंगे। कदाचित् करते हैं, परन्तु इसका उपाय यह है कि श्रमिक को उसके श्रम का उचित मूल्य दिलवाया जाये। यह सरकार का काम है। परन्तु हमारा तो यह कहना है कि जब पूंजी के उचित ढंग से प्रयोग करने पर श्रमिक के श्रम का मूल्य बढ़ जाता है, तो उसमें लगी पूंजी का भाग भी है। वह भाग तो कार्य के विस्तार में प्रयुक्त हो ही सकता है। यह भाग कितना भी कम क्यों न हो, अस्तित्व रखता है और वह उद्योग के विस्तार में प्रयुक्त होना ही चाहिये।

शेष सब बातें निरर्थक हैं। जब विस्तार होगा तो श्रमिकों की संख्या बढ़ेगी। उस बढ़े हुए लाभ में, यदि सरकार सबल है, तो श्रमिकों का भी भाग बढ़ेगा।

यह सब कुछ हो रहा है। जिन-जिन देशों में राज्य सबल हैं और बुद्धिशील लोगों के अधीन हैं, वहाँ पूंजीपति के बढ़ते हुए लाभ को श्रमिकों और सार्वजनिक हितों की ओर मोड़ देने का उपाय हो रहा है।

परिणामस्वरूप मशीन युग में श्रमिक का उत्पादन बहुत बढ़ गया है। इस बढ़े हुए उत्पादन से हो रहे लाभ को, इस युग के आरम्भ में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समूचा का समूचा ही कारखाने का मालिक ले लेता था। अब ज्यों-ज्यों सरकारें उद्योगपतियों की अनधिकार चेष्टाएँ समझ रही हैं, उनके लाभ का उचित बँटवारा कर रही हैं। इस बँटवारे में भागीदार श्रमिक, प्रबन्धक, संयोजक पूंजी लगाने वाले और राज्य, जो शान्ति-व्यवस्था स्थापित रखने वाला है, सब के सब हैं। श्रमिकों को उचित वेतन मिलना चाहिए। प्रबंधक और संयोजक भी अपने-अपने उचित वेतन के भागीदार हैं। पूंजी लगाने वाला भी लाभ में से अपना भाग लेगा और फिर राज्य को भी कर के रूप में भाग मिलता ही है।

यहाँ एक अन्य उदाहरण हम देना चाहते हैं। कुछ लोग मिलकर एक मशीन बनाने का कारखाना खोलना चाहते हैं। सबसे पहले संयोजकों का कार्य होता है। संयोजकों में मैनेजिंग डायरेक्टर, इंजीनियर इत्यादि होते हैं। मैनेजिंग डायरेक्टर पूंजी एकत्रित कर उसकी देख-देख करता है। इंजीनियर कारखाने के 'ब्ल्यू प्रिंट' तैयार करते हैं। मशीनों का निर्माण करने वाला तो मशीनों का दाम ले लेता है परन्तु मशीनों का आविष्कार करने वाले, भी संयोजकों में गिने जाने चाहिये। वे प्रायः अज्ञात होते हैं। इस कारण उनका भाग विद्यादान में दिए धन से पूरा होता है। पूंजी लगाने वाले, कम्पनी में हिस्से खरीदने वाले होते हैं। कारखाना बन जाता है। मशीनों के पुर्जे बनने लगते हैं। वे जब बाजार में बिकेंगे तो लाभ पैदा करेंगे। उस लाभ में श्रमिक भी भागीदार हो जाते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि लाभ करना पाप नहीं है। उस लाभ का उचित बँटवारा सब अधिकारियों में हो यही धर्म है। राज्य तो व्यवस्था स्थापित करने के लिए ही बना है। यह उसका काम है कि वह लाभ का ठीक-ठीक वितरण होने में सहायक हो।

यह ठीक है कि मशीनों के प्रयोग से श्रमिक के श्रम का फल बढ़ गया है और उद्योगपति इस फल में से मुख्य भाग अपना मान लेते हैं, परन्तु उनका ऐसा मानना एक ओर तो उनके समझने में त्रुटि के कारण है और दूसरी ओर राज्य के अपने कर्तव्य पालन न करने के कारण है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दशम अध्याय

'कैपिटल' की कुछ अन्य बातें

'कपिटल' पुस्तक बहुत बड़ी है और उसमें इस प्रकार की अयुक्ति-संगत बातें ही लिखी हैं, जिनका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। इनमें युक्ति का अभाव हमने स्पष्ट कर दिया है। पूर्ण पुस्तक तो यहाँ लिखी नहीं जा सकती। मुख्य रूप में पूर्ण पुस्तक का अभिप्राय यह है—

(१) मशीनों के निर्माण से बढ़ी हुई आय केवल श्रमिकों के कारण है। इसकी विवेचना कर दी गई है।

(२) मशीन लगाने वाला पूंजीपति अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करना चाहता है। यह ठीक है, परन्तु उस स्वाभाविक प्रवृत्ति को रोकने की आवश्यकता नहीं। केवल इसको धर्म की मर्यादा के भीतर रखने की आवश्यकता है। इसमें धर्म क्या है पुस्तक के धर्म के अध्याय में लिखेंगे। यहाँ तो इतना ही लिखना है कि धर्म-व्यवस्था का रक्षक राज्य और दण्ड-विधान है।

(३) बढ़े हुए लाभ को पूंजीपति उद्योग के विस्तार में लगाता है और इससे अधिक श्रमिकों को काम देता है।

हमने इसकी भी विवेचना की है। काम को विस्तार देना तो पाप नहीं। हाँ, लाभ के भाग में से ही विस्तार देना ठीक रहता है। संयोजक, प्रबन्धक तथा श्रमिक के लाभ से उद्योगपति अपने कार्य को विस्तार दे तो वह चोर हो जायेगा। यह अधर्म है और इसको रोकना सरकार का कर्तव्य है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४) पूंजीपति अपने कार्य का एकाधिकार प्राप्त करने का यत्न करता है। यह एकाधिकार वह कई प्रकार से प्राप्त करना चाहता है। इसमें हमारा मत है कि इन सब प्रकार के उपायों में केवल एक प्रकार से एकाधिकार निर्माण क्षम्य हो सकता है। अपने निर्मित माल को अधिक से अधिक सुन्दर, सुदृढ़, सस्ता और उपयोगी बनाकर। ऐसा करके घटिया माल बनाने वालों को बाजार से बाहर कर देना किसी दृष्टि से भी वर्जित नहीं किया जा सकता। यदि अपने माल के बढ़िया होने से कोई मार्केट में एकाधिकार बना लेता है तो उसमें बाधा डालनी ठीक नहीं।

(५) सस्ता कच्चा माल प्राप्त करने के लिए, सस्ता श्रम पाने के लिए और अपने माल को अधिक से अधिक मूल्य पर वेच सकने के लिए अनुचित उपायों का प्रयोग (unhealthy competetion) होता है। यह रोकना भी सरकार का कार्य है।

ये त्रुटियाँ सबकी सब मशीन युग के आरम्भ में घोर रूप में प्रकट हुई थीं। तत्कालीन सरकारें इनको रोकने में या तो अपने को अशक्त पाती थीं अथवा उनको अपने कर्तव्य का ज्ञान ही नहीं था।

कार्ल मार्क्स ने ये और अनेकों अन्य दोषों को दूर करने का उपाय बताया है, बलपूर्वक वर्तमान प्रबन्ध को नष्ट कर, उसके स्थान पर समाजवादी समाज का निर्माण करना।

एक तो बलपूर्वक तत्कालीन ढाँचे को नष्ट करने की आवश्यकता नहीं। इसकी आवश्यकता उन सब देशों में जिनमें उद्योग-धन्धों ने उन्नति की है, नहीं पड़ी। मुख्य रूप में एक ही उपाय सफल हुआ है और वह उपाय है राज्य-व्यवस्था में परिवर्तन; राज्य को सबल और योग्य बनाकर मानव स्वार्थ को नियंत्रण में रखना।

(६) पूंजीवाद से संकटावस्था आनी अनिवार्य है। कई संकटावस्थाएँ अस्थाई होती हैं; उन पर अधिकार प्राप्त किया जा सकता है। पूर्व की असन्तुलित अवस्था सुधार ली जाती है और पुनः प्रगति होने लगती है। ये संकट धीरे-धीरे स्थायी संकट में बदल जाते हैं और तब पूंजीवादी ढाँचा उनका निवारण नहीं कर सकता। इस पर क्रान्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती है।

मार्क्स का यह कथन वर्तमान स्वतंत्र अर्थ-व्यवस्था वाले देशों ने असत्य सिद्ध कर दिया है। फ्रांस, इंग्लैंड, अमरीका तथा जर्मन में स्वतंत्र अर्थ-व्यवस्था है। कम्युनिस्ट वहाँ मज़दूरों को भड़का कर संकटावस्था उत्पन्न करने का यत्न करते रहे हैं, परन्तु स्वतंत्रता के प्रेमी सदा असंतुलन को ठीक करते रहे हैं। कभी मानव-स्वार्थ सुगमता से नियंत्रण में नहीं आया तो थोड़ा-बहुत झगड़ा भी करना पड़ा है। अन्त में वहाँ शीघ्र ही सन्तुलित व्यवस्था बन गई और उन्नति होने लगी।

मार्क्स को तो छोटी-छोटी घटनाओं में क्रान्ति दृष्टिगोचर होती है और उसके विचार में क्रान्तियाँ हितकारक होती हैं। यह भी भ्रम मात्र है। क्रांतियाँ मूढ़ता का परिणाम होती हैं। मूढ़ता सत्ताधीशों की ओर से और मूढ़ता सत्ता में पिसने वाले लोगों की ओर से। सत्ताधीश तो अपने को दैवी प्रतिभा के स्वामी समझते हैं और किसी दूसरे की बात सुनने को भी तैयार नहीं होते। सत्ता के नीचे पिस रहे लोग अधीर हो जाते हैं और दोषी तथा निर्दोष में भेद न कर सकने से सबको पीस डालने का यत्न करते हैं। यह है क्रान्ति का वास्तविक रूप।

यदि मूर्खता बढ़ जाये तो क्रान्ति पग-पग पर हो सकती है और यदि विवेक हो तो बदली परिस्थितियों में अस्थायी संकट टाले जा सकते हैं। तब क्रान्ति के स्थान प्रगति होने लगती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकादश अध्याय

कम्युनिज़म की अव्यवहारिकता

कार्ल मार्क्स और एंजल ने सारा बल पूंजीवाद की निन्दा करने और इसको हटाने के लिए क्रान्ति लाने पर लगा दिया है। अपने घोषणा-पत्र में वे कम्युनिस्टों को एक काम करने को कहते हैं। वे लिखते हैं—

In short, the communists everywhere support every revolutionary movement against the existing social and political order of things.[1]

(संक्षेप में कम्युनिस्टों को चाहिये कि वे प्रत्येक स्थान पर प्रत्येक क्रान्तिकारी आन्दोलन की सहायता करें जो उपस्थित राजनीतिक सामाजिक अवस्था के विरुद्ध हो।)

कम्युनिस्टों के इस आदेश के प्रकाश में हैदराबाद के कम्युनिस्टों का रजाकारों के साथ सम्मिलित हो भारत सरकार का विरोध करना समझ में आ जाता है। वामपक्षीय कम्युनिस्टों का चीन के आक्रमण को तर्क-संगत सिद्ध करना भी समझ में आने लगता है। चीन की पाकिस्तान को सहायता भी समझ में आने वाली बात हो गई है। ये तो सत्य-असत्य, उचित-अनुचित सब प्रकार के आन्दोलनों में सम्मिलित होने को तैयार रहते हैं, जिनसे अव्यवस्था उत्पन्न हो सके।

यह बात अव्यावहारिक तो है ही, साथ ही प्रायः कम्युनिस्ट विचार भी अनिच्छित परिणाम उत्पन्न करने वाली सिद्ध हो रही है।

1. The Essential Left p. 47.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इससे कम्युनिष्टों के अपने मध्य भी संशय और रोष उत्पन्न होने लगे हैं। रूस और चीन का वैमनस्य भी इसी का परिणाम है।

इसके साथ ही कम्युनिस्ट नेता यह नहीं बता गये कि वर्तमान व्यवस्था के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने पर क्या किया जाये, जिससे समाज-वादी-व्यवस्था उपस्थित हो सके। साथ ही यह भी स्पष्ट नहीं किया कि समाजवादी व्यवस्था क्या होगी।

परिणामस्वरूप कम्यूनिस्टों में कई दल बन गये हैं और वे अपने-अपने ढंग से व्यवस्था लाने और स्थापित करने की योजना बनाने लगे हैं।

इनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

(१) (Fabianism); बनार्ड शाह (Barnard Shah) सिडनी वैब तथा उसकी पत्नी ग्राहम वालेस (Graham Wallase), एनी बीसैन्ट (Anne Besant) और इस प्रकार के अन्य विचारक कार्ल मार्क्स की क्रान्ति की योजना को व्यर्थ समझ कम्युनिज़्म को फेबियनिज़्म के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इस मत के प्रचारकों ने मार्क्स की ऐतिहासिक विवेचना को निरर्थक मान छोड़ दिया और सीधे वर्तमान अर्थ-व्यवस्था में विषमता को दूर करने का उपाय उपस्थित किया है। ये अपना ध्यान अधिकतर नगर-निगमों के कार्य की ओर लगाते हैं। इनका कहना है कि मशीनों के बनने से सबसे अधिक विषमता नगर के जीवन में उपस्थित हुई है। इस कारण नगर-निगमों को अपने कर्तव्यों पर आरूढ़ करने से प्रायः सब विषमता दूर हो सकती है। बनार्ड शाह लन्दन में एक कॉन्टी की कौंसिल में सदस्य बन उसमें सुधार करने का यत्न करते रहे थे।

फेबियनों ने दो सौ पृष्ठों की एक पुस्तक में अपने विचार व्यक्त किये हैं। उसमें ऐतिहासिक विकास पर बहुत कम बल दिया गया है। अधिकतर ये लोग म्युनिसिपल कार्य ट्रेड-यूनियनों और निर्धनों के लिए राजकीय सहायता पर बल देते रहे हैं।

इस पर भी ये लोग धीरे-धीरे मार्क्स के विचारों के होते जाते हैं। केवल गति में अंतर है। ये भी अपने को समाजवादी कहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिखने के विषय में कहा जाता है कि यह अपने अन्तकाल के समीप पहुँचकर उसी ढंग से लिखने लगा था, जिस ढंग से कार्ल मार्क्स लिखता रहा था।

फेबियन, मार्क्स की Marginal utility theory of value पर भी विश्वास नहीं रखता था। यह विचार मार्क्स ने इस प्रकार उपस्थित किया है। धन केवल श्रमिक का श्रम है। जो कुछ मजदूर को वेतन दिया जाता है, उससे जो कुछ भी अधिक मूल्य प्राप्त किया जाता है, वह लाभ है, जो नहीं होना चाहिए। इस लाभ से पूंजीपति अपनी पूंजी निर्माण कर अपने काम को विस्तार देता है।

इस विचार में त्रुटि यह है कि उत्पादन का मूल्य केवल श्रमिक का श्रम ही नहीं। इसके अतिरिक्त भी कई बातें, उस मूल्य का निश्चय करती हैं। व्यवहार में कार्ल मार्क्स का सिद्धान्त मिथ्या सिद्ध हुआ है।

उदाहरण से तो बात स्पष्ट हो जायेगी। भारत में चीनी का उत्पादन-मूल्य जिसमें मजदूरों की मजदूरी, गन्ने का और फैक्टरी पर लगे धन का ब्याज, सरकारी कर, तथा पैसा लगाने वालों का थोड़ा सा भाग गिन लिया जाए तो यह तेरह-चौदह आने प्रति किलो बनता है। सरकार इस भाव पर कारखाने वालों से खरीद कर सात-आठ आने पर विदेशों में बेचती रही है। करोड़ों रुपये का घाटा सरकार भरती है। यह क्यों करती है? यह इस कारण कि सरकार को विदेशी मुद्रा की बहुत आवश्यकता है और विदेशों में चीनी की माँग कुछ अधिक है नहीं। भारत सरकार के पास बेचने के लिए चीनी ही है। अतः सरकार घाटे पर बेचने के लिए तैयार है। यहाँ किसी प्रकार के लाभ का प्रश्न ही नहीं रहा। यही अवस्था कारखाने के मालिकों की भी हो सकती है। उनको गन्ना खरीदने के लिए नकद रुपयों की आवश्यकता होती है और मार्केट में चीनी की माँग कम हो तो वह हानि उठाकर भी चीनी बेच देता है। अभिप्राय यह है कि भारत की समाजवादी सरकार भी हानि पर माल बेचने के लिये इस कारण तैयार हुई है क्योंकि विश्व मार्केट में चीनी की माँग कम है। भारत सरकार विदेशीय ग्राहकों को यह नहीं कह सकती कि इसमें श्रमिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का इतना श्रम सम्मिलित है और इतना दाम देना ही होगा। देश में तो यह अपने लोगों को कह सकती है कि चीनी डेढ़ रुपया किलो मिलेगी, परन्तु खुले बाजार (open market) में यह बात नहीं हो सकती।

अभिप्राय यह है कि वस्तुओं का मूल्य केवल मज़दूरों का परिश्रम ही निश्चय नहीं करता, वरं इसमें मार्केट भी एक विशेष अंग है।

इस प्रकार अन्य बातें भी हैं जिनसे उत्पादन का मूल्य निश्चय होता है। उदाहरण के रूप में कच्चे माल की प्राप्ति।

मान लीजिए, एक कारखाना कोयले की खान के समीप बनाया गया है। परन्तु समय पाकर कोयला वहाँ नहीं रहता। वह दूर से लाना पड़ता है। निःसन्देह कच्चे माल की ढुलाई खान से कारखाने तक अधिक होगी और कच्चे माल का मूल्य बढ़ जायेगा। कच्चे माल के बढ़े मूल्य से कारखाने में बने माल का भी मूल्य बढ़ाना आवश्यक होगा। कारखाने का बना माल तो मार्केट में माँग पर बिकता है। इस पर लाभ कम हो सकता है। यही बात भारत सरकार के साथ हो रही है।

भारत सरकार को विदेशी मुद्रा की अत्यधिक आवश्यकता है। इसके लिए यहाँ का कच्चा लोहा (Iron ore) विदेशों को भेज रही है। विदेशों में कच्चे लोहे का मूल्य वह भी नहीं मिलता जो उसका खान से बन्दरगाह तक ढोकर जाने में बैठता है। सरकार अपनी आवश्यकता के लिए देश का कच्चा लोहा कौड़ियों के मूल्य पर दे रही है।

ये सब उदाहरण सिद्ध करते हैं कि मज़दूर के परिश्रम के अतिरिक्त भी कई कारण हैं जिनका उत्पादन के मूल्य पर प्रभाव पड़ता है। कभी ये कारण मूल्य को कम करते हैं और कभी बढ़ा देते हैं। अतः जो किसी वस्तु में हानि उठाता है वह मूल्य अधिक लेने का भी अधिकारी है। कुछ भी हो, वस्तु का मूल्य केवल वह धन ही नहीं, जिसको कार्ल मार्क्स अस्थाई पूंजी कहता है। इसके अतिरिक्त भी कुछ कारण हैं जिनका मूल्य पर प्रभाव पड़ता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फेबियन पहल लोग थे, जिन्होंने कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तों को दोषपूर्ण समझा था। इस पर भी, व्यवहार में भेद होने पर भी, जो कुछ ये प्राप्त करना चाहते थे, वह कम्युनिस्टों से भिन्न नहीं था।

G. D. H. Cole कार्ल मार्क्स के विषय में लिखता है कि—

...while others analysed capitalism, Marx tried to understand capitalism by going beyond it, viewed it from without. Marx's effort of looking at capitalism is like that of the man from the moon viewing the life of our planet.[1]

(जहाँ लोग पूँजीवाद का विश्लेषण करते हैं, वहाँ कार्ल मार्क्स इसको बाहर से देखकर समझने का यत्न करता है। मार्क्स पूँजीवाद को ऐसे देखता है, जैसे चाँद पर बैठा व्यक्ति इस पृथ्वी पर के जीव-जन्तुओं को देखे।)

अर्थात् कार्ल मार्क्स पर, पूँजीवाद का पेचीदगियों का न जानने का आरोप लगाया है। सिद्धान्त रूप में वह कार्ल मार्क्स को ठीक समझा है। फेबियन भी पूँजीपति में एकाधिकार प्राप्त करने का स्वभाव अनिवार्य मानते हैं।

हमारा मत इसमें यह है कि फेबियन सिद्धान्तों में मार्क्सवादी हैं, परन्तु व्यवहार में वे मार्क्स के सिद्धान्तों को अपने ढंग पर प्रयुक्त करते हैं।

जब मार्क्स के लम्बे-चौड़े ग्रंथ में दिए सिद्धान्तों को प्रयोग में लाने का समय आया तो लोगों को कठिनाई अनुभव हुई। परन्तु वे समाजवाद के पूर्वग्रहों से ग्रसित उन सिद्धान्तों को मिथ्या तो नहीं कह सके; हाँ, वे उनके प्रयोग में जोड़-तोड़ करने लगे।

फर्डिनैंड लैसेल (Ferdinand Lassall), विल्हम लिबनैक्ट (Wilhelm Liebknect), आगस्त वैबल (August Bebel), बर्टरैण्ड रस्सल (Bertrand Russell) बर्नस्टीन (Bernstein) कार्ल कोटस्की (Karl Kautsky) जीन जारेस (Jean Jaures) सौरल (Sorel)

1. Democratic Socialism, p. 105.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रोजा लग्ज़म्बर्ग, लैनिन और फिर स्टालिन—ये सब और अन्य अनेकों अपने-आपको समाजवादी कहते हुए मार्क्स के सिद्धान्तों को मानते रहे हैं। केवल व्यवहार में वे समय और परिस्थितियों के अनुसार न्यूनाधिक वदल करते रहे हैं।

भारत में इसी पंक्ति में श्री जवाहरलाल नेहरू को समझना चाहिए। जहाँ तक मार्क्स का सम्बन्ध है, वे उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। साथ ही जहाँ तक सिद्धान्तों का प्रश्न है, आप अपनी पुस्तक Discovery of India में लिखते हैं—

A study of Marx and Lenin produced a powerful effect on my mind and helped me to see history and current affairs in a new light......But despite all these developments and possible distortions of the original passion for human betterment, I have no doubt that the Soviet Revolution had advanced human society by a great leap and had lit a bright flame which could not be smothered...[1]

इसका अर्थ है—मार्क्स और लैनिन के अध्ययन ने मेरे मन पर बहुत प्रबल प्रभाव उत्पन्न किया था और इसने इतिहास तथा वर्तमान घटनाओं को नए प्रकाश में देखने में सहायता दी···उन सब घटनाओं आदि के होने पर भी जो मानव कल्याण के आरम्भिक जोश में हो गयीं, मुझे सन्देह नहीं कि सोविएट क्रान्ति ने मानव समाज को छलांगों में आगे बढ़ाया है। इसने एक ऐसी ज्वाला प्रज्वलित कर दी है, जो बुझाई नहीं जा सकी।

ऐसे विचार रखते हुए तथा भारत की विशेष परिस्थितियों को देखते हुए जवाहरलालजी ने यहाँ वैसी क्रांति नहीं कराई जैसी लैनिन ने रूस में करा दी थी। यद्यपि जवाहरलालजी चाहते तो सब कुछ करा सकते थे। इनका जनता पर बहुत प्रबल प्रभाव था। परन्तु वे धीरे-धीरे भारत को कम्युनिज्म की ओर ले जा रहे थे।

1. pp. 17-18 (1946).

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी पुस्तक के इस भाग में हमने यह सिद्ध किया है कि कम्यु-निज़्म और समाजवाद सिद्धान्त रूप नें एक ही है। केवल परिस्थितियों और अपने-अपने देश की आवश्यकताओं के कारण कम्युनिज़्म लाने की गति और विधि में भेद है।

हमारा विरोध जहाँ कम्युनिस्टों के उपायों के लिए है, वहाँ उनके सिद्धान्तों पर भी है। इस कारण हम समाजवाद और कम्युनिज़्म दोनों को अव्यवहारिक और धर्म-विपरीत मानते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तृतीय भाग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथम अध्याय

समाजवाद का यथार्थ रूप

कार्ल मार्क्स ने तो समाजवाद में अर्थ-व्यवस्था की कल्पना की नहीं। एंजल् ने समाज के सब वर्गों की उन्नति चाहने वालों की निन्दा की है। उसने सेंट साइमन इत्यादि सुधारकों को काल्पनिक स्वर्ग के इच्छुक कहकर स्मरण किया है।

एंजल लिखता है—

The Utopians' mode of thought has for a long time governed ideas of the nineteenth century, and still governs some of them. Until very recently all French and English Socialists did homage to it. The earlier German Communism, including that of Weitling, was of the same school. To all these Socialism is the expression of absolute truth, reason and justice, and has only to be discovered to conquer all the world by virtue of its own power......Hence, from this nothing could come but a kind of electric, average Socialism, which as a matter of fact, has up to the present time dominated the minds of most of socialist workers in France and England.[1]

(काल्पनिक स्वर्ग के विचार का ढंग उन्नीसवीं शताब्दी में समाजवादियों के मन पर राज्य करता रहा है। और यह अभी भी कइयों

1 The Essential Left p. 117

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के मन पर विद्यमान है। इससे कुछ ही पहले तक सब फ्रांसीसी, अंग्रेज और जर्मन समाजवादी इसके सम्मुख शीश झुकाते थे। पहले वे जर्मन कम्युनिस्ट भी जिसमें 'वेटलिंग' भी सम्मिलित थे, इसी विचार के पोषक थे। इन सबके मत से समाजवाद शाश्वत सच्चाई, बुद्धिवाद और न्याय का प्रतीक था तथा प्रचार से यह अपने गुणों के कारण ही पूर्ण भूमण्डल पर छा जाएगा।

अतः इसमें से सिवाय एक चमत्कारक सामान्य समाजवाद से कुछ भी होने वाला नहीं था। जो अभी तक प्रायः फ्रांसीसी, अंग्रेज और जर्मनी के समाजवादियों के मन पर छाया हुआ है।)

इस प्रकार कार्ल मार्क्स ने पूंजीपतियों की विवेचना की और एंजल ने उन समाजवादियों को भ्रम में फँसा हुआ कहा, जो मशीनों के आविष्कार से समाज में उत्पन्न विषमता को दूर करने का यत्न कर रहे थे।

वे समाजवादी एंजल के शब्दों में ऐसे थे—

Not one of them appears as a representative of the interests of that proletariate which historical development had, in the meantime, produced. Like the French philosophers, they do not claim to emancipate a particular class to begin with, but all huminity at once. Like them, they wish to bring in the kingdom of reason and eternal justice. But this kingdom......as they see it, as far as heaven from earth, from that of the French philosophers.

(उनमें एक भी सम्पत्तिविहीनों के वर्ग का प्रतिनिधित्व करता प्रतीत नहीं होता था। यह वर्ग ऐतिहासिक विकास से उत्पन्न हो गया था। फ्रांसीसी दार्शनिकों की भांति वे इस विशेष वर्ग के उद्धार का दावा नहीं करते थे, वरं पूर्ण मानव समाज का एकदम। उन दार्शनिकों की भांति ये (समाजवादी) भी बुद्धि और शाश्वत न्याय का राज्य लाना चाहते थे, परन्तु यह राज्य इन (समाजवादियों) से भी उतना ही दूर था जितना उन (फ्रांसीसी दार्शनिकों) से दूर था।)

1. Ibid, p. 107

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् समाजवाद पूर्ण मानव समाज के कल्याण के लिए नहीं। यह उनका ही हितचिन्तन करता है जो प्रोलिटेरिएट (सम्पत्ति विहीन) हैं।

प्रोलिटेरियेट के लक्षण भी पढ़ लीजिए। यह लक्षण कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र के साथ पद टिप्पणी में दिया है। यह इस प्रकार है—

By proletariat, the class of modern wage labourers who, having no means of production of their own, are reduced to selling their labour power in order to live.[1]

प्रोलिटेरियेट से, उस वर्ग का अभिप्राय है जो आजकल के काल में उजरत पर मजदूरी करते हैं, जिनके पास उत्पादन का अपना कोई साधन नहीं है, और जो जीने के लिए अपना श्रम बेचने पर विवश हैं।

इस लक्षण को यदि एंजल के उक्त कथन के साथ पढ़ा जाए तो स्पष्ट हो जाएगा कि उसके द्वारा प्रतिपादित समाजवाद केवल ऐसे श्रमिकों के हित के लिए निर्माण किया गया है जो सर्वथा अकिंचन हैं और जिनके पास उत्पादन का अपना कोई साधन नहीं।

इसका अभिप्राय स्पष्ट है कि वह किसान जिसके पास पाँच-सात एकड़ भूमि है, इस प्रोलिटेरियेट वर्ग में नहीं आ सकता और समाजवाद उनके हित में नहीं है।

इस समाजवाद को एंजल और कम्युनिस्ट वैज्ञानिक-समाजवाद कहते हैं। वर्तमान युग के समाजवादी, हमने पिछले अध्याय में लिखा है, कम्युनिस्ट हैं। वे समय और परिस्थिति के अनुसार कम्युनिज़्म को कहीं-कहीं ढीला करते रहते हैं। उन्होंने प्रोलिटेरियेट के इस लक्षण को भी ढीला किया है। उनकी दृष्टि में थोड़ी-सी सम्पत्ति रखने वाला भी प्रोलिटेरियेट हो सकता है और समाजवादी हितों का भी चिन्तन करेंगे।

उदाहरण के रूप में भारत की समाजवादी सरकार ने प्रोलिटेरियेट के लक्षण में वह किसान सम्मिलित कर लिया है, जिसके पास बीस एकड़ भूमि है।

1. The Essential Left p. 14

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारा दृष्टिकोण तो सिद्धान्त रूप में ही इस प्रकार के समाजवाद का विरोधी है जो एक वर्ग के ही हितों का चिन्तन करता हो। मानव समाज अकिंचनों के अतिरिक्त भी है, जो उतने ही भले और ईमानदार हैं, जितना कोई भी सम्पत्ति-विहीन हो सकता है। हमने वर्ग-मीमांसा में बताया है कि एक प्रोफेसर, एक पुरोहित, एक दार्शनिक, एक वकील अथवा एक नेता जो समाज के लिए जीवन अर्पण तो कर रहा है, परन्तु वह किसी से अपने कार्य की उजरत लेकर अपने-आपको उसका सेवक बनाना नहीं चाहता, क्या होगा? यदि एक विद्वान, सरकार अथवा किसी से भी वेतन लेकर अपनी सम्मति और परामर्श देने में स्वतन्त्रता अनुभव नहीं करता तो क्या उसका स्वतन्त्रता से जीवन-यापन का अपना प्रबन्ध करना ठीक नहीं।

तनिक गम्भीरता से देखें तो पता चलेगा कि उक्त कथन से समाजवाद मानव समाजवाद नहीं रह जाता, यह समाज के एक अंश का वकील मात्र बन जाता है। हमारा दृढ मत है कि वे लोग जो इतने भाग्यहीन हैं कि अपने लिए मानयुक्त और स्वतन्त्र जीविका का साधन प्राप्त नहीं कर सकते, उनकी सहायता होनी चाहिये। यह सहायता सरकार करे अथवा समाज द्वारा निर्मित कुछ संस्थाएँ करें, एक पृथक् विचार है। हाँ, इनके जीवन-यापन का प्रबन्ध करना चाहिये।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि समाज के दूसरे अंगों की सर्वथा अवहेलना की जाये अथवा उनको विवश किया जाये कि वह महीने-महीने किसी सरकारी अधिकारी अथवा किसी धनीमानी का द्वार खटखटायें जिससे अगले मास में वे अपना पेट भर सकें।

एक न्यायाधीश है। सरकार उसको तीन सहस्र रुपये महीने पर उच्च न्यायालय में नियुक्त करती है। क्या एक न्यायाधीश की यह स्थिति वांछनीय है अथवा यह कि वह अपनी सम्पत्ति की आय पर रहता हुआ इस पद पर नियुक्त हो। उसको अपने जीवन-यापन के लिए न तो किसी बिड़ला तथा डालमिया के सामने हाथ पसारना पड़े और न ही किसी मुख्यमन्त्री अथवा राष्ट्रपति के पास जाना पड़े?

इस प्रकार हम एक अन्य प्रश्न पूछते हैं। एक अध्यापक है। वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीस वर्ष तक किसी विद्यालय में पढ़ाता रहा है। अब वह बूढ़ा हो गया, तो क्या उसके लिए तथा समाज के लिए यह उचित है कि वह अपनी ओल्ड-एज पेन्शन प्रतिमास सरकारी खजाने के बाहर पंक्ति बाँध, अपने जीवित होने का सर्टिफिकेट दिखाकर प्राप्त करे ? अथवा अपने जीवन में मकान बना, उसके भाड़े से अपनी वृद्धावस्था में निर्वाह करने की सुविधा प्राप्त कर ले ?

हम तो समझते हैं कि कम्युनिस्ट जड़मति हैं। वे अपने अतिरिक्त किसी दूसरे की मनोभावना और आवश्यकताओं को समझते ही नहीं। समाजवादी इस प्रकार की विषमताओं को देख उस शिकंजे को जो कम्युनिस्टों ने निर्माण किया है कुछ ढीला कर देते हैं। इस पर भी हमारा यही कहना है कि समाज में जब तक 'फ्री इकॉनॉमी' (स्वतन्त्रता से धनोपार्जन) का विधान नहीं होगा, तब तक किसी प्रकार से सुख-सुविधा की उपलब्धि नहीं हो सकती। केवल एक प्रतिबन्ध इस स्वतन्त्रता पर हो सकता है। वह यह कि स्वतन्त्रता अधर्म का अवलम्बन करने वाली न हो। धर्मयुक्त स्वतन्त्रता की व्याख्या हम इस पुस्तक के अगले भाग में करेंगे। इस पर भी इतना तो बताया जा सकता है कि मूलरूप में धर्म देश तथा समाज के विधि-विधान तथा रीति-रिवाज का नाम है।

समाजवाद केवल प्रोलिटेरियेट वर्ग के लिए स्थापित हुआ है। यह उसका ही हित-चिन्तन करता है। समाज में इस वर्ग के अतिरिक्त लोग या तो इस वर्ग में आ जायेंगे अथवा उनके लिए समाज में कोई स्थान नहीं रहेगा।

प्रोलिटेरियेट वर्ग का अभिप्राय यह है कि जिसके पास आय देने वाली सम्पत्ति न हो और जो वेतनधारी हो। समाजवाद केवल इसी वर्ग के कल्याण का विचार करता है।

दूसरी बात जो समाजवादी चाहते हैं, वह है समाजवाद को लाने में राज्य का अधिकार। यह बात निर्विवाद है कि समाज में राज्य एक ऐसा संस्थान है, जो बलप्रयोग कर सकता है। राज्य किसी दूसरे को बलप्रयोग करने का अवसर नहीं देता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यही कारण है कि कम्युनिस्ट और समाजवादी राज्य पर अधिकार जमाने का अपना सिद्धान्त बना बैठे हैं। जिस समय कार्ल मार्क्स के मन में यह आया कि पूंजीवादियों को बलपूर्वक निःशेष किया जाए तो तुरन्त उसने समझ लिया कि राज्य पर अधिकार जमाये बिना बल-प्रयोग नहीं हो सकेगा। अतः श्रमिकों का राज्य पर अधिकार जमाना कार्य का एक अंश बन गया।

किसी भी संस्थान को अर्थ-व्यवस्था संचालन के लिए कहा जाये तो वह स्वाभाविक रूप से वैसे ही व्यवहार करेगी जैसे कोई पूंजीपति करता है। राज्य भी जब उद्योग और व्यापार में भाग लेता है तो इसको भी वही व्यवहार अपनाना पड़ता है जो पूंजीपति अपनाते हैं।

उदाहरण से बात स्पष्ट हो जाएगी। नई दिल्ली बसाने का उदाहरण ले सकते हैं। आसफ अली रोड पर भूमि समतल कर नीलाम की गयी तो साठ रुपये गज से सौ रुपया गज तक बोली गई और सरकारी डिवलपमेंट बोर्ड ने यह बढ़ा हुआ मूल्य स्वीकार कर लिया। उन्हीं दिनों में डी० एल० एफ-कॉलोनी में भूमि उसी प्रकार तैयार की हुई बारह से चौदह रुपये गज के भाव से दी जा रही थी। कारण स्पष्ट है कि नगर के समीप होने से आसफ अली रोड पर भूमि की माँग अधिक थी। भूमि कम थी। इस कारण कोई प्राइवेट कम्पनी यह व्यवसाय करती तो वह भी इसको अधिक दाम पर बेचती। यही सरकार ने किया था।

एक और उदाहरण लिया जा सकता है। फरीदाबाद कोलोनी में सरकार भूमि नीलाम करती है तो दाम बीस से तीस रुपये गज तक मिलता है। वही सरकार जब नई दिल्ली डिप्लोमेटिक एनक्लेव में भूमि नीलाम करती है तो भूमि डेढ़-दो सौ रुपये गज तक जाती है और सरकार दोनों स्थानों पर वही कुछ कर रही है जो एक प्राइवेट कम्पनी करती।

उद्योग में भी वही कुछ हो रहा है। चीनी की विदेश में माँग कम है इसलिये सस्ते दाम पर बिक रही है। देश के भीतर माँग उत्पादन से अधिक है। यहाँ बिक्री में भी यही कुछ हो रहा है। सरकार अर्थ-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यवस्था के नियमों से विवश होकर यह सब कुछ कर रही है।

कार्ल मार्क्स इस बात को समझता था। समाजवादी भी समझते हैं। यही कारण है कि वे उत्पादन और वितरण दोनों सरकार के हाथ में देना चाहते हैं। यह इस कारण कि व्यक्तिगत रूप में मुनाफाखोरी होगी तो सरकार को विवश होकर उसे रोकने का यत्न करना पड़ेगा। क्यों रोके? कार्ल मार्क्स को इसके आधार (धर्म) का ज्ञान नहीं था। अतः उसने कहा कि सरकार उद्योगपति बन जाये और सरकार ही व्यापार चलाये। तब किसी को आपत्ति भी होगी तो वह कुछ कर नहीं सकेगा। सरकार पर बल-प्रयोग हो नहीं सकेगा।

यह व्यवहार एक प्रकार से आँख मूंदकर बिल्ली को ओझल करने की बात है। कार्ल मार्क्स समझता था कि अर्थ-व्यवस्था के नियम ऐसे हैं कि इनमें मुनाफाखोरी होनी स्वाभाविक है। इस मुनाफाखोरी पर नियन्त्रण हो सकता है, यह बात उसकी समझ में नहीं आई। इस कारण पूर्ण उद्योग और व्यापार को उस संस्था के हाथ में देने की बात विचार ली गयी जिस पर कोई नियन्त्रण ही न हो सके।

आपत्ति करने वाले को द्रोही कहकर कन्सन्ट्रेशन कैम्प में भेजा जा सकेगा। जानकर अथवा अनजाने में समाजवादी भी यही बात कह रहे हैं।

वे राज्य के द्वारा पूंजीपतियों को निःशेष करना चाहते हैं। निःशेष करने पर उद्योग और व्यापार राज्य द्वारा चलाना चाहते हैं। राज्य भी पूंजीपतियों की भाँति व्यवहार करेगा तो कोई आपत्ति नहीं कर सकेगा।

यही कारण है कि सब पूंजीवादी देशों में मज़दूर हड़ताल कर अपनी बात मना सकते हैं। परन्तु समाजवादी देशों में हड़ताल हो सकती ही नहीं। हड़ताल अथवा अधिकारियों के व्यवहार पर आपत्ति करने वाले को जेलखाने अथवा कन्सन्ट्रेशन कैम्पों में भेज दिया जाता है।

वास्तव में पूंजीपतियों के मुनाफाखोरी के स्वभाव और विवशता पर प्रतिबन्ध होना चाहिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि पूँजीपतियों को ही समाप्त क्यों न कर दिया जाये ? अर्थात् मनुष्य में पूँजी से लाभ उठाने की भावना को ही क्यों न निःशेष कर दिया जाए ?

इसको करने के लिए समाजवादी प्रशिक्षण (indoctrination) एक उपाय मानते हैं। यह पूर्णतः सफल नहीं हो सकता। मनुष्यों में अपने पूर्व कर्मफल से तीन प्रकार के स्वभाव वाले प्राणी उत्पन्न होते हैं। प्राप्त करने का स्वभाव राजसी है। इस स्वभाव के मनुष्यों का प्रादुर्भाव होता रहता है। बलपूर्वक, यह दिखा कर तथा समझा कर किसी राजसी स्वभाव को सर्वथा त्यागमय जीवन व्यतीत करने के लिए तैयार किया जा सकता है। जब तक यह बल का दवाव और भय बना रहता है अथवा जब तक प्रेरणा जारी रहती है, राजसी स्वभाव दबा रहता है और विवशता के कारण वह त्याग की भावना से काम करता रहता है। कभी-कभी तो मनुष्य जीवन-पर्यन्त भी विवशता के कारण त्याग की भावना को अपनाता है, परन्तु नये उत्पन्न होने वाले शिशु पुनः तीनों स्वभावों वाले होते हैं।

ज्योंही दबाव ढीला पड़ा अथवा मनुष्य उस दबाव का प्रतिरोध करने में सामर्थ्यवान हुआ, वह पुनः अपने जन्म के राजसी स्वभाव में रत हो जाएगा।

यही बात तामसी स्वभाव वालों की है। तामसी स्वभाव वाले भी दबाव के अधीन ठीक किये जाते हैं, परन्तु अवसर मिलते ही वे पुनः अपने स्वभाव के अनुकूल कर्म करने लगते हैं।

समाजवादी पूर्ण मानव समाज को एक ही शिकंजे में रखकर उनको एक ही स्वभाव का बनाकर रखना चाहते हैं। यह असम्भव है।

भारतीय विचारधारा तो यह है कि समाज में तीनों प्रकार के—सात्विक, राजसी और तामसी स्वभाव के—लोग उत्पन्न होते रहते हैं। समाज के शिक्षकगण राजसी और तामसी स्वभावों को सात्विक स्वभाव की ओर मोड़ देते रहते हैं। उनकी शिक्षा से यह तो होता है कि इस जन्म में उत्पन्न होने वाले राजसी तथा तामसी स्वभावों में वृद्धि न हो, वे कुछ न्यून हो जाएँ अथवा उनकी तेज़ी कम हो जाये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस पर भी समाज में व्यवस्था रखने वाले मनुष्य यह मानकर ही व्यवस्था बनाते हैं कि राजसी और तामसी स्वभाव न्यूनाधिक उपस्थित हैं। उनको यह मानकर ही चलना होता है कि ये स्वभाव निःशेष नहीं किये जा सकते। अतः वे इन स्वभावों से समाज-कल्याण के ढंग निकालते रहते हैं।

एक उदाहरण दें तो बात स्पष्ट हो जायेगी। कुछ लोग जन्म से ही चोरी का स्वभाव लेकर उत्पन्न होते हैं। यह चोरी का स्वभाव उत्पन्न होता है तामसी स्वभाव से। राजसी स्वभाव में मेरा और तेरा आता है। यह मेरी वस्तु है और यह मेरी वस्तु नहीं है। ऐसी भावना राजसी स्वभाव वालों की है। जब इस भावना के साथ कामनाएँ प्रबल हो जाती हैं तो तामसी स्वभाव का प्रादुर्भाव होता है। और मनुष्य चोरी करने अथवा डाका डालने लगता है। शिक्षक वर्ग बच्चे के मन में कामनाओं को नियंत्रण में रखने की प्रेरणा देते रहते हैं। यदि इससे कामनाएँ इतनी कम हो जाएँ कि उनकी पूर्ति मनुष्य की सामर्थ्य में आ जाए तो तामसी प्रवृत्ति प्रबल नहीं होती। तब शुद्ध राजसी स्वभाव ही काम करता है। जन्म से तामसी स्वभाव वाले मनुष्य, इस संसार में दूषित शिक्षा के कारण बढ़ी कामनाओं वाले राजसी स्वभाव वालों के साथ मिलकर चोरी, डाका, बलात्कार, झूठ, ठगी आदि सब प्रकार के दुर्गुणों को धारण कर लेते हैं।

मानवसमाजने ऐसे स्वभाव और विशेष रूप से चोरी के स्वभाव को निःशेष करने के लिये प्रेरणा देनी तो सृष्टि के आदिकाल से आरम्भ की हुई है, परन्तु लाखों करोड़ों वर्ष व्यतीत होने पर भी चोर निःशेष नहीं हुए। विवश होकर समाज को, अभिप्राय यह है कि राज्य को, जेलखाने बनाने पड़े हैं जिनमें चोरों को बन्द कर सकें, जिससे वे भले लोगों की अर्जित सम्पत्ति चुरा न लें। कहने का अभिप्रायः यह है कि लाखों वर्ष की प्रेरणा और राजदण्ड तथा ईश्वर के दण्ड का भय भी चोरों को निःशेष नहीं कर सका।

यही बात समाजवादियों को समझ लेनी चाहिए। दो-तीन सन्त-तियों (generations) का तो कहना ही क्या, लाखों वर्षों के प्रयास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर भी मनुष्य की प्रवृत्तियां बदली नहीं जा सकेंगी।

होना यह चाहिए कि इन पर नियन्त्रण रखा जाये और इनको ऐसा मोड़ दिया जाये कि ये प्रवृतियाँ काम करती हुई समाज के हित में काम करने लगें।

समाजवादी चाहते हैं कि उद्योग और व्यापार राज्य के अधीन हों। राज्य प्रजा का प्रतिनिधि होने से प्रजा के अहित की बात नहीं कर सकता। यह बात इस कारण मिथ्या है कि राज्य रजोगुणयुक्त लोगों के हाथ में जायेगा ही। वे जन्म से राजा हों अथवा मतदान द्वारा चुने जाने से हों। राज्य वही लोग कर सकते हैं जो मेरे और तेरे का स्वभाव रखते हैं। यह स्वभाव रजोगुण मूलक है। भगवद्गीता में राजसी गुणों (स्वभाव) वाले मनुष्य का वर्णन इस प्रकार किया है—

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्ष शोकान्वितः कर्त्ता राजसः हरिकीर्तितः॥[1]

जो मनुष्य आसक्ति से युक्त कर्मों के फल को चाहने वाला और जो लोभी, हिंसा का स्वभाव रखें और जो अपवित्र हैं, जो हर्ष शोक में लिप्त रहता है वह कर्त्ता राजसी कहलाता है। इन गुणों वाला ही राज्य जैसे कार्य को सफलतापूर्वक चलाता है। व्यक्ति से राज्य में अन्तर इतना अवश्य पड जाता है कि वह आसक्ति राष्ट्र के करने वाला हो जाता है। उसको फलों की इच्छा राष्ट्र के लिए हो जाती है। इसी प्रकार उसका लोभ, हिंसा, अशुद्धि इत्यादि कर्म भी राज्य, देश और राष्ट्र के लिये होते हैं। इस पर भी यह होता है कि जब राजा में राष्ट्र के प्रति ऐसी भावना नहीं रहती तो वह सफल राजा नहीं रह सकता।

राजसी पुरुष का ज्ञान भी राजसी होता है। इस विषय में भी यह लिखा है—

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं निभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥[2]

१. भ० गी० १८-२७; २. भ० गी० १८-२१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिप्राय है कि जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियों को पृथक्-पृथक् कर देखता है, वह ज्ञान राजसी है।

इसी प्रकार राजसी कर्म के भी लक्षण किये हैं—

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥[१]

जो कर्म परिश्रम मांगता हो, जिसे फल-प्राप्ति की इच्छा से किया जाये, जिसके करने से अधिकार की भावना उत्पन्न हो, वह कार्य राजसी कहलाता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि एक सफल राजा अथवा राज्याधिकारी इस प्रकार के काम करने वाला होगा। सात्विक वृत्ति के लोग श्री लालबहादुर शास्त्री की भाँति ठगे जाते हैं। उनको दम्भी और हठी आदमी दबाकर अपना काम निकाल लेते हैं। ये लोग राज्य करने के योग्य नहीं हो सकते।

अब तनिक विचार करें कि इस प्रकार के राजसी गुण वालों के हाथ में उद्योग और व्यापार जाने से क्या होगा? एक सफल राजा, रजोगुण से ओत-प्रोत होकर उद्योग-धन्धों में अनर्थ करने वाला होगा। यदि इसका उदाहरण इस युग में किसी राज्याधिकारी में देखना है तो पंजाब के मुख्य मंत्री श्री प्रतापसिंह कैरों को देखा जा सकता है। वह बहुत अच्छा शासक था, परन्तु समाजवादी सरकार ने उसको उद्योग और व्यापार पर भी अधिकार दे दिया। परिणाम सम्मुख है। अधिक व्याख्या की आवश्यकता नहीं।

यदि कहीं राज्य, उद्योग और व्यापार पर नियन्त्रण पा जाये, फिर उसकी कामनाएं भी बढ़ जायें तो परिणाम वही होगा जो एडॉल्फ हिटलर का जर्मनी और योरुप में हुआ।

जर्मनी में हिटलर और पंजाब में स० प्रतापसिंह कैरों इस स्थिति का बहुत भलीभाँति दिग्दर्शन कराते हैं। दोनों प्रबल रजोगुण सम्पन्न थे। दोनों ने वैश्य-वृत्ति पर आधिपत्य जमा लिया था। परिणाम यह हुआ कि जर्मनी के भी और पंजाब के भी भले लोग 'त्राहिमाम्-

१. भ० गी० १८-२४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्राहिमाम्' करने लगे थे।

उद्योग और व्यवस्था में अधिक और अधिक धनवान बनने का प्रलोभन रहता है। इस पर नियंत्रण चाहिए। यदि समाज में नियंत्रण करने वाली संस्था ही व्यापार इत्यादि करने लगेगी तो नियंत्रण कौन करेगा ?

विशेष रूप में जब राज्य एक वर्ग विशेष के हितचिन्तन करने वाला हो।

अतः यह दूसरी बात भी सोशलिज़्म की न केवल अव्यावहारिक है प्रत्युत हानिकर भी है। यह हानिकर है समाज के लिए, समाज के घटकों के लिए और शासक के अपने लिए भी।

राज्य धर्म-व्यवस्था का निरीक्षक, निर्णायक और नियंत्रक ही होना चाहिये। यह स्वयं उद्योग-व्यवस्था में भाग लेने लगा तो प्रजा सुखी नहीं रह सकती। नियंत्रित और नियंत्रक एक ही व्यक्ति अथवा संस्था नहीं हो सकती।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीय अध्याय

राज्य का समाजवादी रूप

समाजवादी और कम्युनिस्ट केवल यही नही कहते कि उत्पादन और वितरण राज्य के हाथ में हो जाय प्रत्युत यह भी कहते हैं कि राज्य कैसा हो। इस विषय में हम एंजल तथा लेनिन के विचार बताना चाहते हैं। वास्तव में ये दोनों कम्युनिस्टों के देवता हैं। इन दोनों के लेखों के प्रमाण कम्युनिस्ट क्षेत्रों में इस तरह दिये जाते हैं जैसे हिन्दुओं में वेद और पुराणों के दिये जाते हैं। लेनिन और स्टालिन भी मार्क्स और उसके साथी एंजल के आधार पर ही अपना राज्य चलाते रहे हैं।

लेनिन के विषय में यदि कहा जाये कि जिन विचारों के लिए कार्ल मार्क्स लिखते तथा बोलते रहे, उन्हीं के आधार पर और उन्हीं का नाम ले-लेकर उसने राज्य स्थापित किया था।

लेलिन ने एक पुस्तिका "The State and Revolution" लिखी थी। यह पुस्तक अंग्रेजी में प्रथम बार सन् १६१६ में छपी। इस पुस्तिका में लेनिन लिखता है :

The incredible miseries and horrors of the protracted war are making the position of the masses unbearable and increasing their indignation.[1]

यह प्रथम जर्मन युद्ध के उपरान्त था। लेनिन लिखता है—

लम्बे युद्ध के कारण अचिन्तनीय मुसीबत और भयानकता सर्व-

1. The Essential Left, p. 149.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधारण की अवस्था को असह्य बना रही है और उनके क्रोध को बढ़ा रही है।

यह स्पष्ट है कि विश्व के सम्पत्ति-विहीनों की क्रान्ति तैयार हो रही है। प्रत्येक क्रान्तिकारी आशावादी होता है। कार्ल मार्क्स और उसके अनुयायी तो आशा से भी अधिक कल्पना करते रहे हैं। लेनिन को १९१७ में जर्मन एम्परर कैसर ने बहुत-सा सोना देकर तथा एक बन्द रेलगाड़ी के डिब्बे में चढ़ाकर सैनिकों में बगावत फैलाने के लिए मास्को भेज दिया था। उसने भूखे-नंगे सैनिकों और किसानों को झूठी आशाएँ बंधाकर भड़का दिया और रूसी-सरकार का तख्ता उलट दिया। इस पर भी विदेशियों से धन लेकर अपने देश में क्रान्ति उत्पन्न करने वाले इस व्यक्ति ने एक करोड़ से ऊपर लोगों की हत्या कराने के उपरान्त भी लोगों की मुसीबतों को मिटाने में सफलता प्राप्त नहीं की।

जिन देशों ने युद्ध लड़ा था और लेनिन तथा मार्क्स ने समाजवाद को नहीं अपनाया, वे तो चार-पाँच वर्ष में अपनी अवस्था सुधारने में सफल हो गये थे। और रूस भी युद्ध में सम्मिलित हुआ था। यहाँ भी युद्ध के कारण सर्वसाधारण कठिनाई में थे, परन्तु यहाँ लेनिन जैसे 'बुद्धि के धनी' कर्त्ता-धर्त्ता बन गये और ऐसी व्यवस्था बना गये कि ४८ वर्ष बीत जाने के बाद भी लोगों के लिए पर्याप्त जूते नहीं, कमीजें और कपड़ा नहीं। अभी तक खाने का राशन है। पब्लिक-रैस्टोरां में रोटी के लिए लम्बी कतारें लगती हैं। बड़े-बड़े अफसर विदेशियों से उनके पहने हुए जूते और कपड़े माँगते रहते हैं।

केवल आशावादी होना पर्याप्त नहीं। आशा के साथ बुद्धियुक्त व्यवहार भी होना चाहिये। वहाँ दोष यह है कि जहाँ समाजवाद है वहाँ सरकार (राज्य) को ही सबकी सब आवश्यकताओं को पूर्ण करना है।

लोग मानेंगे नहीं, परन्तु यह सत्य है कि मास्को में क्रेमलीन से कुछ ही अन्तर पर, अभी तक स्लम्ज़ (गन्दी बस्तियाँ) हैं। देहातों की तो बात ही छोड़ दें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये लोग कहते थे कि राज्य उत्पादन और वितरण स्वयं करेगा तो पूँजीपति का लाभ वस्तुओं के प्रयोग करने वालों को मिलेगा, जिससे उनको वस्तुएँ सस्ते दामों पर मिलेंगी।

वस्तुस्थिति यह है कि वहाँ वस्तुएँ सस्ती नहीं। राशन पर मिलने वाली वस्तुएँ तो कुछ उचित दाम पर मिलती हैं परन्तु अन्य वस्तुएँ इतनी महंगी हैं कि वे साधारण व्यक्ति के बस की नहीं हैं। इसके अतिरिक्त बढ़िया सुन्दर माल तो किसी भी दाम पर नहीं मिलता।

यह कैसे हो गया ? इस विषय पर हम अगले अध्याय में बतायेंगे। यहाँ तो हम बताना चाहते हैं कि समाजवादी (कम्युनिस्ट) कैसा राज्य चाहते हैं।

कार्ल मार्क्स ने न तो यह लिखा है कि समाजवादी समाज में अच्छी व्यवस्था कैसे चलाई जायेगी, न ही कार्ल मार्क्स ने यह बताया है कि वह राज्य का उत्पादन और वितरण करने का उत्तरदायित्व अपने सिर पर कैसे लेगा ? कार्ल मार्क्स के राज्य के विषय में विचार लेनिन की पुस्तिका में इस प्रकार लिखे हैं—

According to Marx, the State is the organ of class domination, the organ of oppression of one class by another. Its aim is the creation of order which legalizes and perpetuates this oppression by moderating the collisions between the classes. But in the opinion of the lower middle class politicians, the establishment or order is equivalent to the reconciliation of classes, and not to the oppression of one class by another.[1]

(मार्क्स के अनुसार राज्य एक सत्ताशील वर्ग की संस्था है। यह संस्था है एक वर्ग का दूसरे वर्ग के उत्पीड़न करने के लिये। राज्य का उद्देश्य ऐसी व्यवस्था स्थापित करना है जो इस उत्पीड़न को कानूनी रंग देकर स्थायी बनाता है। यह उत्पीड़न को स्थायी बनाता है वर्गों के भीतर संघर्ष को नरम करके। निम्न-मध्यम श्रेणी की सम्मति में

1. Ibid. p. 15.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यवस्था स्थापित करने का अभिप्राय ही यह है कि वर्गों में समझौता कराया जाये न कि एक वर्ग को दूसरे वर्ग से दबाया जाये।

राज्य की यह व्याख्या किसी बिगड़े मस्तिष्क का आविष्कार है। यह तो कहा जा सकता है कि अमुक प्रकार की राज्य व्यवस्था धोखा है, अत्याचार है, एक वर्ग का उत्पीड़न करने वाली है, इत्यादि। परन्तु राज्य व्यवस्था को ही खराब समझना तो पागलपन के लक्षण प्रतीत होते हैं।

राज्य का यह अर्थ नहीं। न ही राज्य की स्थापना इस नीयत से की गई थी। हमने पुस्तक के प्रथम भाग में बताया है कि राज्य का भले परन्तु दुर्बल मानवों की दुष्ट शक्तिशालियों से रक्षा के लिए निर्माण हुआ था। प्रायः राज्य न्यूनाधिक अपने कर्तव्य का पालन भी करते हैं। कुछ राज्य ऐसे भी हैं जो कई कारणों से अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करते अथवा नहीं कर सकते, परन्तु उक्त प्रकार का व्यापक लांछन तो सर्वथा अनभिज्ञता प्रकट करता है।

कुछ भी हो। यदि राज्य एक वर्ग के उत्पीड़न के लिए एक संस्था है तो इसको हटाकर क्या किया जाए? यह प्रश्न है। यदि इस व्यवस्था से संपत्ति-धारियों से संपत्ति-विहीनों की कुछ भी रक्षा होती है तो अराजकता में शक्तिशालियों के संगठन बनकर दुर्बलों का उत्पीड़न आरम्भ कर देंगे। तदनन्तर ये शक्तिशाली ही सम्पत्तिधारी बन जायेंगे। इस प्रकार यह प्रक्रिया चलती जायेगी। इसका अन्त कहाँ और कैसे होगा यह मार्क्स नहीं बता सका।

मार्क्स ने तो एक अन्य वाग्जाल फैलाया है। वह कहता है कि राज्य भिन्न-भिन्न वर्गों में विरोध मिटाने के लिये और उनका विरोध कम करने के लिए बनाया गया है। साथ ही वह यह कहता है कि भिन्न-भिन्न वर्गों में संघर्ष कम करने का उपाय उत्पीड़न को नरम करना मात्र है। उत्पीड़न समाप्त करना नहीं।

इससे यह स्पष्ट है कि कार्ल मार्क्स के मस्तिष्क पर पक्षपात का भूत सवार था। इसी कारण वह संघर्ष को कम करने को कुछ काम ही नहीं समझता। उत्पीड़न को कम करना भी उसकी दृष्टि में कुछ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिक उपयोगी नहीं। वह तो यह चाहता था कि इस जगत् की समस्या सब वर्गों को निःशेष कर केवल मात्र एक वर्ग रखने से ही सुलझेगी।

लेनिन ने ऐसा करने का यत्न किया था। उसने पहले ज़मींदारों और कारखानेदारों का सफाया किया। इसके उपरांत व्यापारियों और दुकानदारों का। इस पर भी सन्तोष न कर उसने छोटे-छोटे भूमि-पति किसानों की ज़मीनें छीननी आरम्भ कर दीं। पहले सहयोगी संस्थाएँ बना उनको उनमें सम्मिलित होने के लिए कहा। पीछे बड़े-बड़े फार्म बनने के लिए किसानों को देहात छोड़ नगरों में जा नौकरी करने के लिए कहा। इस सब-कुछ करने में यह अनुमान है कि एक करोड़ से ऊपर लोगों को मौत के घाट उतारा गया। लाखों को कन्सं-ट्रेशन कैम्पों में मरने के लिए भेजा गया और अनेकों को जेलखानों में बन्द कर दिया गया।

इस पर भी मार्क्स के सिद्धांत नहीं चल सके। लेकिन आगे क्या करता, कहना कठिन है। वह इतना कुछ करते-करते मर गया। इसके उत्तराधिकारी स्टालिन ने उसके कार्य को आगे चलाना चाहा। इस पर कम्युनिस्टों में मतभेद उठ खड़ा हुआ और तीन वर्ग बन गए। एक ट्रॉटस्की के साथियों का, दूसरे स्टालिन के साथियों का और तीसरे प्रजा थी, जो पिस रही थी। ट्रॉटस्की चाहता था कि लेनिन की नीति दृढ़तापूर्वक चलाई जाये। प्रजा चाहती थी कि अत्याचार और हत्याएँ बन्द की जायें और स्टालिन मध्यवर्गीय मार्ग पर चलना चाहता था। शक्ति स्टालिन के हाथ आ गई और उसने अन्य दोनों वर्गों को मौत के घाट उतारना आरम्भ कर दिया। ट्रॉटस्की देश छोड़ भाग गया, परन्तु उसके बहुत से साथी पकड़कर मौत के घाट उतार दिये गए। ट्रॉटस्की के पीछे स्टालिन के छोड़े हुए हत्यारे मेक्सिको में उसकी हत्या करने में सफल हो गये। प्रजा के साथ भी वैसा ही व्यवहार किया गया, परन्तु कभी नरम कभी गरम। जेलखाने, हत्याएँ और कन्सन्ट्रेशन कैम्प चलते रहे। यह स्टालिन के मरने के उपरांत भी एक सीमा तक चले।

पक्षपाती कार्ल मार्क्स के सिद्धांतों को कार्यान्वित करने में लेनिन और स्टालिन ने प्रयत्न किया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय परम्परा बताती है कि जब कामनाओं से प्रेरित लोग उचित-अनुचित, धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय में भेद करना छोड़ देते हैं, तब राज्य इन आसुरी प्रवृत्ति वालों को सन्मार्ग दिखाने के लिए तथा उत्पीड़ितों की रक्षा करने के लिए कार्य करता है।

मनुष्य के सब कार्यों की भाँति राज्य भी सर्वथा श्रेष्ठ और निर्दोष नहीं होता। इस कारण इसमें दोष आते रहते हैं। यही बात मनुष्य की प्रत्येक योजना में होती रहती है। इस कारण भले मनुष्यों को सदा सतर्क और जागरूक रहना चाहिए।

एंजल अपनी पुस्तक "The Origin of the Family, Private Property, and the State" में राज्य के निर्माण के विषय में लिखता है—

The State is in no way constitutes a force imposed on Society from outside. Nor is the State, 'the reality of the moral ideas', 'the image and reality of "Reason", as Hegel asserted. The State is the product of Society at a certain stage of its development. The state is tantamount to an acknowledgement that the given society has become entagled in an insoluble contradiction with itself, that it has broken up into irreconci lable antagonisms, of which it is powerless to rid itself.[1]

(राज्य किसी प्रकार से भी ऐसी शक्ति नहीं जिसे किसी ने (परमात्मा ने) बाहर से समाज पर थोपा हो, न ही राज्य नैतिक विचारों का रूप है, न ही यह सत्य युक्ति की प्रतिलिपि होता है। राज्य निर्माण समाज से हुआ है और इस बात को स्वीकार करने के तुल्य है कि समाज विकास के एक स्तर पर अपने विरोधों में फंस गया था और विरोधों का समाधान नहीं कर सका। समाज न सुलझा सकने वाले विरोधों में विभक्त हो गया और यह अपने को निस्सहाय पाने लगा था।

1. Ibid. p. 152.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आगे चलकर एंजिल लिखते हैं कि—

And in order that these antagonisms, these classes with their opposing economic interests may not devour one another and society itself in their sterile struggle. Some force standing, seemingly above Society, becomes necessary so as to moderate the force of their collisions and to keep them within the bounds of 'order'......this force is State.[1]

(इस कारण कि वर्ग जो परस्पर विरोधी आर्थिक हितों के कारण बन गये थे, विरोध में एक-दूसरे को विनष्ट न कर दें और समाज को ही समाप्त न कर दें। एक स्थायी शक्ति, प्रत्यक्ष में समाज से ऊपर आवश्यक हो गई, जिससे विरोध नरम हो जाये और वे विरोध सीमा के भीतर रखे जा सकें।)

एंजिल के उक्त वक्तव्य सच्चाई और विकृत विचारों के यिचित्र मिश्रण हैं। यह तो ठीक है कि मानव-समाज में विरोध उत्पन्न हुआ। परन्तु यह विरोध क्यों उत्पन्न हुआ ? इसी में ही पूर्ण विकृति का प्रदर्शन किया गया। एंजिल कहते हैं कि आर्थिक हितों में विरोध उत्पन्न हुआ। इसका अर्थ है कि कोई ऐसा समय था जब विरोध नहीं था। यह विरोध पैदा हुआ। यह विरोध आर्थिक हितों का था अथवा किसी अन्य कारण से था, यह प्रश्न पृथक् है। प्रश्न तो यह है कि विरोध नहीं था और पैदा हुआ, तो क्यों हुआ ?

इस प्रश्न का उत्तर योरोपियन दार्शनिक नहीं दे सकते। कारण यह कि उनका इतिहास का ज्ञान केवल मात्र हजरत ईसा और बाइबल से आरम्भ होता है। इस ज्ञान का अर्थ लगाने के लिए उनमें प्रतिभा भी नहीं थी। कारण यह कि वे मानव की उत्पत्ति का आधार नहीं जानते थे।

इस विषय में भारतीय परम्परा ही उत्तर प्रदान करती है। उत्तर यह कि आदि युग में राज्य व्यवस्था नहीं थी, न ही इसकी आवश्यकता

1. Ibid.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थी, प्रथम मानव-सृष्टि पशु से नहीं, वरन् परमात्मा से उत्पन्न हुई थी। परमात्मा का ज्ञान ऋषियों के द्वारा उस काल की सृष्टि को उपलब्ध था।

हमने प्रथम भाग में, कर्म के अध्याय में इसकी व्याख्या की है। मनुष्य में कामनाएं उसकी सामर्थ्य से अधिक बनीं तो वह दूसरों की अर्जित सम्पत्ति छीनने लगा। ये लोग असुर थे। इनको मर्यादा के, अन्दर रखने के लिए राज्य की व्यवस्था बनी।

असुरों का कोई वर्ग नहीं। ये भले मनुष्यों में कैसे पैदा होते हैं, हमने ऊपर लिख दिया है। पूर्व जन्म के कर्मों से अथवा कामनाओं के सामर्थ्य से अधिक बढ़ जाने के कारण मनुष्य अधर्माचरण करने लगता है। इसी कारण भले लोगों ने अपनी रक्षा करने के लिए राज्य रूपी संगठन बनाया था।

राज्य न तो किसी के उत्पीड़न के लिए बना, न ही सम्पत्ति-धारी और सम्पत्ति-विहीनों में भेद-भाव करने के लिये बना था। यह तो दुष्टों से भले लोगों की रक्षा के लिए बना था।

हम यह मानने के लिए तैयार नहीं कि सब सम्पत्ति-विहीन भले लोग ही हैं और सब सम्पत्ति रखने वाले दुष्ट ही होते हैं।

राग की सीमा है कर्म (परिश्रम) करने की सामर्थ्य। मान लीजिए एक व्यक्ति दस रुपये नित्य अर्जन करता है। यदि वह अपनी कामनाएँ इतनी बढ़ा ले कि वे दस रुपये में प्राप्त नहीं होती हों और उनको पूरा करने के लिए दूसरों का अर्जित धन छीनने लगे तो वह असुर कहायेगा। उसने राग को सीमा से अधिक उत्पन्न कर दुष्टता का मार्ग स्वीकार किया है। राज्य उस व्यक्ति को सीधा करने के लिए बना है।

उसे ठीक करने के कई उपाय और स्तर हैं। पहले समझाना, फिर ताड़ना देना, तदनन्तर प्रलोभन देकर ठीक करना। न माने तो दण्ड देना। इसको नीतिशास्त्र ने साम, दाम, दण्ड, भेद का नाम दिया है। प्रथम चार उपाय सफल न हों तो उसकी हत्या करना क्षम्य माना गया है।

इन भिन्न-भिन्न उपायों को एंजल मूर्खों की भाँति (Moderating)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नष्ट करना कहता है। इस बात से स्पष्ट प्रतीत होता है कि न तो एंजल और न मार्क्स नीतिवान व्यक्ति थे। वे समझते थे कि जो लोग संपत्ति रखते हैं, वे सब अन्यायी, आततायी और शोषक होते हैं। अतः राज्य उनको निःशेष क्यों नहीं कर देता ?

यह निश्चित है कि यदि सारे चोर मार डाले जायें, तो भी सब कालों के लिए चोर पैदा होने बन्द नहीं हो जायेंगे। समय व्यतीत होने पर चोर पुनः पैदा हो जायेंगे। यह कामनाओं को सामर्थ्य से अधिक बना लेने से होता है।

अतः भारतीय विचार ठीक है कि बिगड़ों को सुधारने के पांच दर्जे हैं। नष्ट करना तो अन्तिम उपाय है। सब राज्य यही करते हैं।

हम अभी तक कम्युनिस्टों के विचार, राज्य के विषय में बताते आये हैं। लेनिन ने अपने गुरु मार्क्स और एंजल की प्रशंसा तो बहुत की है परन्तु स्वयं उसने राज्य द्वारा प्रथम सम्पत्तिधारी श्रेणी को निःशेष किया। फिर स्टालिन ने नई प्रकार की राज्य व्यवस्था स्थापित की। उसने एक विधान बनाया और लगभग उसके अनुसार राज्य व्यवस्था चलाई। परन्तु वांछित फल नहीं निकला। क्यों नहीं निकला? यह हम अपने अगले अध्याय में लिखेंगे। यहाँ हम स्टालिन से बनाये संविधान के अनुसार राज्य-व्यवस्था का चित्र लिखना चाहते हैं।

सन् १९६१ में पूर्ण रूस में लगभग २२ करोड़ लोग बसे हुए थे। उस समय पूर्ण रूस में ३,६०,००० ग्राम कमेटियाँ थीं, जिनको सोविएट कहते हैं। इन तीन लाख साठ हजार कमेटियों में लगभग ८८ लाख सदस्य थे। यह रूस की पूर्ण जनसंख्या की ४ प्रतिशत हैं। रूस का पूर्ण राज्य-संचालन इन कमेटियों के प्रतिनिधि करते हैं। शेष इक्कीस करोड़ जनता को राज्य-संचालन का कोई अधिकार नहीं; न केवल उनको अधिकार नहीं, वरंच उनके लिए सरकारी मार्मिक स्थानों पर नियुक्ति भी सम्भव नहीं। ये लोग प्रायः ऐसे छोटे-मोटे कामों पर लगाए जाते हैं जिन कामों से देश का प्रबन्ध तथा सुरक्षा पृथक् होती है। उन प्रमुख स्थानों पर सोविएट के सदस्यों के अतिरिक्त किसी को नहीं रखा जा सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन सोविएट में कौन सदस्य बन सकता है ? इसका निर्णय सोविएट का मंत्री करता है। मन्त्री का पद निर्वाचित नहीं होता अपितु उसकी नियुक्ति जिला अथवा नगर की कमेटी का सेक्रेटरी करता है।

हमने ऊपर बताया है कि ग्राम, मुहल्ला तथा फैक्टरी की कमेटी को सोविएट अथवा सैल कहते हैं। पूर्ण रूस में तीन लाख साठ हज़ार सैल हैं। एक नगर अथवा जिले में इन सैलों के प्रतिनिधि बैठते हैं। उनकी कमेटियों को जिला अथवा नगर कॉन्फ्रेंस कहा जाता है। पूर्ण रूस में ५,३०० जिला कॉन्फ्रेंस हैं। प्रत्येक कॉन्फ्रेंस एक प्रबन्धक कमेटी का चुनाव करती है। यह जिला अथवा नगर कमेटी चुनती है और नगर कमेटी के सैक्रेटरी की नियुक्ति प्रान्त का सैक्रेटरी करता है।

इस प्रकार प्रान्त का मन्त्री नगरों के मन्त्री नियुक्त करता है और नगरों के मंत्री सैलों के मंत्रियों की नियुक्ति करते हैं।

इस प्रकार एक प्रान्त में, जिले की कॉन्फ्रेंस प्रान्तीय कॉन्फ्रेंस का चुनाव करती हैं। ये प्रांत की कॉन्फ्रेंस भी अपनी-अपनी कार्यकारिणी कमेटियाँ बनाती हैं जिनके मन्त्री की नियुक्ति रिपब्लिक (राज्य) के मन्त्री के द्वारा होती है। प्रान्तीय कॉन्फ्रेंस की संख्या १०५ है।

प्रान्तीय कॉन्फ्रेंस अपने राज्य की कॉन्फ्रेंस का निर्वाचन करती हैं जो राज्य की प्रबन्धक कमेटी बनाती है और इसका मंत्री पूर्ण रूस में संयुक्त राज्य का मन्त्रालय नियुक्त करता है। पूर्ण रूस में १४ राज्य हैं।

राज्यों की कॉन्फ्रेंस में संयुक्त राज्य की कॉन्फ्रेंस का निर्वाचन होता है और यह कॉन्फ्रेंस एक केन्द्रीय कमेटी बनाती है जिसका मंत्रालय संयुक्त राज्य का मुख्य मन्त्री नियुक्त करता है। केन्द्रीय कमेटी में लगभग १३० सदस्य होते हैं।

संयुक्त राज्य की केन्द्रीय कमेटी एक मंत्री-मंडल निर्वाचित करती है। इस मंत्री-मंडल को प्रेज़िडियम कहते हैं। इसमें संख्या न्यूनाधिक होती रहती है। ६ से २५ तक इसके सदस्य हो सकते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केन्द्रीय कमेटी ही मुख्य मंत्री का निर्वाचन करती है। केन्द्रीय कमेटी जहाँ नीति का निर्णय करती है, वहां अपने मंत्रालय द्वारा पूर्ण देश का प्रबन्ध करती है। इस कमेटी में भिन्न विभाग होते हैं। वे देश के भिन्न-भिन्न कार्यों का प्रबन्ध करते हैं।

इस कमेटी के मुख्य विभाग हैं सेना, बड़े उद्योग, छोटे उद्योग, विदेश नीति, कला, साहित्य, प्रचार, उन्नति अथवा पदच्युत करना अथवा नेताओं को बदलना इत्यादि।

यह कमेटी ही मुख्य मन्त्री नियुक्त करती है और मुख्यमंत्री ही मंत्रालय नियुक्त करता है। केन्द्रीय मन्त्रालय, राज्यों के मंत्री नियुक्त करते हैं, राज्यों के मंत्री प्रान्तों के मंत्री, प्रान्तों के जिला अथवा नगरों के और ये प्रारम्भिक सैलों के मंत्री नियुक्त करते हैं।

मंत्री का यह कार्य होता है कि वह सैल अथवा कॉन्फ्रेंसों में अनिच्छित सदस्यों को निकाले अथवा इच्छित को रखे।

वह ढाँचा है रूस के राज्य का। वास्तव में जब एक बार कोई मुख्य मंत्री बन जाता है तो वह मंत्रालय अपनी रुचि का निर्माण करता है। मंत्रालय सब स्तरों पर मंत्री नियुक्त करता है और मंत्री ही पूर्ण देश को अपने अंगूठे तले रख सकते हैं।

यह है रहस्य प्रोलिटेरिएट की तानाशाही का। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाये तो यह प्रोलिटेरिएट की तानाशाही नहीं वरंच यह मुख्य मंत्री की तानाशाही है। मुख्यमंत्री मंत्रालय अपनी रुचि का नियुक्त करता है और ये मंत्रीगण न केवल केन्द्रीय कमेटी को नियंत्रण में रखते हैं, वरं राज्यों, प्रान्तों, जिलों और प्रारम्भिक सोविएट (सैलों) के मंत्रियों द्वारा पूर्ण देश के सोविएटों को नियंत्रण में रखते हैं।

सेना तथा पुलिस में भरती सोविएटों के सदस्यों में से और उनके मंत्रियों की सिफारिश पर होती है। इस प्रकार पूर्ण सेना मुख्य मंत्री के अधीन होती है।

मुख्यमंत्री को बदलना अति कठिन है। यदि मुख्यमंत्री को ज्ञात हो जाये कि उसके विरुद्ध कोई षड्यंत्र रचा जा रहा है तो वह मंत्रालय की सहायता से उन विरोधियों को तुरन्त निकाल देता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेनिन मरने पर ही बदला था। स्टालिन भी मरने पर ही बदला जा सका था। स्टालिन के बाद बुलगानिन तथा बुलगानिन के बाद ख़ुश्चेव आया। इसको बदलने के लिए बहुत ही गुप्त षड्यंत्र केन्द्रीय कमेटी में किया गया था। यह षड्यंत्र मंत्रालय को भी पता नहीं चला और चुपचाप एक दिन ख़ुश्चेव को मक्खन में से बाल की भाँति निकाल दिया गया।

चोटी के नेता अथवा मंत्री देश के कहने अथवा करने से नहीं बदल सकते। ये केन्द्रीय कमेटी में गुप्त षड्यंत्र से ही बदले जा सकते हैं।

ख़ुश्चेव के बदले जाने के समय देश में किसी को पता नहीं चला। ख़ुश्चेव और जनता को एक ही समय पता चला था कि वह हटा दिया गया है और आज तक देश के लोगों को यह विदित नहीं कि वह किस कारण से हटाया गया था।

यह सब तानाशाही थी, जो लेनिन और स्टालिन ने रूस में स्थापित की थी। यह किस प्रकार स्थापित हो सकी है, इसका रहस्य अपनी पुस्तक 'The State and Revolution' में एंजल के शब्दों में इस प्रकार है—

Like all revolutionary thinkers, Engels tries to draw the attention of the class-conscious workers to that very fact which to prevailing philistinism appears least of all worthy of attention, most common and sanctified by solid, indeed, one might say, petrified prejudices. A standing army and police are the chief instruments of force of the State authority ; but can it, then, be otherwise ?[1]

(सब क्रांतिकारी विचारकों की भाँति एंजल सब वर्ग-विचार के मजदूरों का ध्यान इस बात की ओर लाना चाहता है कि जन-कल्याण करने वालों की भाँति वे इस बात को व्यर्थ न समझें कि

1. Ibid. p. 155

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुदृढ़ बनना है । यह भी कहा जा सकता है कि एक स्थायी सेना और पुलिस राज्य शक्ति का एक आवश्यक साधन है । इसके बिना चारा नहीं ।)

एंजल यह भी लिखता है कि हर्बट स्पेंसर के इधर-उधर के शब्द लेकर सर्वजन-कल्याण करने वाले (Philistins) सेना की आवश्यकता को कम मानते हैं । एंजल का कहना है कि वास्तविक बातें (Basic facts) यह हैं—

...the break-up of society into irreconcilably antagonistic classes. Without such a split the 'self-acting armed organization of the population' might have differed from the primitive organization of a herd of monkeys merely grasping sticks, or of primitive man, or races united in a clan form of society, by its complexity, its high technique, and so forth, but would still have been possible. It cannot, however, exist now, because society, in the period of Civilization, is broken up into antagonistic and, indeed irreconcilably antagonistic classes, the 'self acting' arming of which would lead to armed struggles between them. The State is therefore formed, a special force is created in the form of special bodies of armed men, and every revolution, in shattering the State machinery, demonstrates to us how the governing class aims at the restoration of the special bodies of armed men at its service, and how the oppressed class tries to create a new organization of a similar nature, capable of serving not the exploiting, but the exploited class.[1]

अर्थ है—समाज का परस्पर समन्वय न हो सकने वाले वर्गों में विभक्त हो जाना एक वास्तविक बात है । इस विभक्त होने के बिना

1. Ibid Pp. 155-156.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज में जनता के स्वतन्त्र सशस्त्र संगठन प्राचीन काल के बंदरों के लड़ने वाले झुंडों से, जो डालियाँ तोड़कर लड़ते थे अथवा उन आदि मनुष्यों अथवा जातियों से, जो कबीलों में एकत्रित होकर लड़ते थे, भिन्न होते। उनमें भिन्नता होती विषमता की, तकनीकी प्रगति इत्यादि की। परन्तु यह (स्वतन्त्र सशस्त्र सैनिक संगठन) अब संभव नहीं। कारण यह है कि समाज सभ्यता के कारण, वर्गों में बँट गया है। ये वर्ग परस्पर समन्वय नहीं कर सकते। यदि स्वतन्त्र, स्वेच्छा से बने संगठन होंगे तो वे परस्पर लड़ पड़ेंगे। इस कारण राज्य का निर्माण किया गया। विशेष शक्ति के निर्माण के लिए विशेष सशस्त्र सेना निर्माण की गई है और प्रत्येक क्रान्ति जो राज्य का विनाश करना चाहती है, हमको बताती है कि किस प्रकार सत्ताधारी वर्ग का सदा यह उद्देश्य रहता है कि सैनिक शक्ति की सेवाएँ उसे उपलब्ध रहें और किस प्रकार क्रांति तथा संगठन उसी प्रकार की शक्ति वाला बनाती है जो शोषकों की सहायता के स्थान शोषितों की सहायता करें।

इसमें ध्यान देने योग्य बात यह है कि एंजल यह समझता था कि राज्य में शक्ति एक आवश्यक बात है। वह शक्ति सैनिक शक्ति है।

एंजल यह भी समझ गया प्रतीत होता है कि समाज में वर्ग पैदा हो गए और पीछे राज्य का निर्माण हुआ। भूल यह है कि वे वर्ग सम्पत्ति रखने अथवा न रखने के कारण नहीं बने थे। वर्ग का निर्माण हुआ था, कामनाओं की वृद्धि से और उन कामनाओं को पूर्ण करने की सामर्थ्य न रखने के कारण। यह भला कैसे ज्ञात हुआ कि सब सम्पत्ति-विहीन शरीफ भले, ईमानदार और अपनी अर्जित सम्पत्ति का सद्व्यय करने वाले थे। क्या ऐसे लोग नहीं थे जो परिश्रम तो कम करते थे और अपनी आवश्यकताएँ अधिक रखते थे ? उन लोगों ने संगठन बनाकर अधिक परिश्रम करने वालों की सम्पत्ति छीनने का यत्न नहीं किया क्या ? यह कैसे ठीक नहीं ? तब ऐसे लोगों के नियंत्रण के लिए राज्य निर्माण क्यों नहीं स्वीकार किया जाता ?

भारतीय परम्परा तो यही है। हम पुस्तक के प्रथम भाग में बता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आए हैं कि आदिकाल में योग स्वेच्छा से धर्माचरण करते थे। समय पाकर आवश्यकताएँ बढ़ा ली गयीं परन्तु उनकी पूर्ति के लिए परिश्रम बराबर नहीं किया गया। ऐसे भी लोग उत्पन्न हो गये जो प्रमाद-आलस्य के कारण कुछ भी परिश्रम नहीं करते थे अथवा अपना परिश्रम अनुपजाऊ कार्यों में लगाते थे। परिणामस्वरूप जीवनोपयोगी पदार्थों का अभाव अनुभव होने लगा। इन लोगों ने सम्पन्न लोगों के घरों में डाके डालने आरम्भ कर दिए। स्वेच्छा से धर्माचरण की प्रथा नहीं रही। इस कारण राज्य की आवश्यकता अनुभव हुई।

इस भारतीय मीमांसा का प्रमाण आज भी मिलता है। मजदूर वर्ग में भी ऐसे लोग पर्याप्त संख्या में पाए जाते हैं जो परिश्रम से काम करते हैं और दूसरों से अधिक काल तक कमाते हैं। मितव्ययता से जीवन चलाते हैं और कुछ ही वर्षों में अपने अन्य साथियों से अधिक सुखी, सम्पन्न और स्वतन्त्र हो जाते हैं।

यह भी देखने में आता है कि धनी बाप के बेटे परिश्रम करना छोड़ शराब पीने लगते हैं, अन्य व्यसनों में फँस जाते हैं और सब धन-सम्पत्ति समाप्त कर या तो दुःख भोगते हुए मर जाते हैं अथवा परिश्रम कर निर्धनों का जीवन व्यतीत करने लगते हैं।

एंजल का इतना कहना तो ठीक है कि वर्ग बन जाने के उपरान्त राज्य की व्यवस्था करनी पड़ी है। परन्तु ये वर्ग भले और बुरे लोगों के थे। इस परिस्थिति में यदि राज्य-निर्माण न होता तो असुर लोग सब भले लोगों को लूटमार कर समाप्त कर देते। राज्य निर्माण हुआ तो दुष्टों के नियंत्रण के लिए शक्ति अर्थात् सेना-निर्माण करना पड़ा।

राज्य भी कभी-कभी असुरों के पक्ष में हो, भले लोगों को उत्पीड़ित करने लगते हैं। इस अवस्था में क्रान्ति की आवश्यकता पड़ती है।

मार्क्स और एंजल के विचार करने में सबसे महान् भूल यही रही कि वे सब सम्पत्ति-विहीनों को उत्पीड़ित मानते थे और सब सम्पत्ति-धारियों को पीड़ित करने वाले। इस भूल के कारण इनके अनुयायी संसार में एक अयुक्ति-संगत, अन्यायपूर्ण और अत्याचार से युक्त व्यवहार करने वाले सिद्ध हो रहे हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तृतीय अध्याय

समाजवाद और प्रजातन्त्र

राग और मोह से ग्रसित मानवों अथवा मानव समूहों को नियन्त्रण में रखने के लिए राज्य की आवश्यकता पड़ी। परन्तु राज्य के चलाने वाले भी तो मानव ही थे। वे भी प्रायः सत्य और न्याय के मार्ग से भटकते दिखाई दिये।

इस परिस्थिति को सुधारने के लिए राज्य-प्रणाली में हेर-फेर की आवश्यकता पड़ी। राज्य को न्याय और धर्म-परायण रखने के लिये, कहीं ब्राह्मण वर्ग को राजा पर अंकुश रखने के लिए बनाया गया, कहीं राजा को सम्मति देने के लिए मन्त्री गणों की आवश्यकता अनुभव हुई, कहीं संसद प्रणाली का आविष्कार हुआ, कहीं राजा को सीमित शक्ति देकर रखा गया, कहीं राजा को सर्वथा निर्मूल कर दिया गया।

यहाँ हम इन भिन्न-भिन्न राज्य-प्रणालियों के विषय में लिख नहीं रहे हैं। यह हमारी पुस्तक के विषयान्तर्गत नहीं। हम समाजवाद के विषय में लिख रहे हैं। समाजवाद का जितना राज्य-प्रणाली से सम्बन्ध है, उतना ही यहाँ वर्णन करेंगे।

इस समय प्रायः सब स्वतन्त्र देशों में किसी न किसी ढंग का और किसी न किसी सीमा तक प्रजातन्त्र स्थापित हो चुका है।

इस प्रजातन्त्र के विषय में लेनिन लिखता है—

We must also note that Engels quite definitely regards universal suffrage as a means of capitalist domination. Universal suffrage, he says (summing up

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

obviously the long experience of German Social Democracy), is 'an index of the maturity of the working class ; it cannot, and never will, give anything more in the present state'. The lower middle-class democrates such as our Socialist-Revolutionaries and Mensheviks and also their twin brothers, the Social-Chauvinists and opportunists of Western Europe, all expect a 'great deal' from the universal suffrage. They themselves think and instil into the minds of the people the wrong idea that universal suffrage in 'the present state' is really capable of expressing the will of the majority of the labouring masses and of securing its realization.'

(हमको समझ लेना चाहिए कि एंजल स्पष्ट रूप में और निश्चय से सर्वमताधिकार को पूँजीपतियों द्वारा सत्ता हथियाने का एक साधन मानता, जर्मनी की समाजवादी डेमोक्रेसी के लम्बे अनुभव से ही वह कहता प्रतीत होता है कि सर्वमताधिकार मज़दूर वर्ग के अनुभवी होने का मापदण्ड है। इस कारण वर्तमान अवस्था में यह इससे कुछ अधिक फल नहीं दे सकता है और न ही देगा। निम्न-मध्यम श्रेणी के प्रजातंत्रवादी सब इस सर्वमताधिकार से बहुत आशा लगाए हुए हैं। इनमें समाजवादी, क्रान्तिकारी और मैनशिविक्स अथवा उनके जुड़वाँ भाई, सोशल चविनिष्ट तथा पश्चिमी योरोप के अवसरवादी भी सम्मिलित हैं, वे स्वयं मानते हैं और जनता के मन में यह मिथ्या विचार भर रहे हैं कि आज की अवस्था में सर्वमताधिकार मज़दूर वर्ग के बहुमत की इच्छा को प्रकट करने की योग्यता रखता है और उस इच्छा को प्राप्त कर सकता है।)

लेनिन का कहना है कि लोग एंजल के विचारों को तोड़-मरोड़ कर उपस्थित करते हैं। संक्षेप में उसका मत इस प्रकार का है। यह एंजल की उक्त पुस्तिका में लिखा है—

Thus, the State has not always existed. There

1. Ibid, p. 159.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

were societies which did without it, which had no idea of the State or of State power. At a given stage of economic development, which was necessarily bound up with the break up of society into classes, the State became a necessity, as a result of this division. We are now rapidly approaching a stage in the development of production, in which the existence of these classes is not only no longer necessary, but is becoming a direct impediment to production. Classes will vanish as inevitably as they arose in the past. With the disappearance of classes the State, too, will inevitably disappear. When organizing production anew on the basis of a free and equal association of the producers, Society will banish the whole State machine to a place which will then be the most proper one for it—to the museum of antiquities side by side with the spinning-wheel and the bronze axe.[1]

इसका अर्थ है—राज्य सदा से नहीं है। कई समाज थे जिनमें राज्य-सत्ता नहीं थी। उनको राज्य अथवा राज्य-सत्ता का ज्ञान भी नहीं था। अर्थ-व्यवस्था के एक समय पर यह आवश्यक हो गया कि समाज वर्गों में विभक्त हो जाए। तब विभाजन के कारण एक राज्य की आवश्यकता हो गयी। अब हम द्रुत गति से उत्पादन की एक ऐसी स्थिति में पहुँच रहे हैं कि वर्गों की आवश्यकता नहीं रहेगी। उसके विपरीत यह वर्ग सीधे उत्पादन में बाधक हो जायेंगे। जिस प्रकार वर्ग अनिवार्यता से उत्पन्न हुए थे वैसे ही ये समाप्त हो जाएँगे। वर्गों के समाप्त होने पर राज्य भी समाप्त हो जाएगा। तब उत्पादन की नयी व्यवस्था स्थापित होगी अर्थात् उत्पादनकर्त्ताओं के स्वतन्त्र एवं स्वेच्छा के सहयोग से उत्पादन होने लगेगा। तब समाज पूर्ण राज्य-प्रपंच को तिलांजलि दे देगा और इसको वहाँ ले जाकर रख देगा जो इसका

1. Ibid, pp. 159-160.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उचित स्थान देगा। अभिप्राय यह है कि यह अजायबघर में पुरानी वस्तुओं, चर्खा और कांसे की कुल्हाड़ियों के साथ रख दिया जाएगा।

यह है निष्कर्ष एंजल साहब की इस पुस्तक में पूर्ण विवेचन का। आगे क्या होगा कहना कठिन है। परन्तु अब तक जो हो चुका है वह तो वैसा नहीं जैसा एंजल साहब मानते हैं। हमने ऊपर बताया है कि राज्य की स्थापना आर्थिक विकास के साथ सम्बन्ध नहीं रखती। यह सम्बन्ध रखती है दुष्टों के अनाचार को रोकने के साथ। यह तो हमने बतायी उस काल की बात, जिसको योरोपियन इतिहास के पूर्व का (pre-historic) काल कहते हैं। हम तो उसको प्रीहिस्टोरिक नहीं कहते। खैर, योरोपीय इतिहासज्ञों की बात भी मान लें, तब भी तो कोई काल ऐसा नहीं है, जो इतिहास की परिधि में न आता हो और जब राज्य न रहा हो।

सबसे पुरानी कहानी बाइबल में केन की है। केन न एबल की हत्या किसी आर्थिक लाभ के लिये अथवा हानि की पूर्ति के लिये नहीं की थी। हत्या का कारण था, ईर्ष्या। ईर्ष्या से द्वेष उत्पन्न हुआ और हत्या हो गयी। तब परमात्मा का राज्य था। उसने उसे दण्ड दिया।

यह कहा जाता है कि परमात्मा ने केन को देश-निर्वासन का दण्ड दिया, अर्थात् राज्य व्यवस्था स्थापित हो गयी और दुष्ट लोगों को दण्ड दिया जाने लगा।

यह इतिहास है योरोप का। रजोगुण में ईर्ष्या स्वाभाविक है। केन में रजोगुण, वर्ग बनने से बहुत पहले उत्पन्न हुआ था। यह केवल इस कारण उत्पन्न हुआ था कि एबल को परमात्मा अधिमान देता था। केन ने इस पर अपनी नाराज़गी प्रकट की तो परमात्मा ने उसको बताया कि वह नेक नहीं। उसका भाई उससे अधिक नेक है। इस कारण उसकी प्रतिष्ठा अधिक है। इतना कहने से केन ईर्ष्या से जलने लगा था।

यह अवस्था रजोगुण स्वभाव से उत्पन्न होती है। यह तो हुई इतिहास की बात। अब देखना चाहिये कि लेनिन ने रूस में राज्य स्थापित कर क्या किया? रूस में चालीस वर्ष तक पूंजीपतियों का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विनाश करने पर भी पूंजीपति बनते रहे हैं। विवश होकर सीमित पूंजीवाद रूस में पुन: स्थापित हो रहा है।

आज रूस में दो प्रकार की मंडिया हैं। एक नियन्त्रित और दूसरी स्वतन्त्र। किसानों को अपने उत्पादन का एक भाग इस स्वतन्त्र मण्डी में बेचने की स्वीकृति है और वे उस स्थान पर अपने माल को माँग और प्रदाय (Demand and supply) के सिद्धान्त पर बेचते हैं।

लेनिन और स्टालिन ने करोड़ों रूसी नागरिकों की हत्या करने के उपरान्त जब यह किया है तो क्या उनके गुनाहों की हत्या का दोष मार्क्स, एंजल और लेनिन पर नहीं दिया जाना चाहिये ?

यह तो है कम्युनिस्टों की राज्य की विवेचना और उनके अपने उद्देश्यों में असफलता की कहानी। अब हम समाजवादियों की बात बताना चाहते हैं।

भारत में राज्य की ओर से समाजवाद लाने का यत्न किया जा रहा है और यह कहा जाता है कि यह समाजवाद कम्युनिज्म से भिन्न होगा।

हमने यह बताया है कि जहाँ तक उद्देश्यों और सिद्धान्तों का सम्बन्ध है दोनों समान हैं। उन उद्देश्यों की पूर्ति के उपायों में भेद बताया जाता है।

समाजवादियों की राजनीति में सबसे प्रथम बात जो समझने की आवश्यकता है, वह है कि समाजवाद बिना राज्य की सहायता के नहीं आ सकता। इस कारण सब देशों के समाजवादी दल ज्यूं-त्यूं कर राज्य-सत्ता मजदूरों के हाथ में लाने का यत्न करना चाहते हैं। जब राज्य-सत्ता मजदूरों के हाथ में चली जायेगी तब ये राज्य की सहायता से समाजवाद चलायेंगे।

यही बात भारत में हुई है। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने स्वराज्य-प्राप्ति के उपरान्त पहली बात यह की थी कि उन सब लोगों को राज्य से निकाल दिया जो समाजवाद को पसन्द नहीं करते थे। ऐसा करने में उनको छः-सात वर्ष लगे थे। जब पंडित नेहरू, सरकार की पूर्ण शक्ति अपने विचार के समाजवादियों के हाथ में दे चुके तो आवडी में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९५६ में यह प्रस्ताव पारित करा दिया कि समाजवाद की सी व्यवस्था (Socialistic Pattern of Society) स्थापित होगी। धीरे-धीरे लोगों को इसके लिये तैयार किया जाने लगा।

पंडित नेहरू की ख्याति तीन कारणों से थी। (१) स्वराज्य-आन्दोलन में इन्होंने बहुत भाग लिया था। (२) गांधीजी के ये सबसे अधिक प्रिय थे। (३) ये निर्धनों के हिमायती समझे जाते थे। इन तीनों बातों में समाजवाद वास्तविक रूप में कहीं नहीं है। यहाँ तक कि जमींदारों को निःशेष करते समय भी समाजवाद का नाम नहीं लिया गया था। इस सब समय में नेहरूजी अपनी ख्याति के बल पर समाजवाद का विरोध करने वालों को कांग्रेस से धक्के दे-देकर निकालते गये।

जब आवडी में समाजवाद की नींव रखी गयी थी, तब भी समाजवाद का नाम नहीं लिया गया था। समाजवाद नहीं, समाजवाद की-सी व्यवस्था स्थापित करने का विचार उपस्थित किया गया। सन् १९६१ में नेहरू जी ने विरोधियों को बदनाम कर पूर्ण समाजवाद लाने का प्रस्ताव कर दिया। १९६२ में भुवनेश्वर में यह प्रत्यक्ष में कह दिया गया कि उत्पादन और वितरण पूर्ण रूप से राज्य के हाथ में कर दिया जायेगा।

यदि चीन ने आक्रमण न किया होता तो राज्य के बल पर बल-पूर्वक भुवनेश्वर प्रस्ताव पर कार्य किया जाता।

हमारा यह लिखने का अभिप्राय यह है कि कम्युनिस्टों की भाँति समाजवादी भी राज्य के बल से देश का उत्पादन और वितरण सरकार के हाथ में लाने का यत्न करना चाहते हैं।

यदि अभी वे नहीं कर सके तो इसलिये कि संसद के रहते बहुमत से सरकार को इस स्थिति में लाना सम्भव नहीं था।

इन्होंने सब-कुछ सरकार के अधीन करने के कानून तो पास करा रखे हैं; यह निश्चय हो गया है कि भूमि सरकार की है। सरकार जब चाहे किसी भी किसान से भूमि ले सकती है और उसका मूल्य जो कुछ दे, वह किसान को स्वीकार करना पड़ेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देहातों में तो किसान की संपत्ति तथा मकान इत्यादि भी लेकर मनमाना दाम देने की व्यवस्था संविधान में कर दी गयी है।

अभी तक शहरी संपत्ति लेने के विषय में कानून नहीं बना। परन्तु किसी भी कारखाने को, सरकार चाहे तो मनमाने दाम पर लेकर स्वयं चला सकती है।

यह सब-कुछ नेहरूजी की ख्याति के कारण संपन्न हो गया और वह ख्याति समाज़वाद से पृथक् की बात है। कांग्रेस दल में अभी भी पर्याप्त संख्या में पूंजीपति हैं और वे समाजवाद जैसा भुवनेश्वर में कहा गया है, लाने में बाधा खड़ी करेंगे।

केवल यही नहीं कि भारत सरकार समाजवाद, अर्थात् उद्योग और व्यापार (production and distribution) पर सरकारी अधिकार लाना चाहती है वरन् वह धीरे-धीरे यह स्थिति भी उत्पन्न कर रही है कि सरकार जो कुछ करे, न्यायालय उसमें हस्तक्षेप न करें।

समाजवादी यह तो मानते हैं कि सर्वमताधिकार होना चाहिये। सब वयस्कों को मताधिकार मिल जाने से समाजवाद स्वयमेव आ जायेगा। यह हम बता चुके हैं कि कम्युनिस्ट, विशेष रूप में एंजल और लेनिन सबको मताधिकार देना पूंजीपतियों का जाल मात्र समझते हैं। लेनिन का तो यह कथन है—

The state is not something that is neutral. The state is not something that is above the battle. The state is not like a transparent cup wherein you can pour a liquid of any colour and expect the glass to reflect it. On the contrary, the state is completely conditioned by and is an instrument of the dominant class.[1]

अर्थात्—राज्य निरपेक्ष नहीं हो सकता। यह संघर्ष (वर्ग-संघर्ष) से ऊपर नहीं हो सकता। यह पारदर्शक प्याले की भाँति नहीं जिसमें जिस रंग का द्रव डालें, वही रंग दिखाई देने लगेगा। इसके विपरीत

1. Democratic Socialism, p. 54.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्य पूर्णतः उस वर्ग से रंगा जाता है और उस वर्ग का यंत्र होता है जो वर्ग उस पर अधिकार रखता है।

इसका अर्थ यह है कि राज्य ऐसा (निष्पक्ष) वर्ग-संघर्ष से ऊपर और सत्ता-सम्पन्न वर्ग का यंत्र हुए बिना हो नहीं सकता। इस कारण लेनिन चाहता था कि राज्य मज़दूर वर्ग के अधीन होना चाहिए।

भारत की समाजवादी सरकार की योजनाओं को चलाने वाले श्री अशोक मेहता कहते हैं—

By and large, such an analysis is true. But it is true to the extent the common people have not succeeded in obtaining adult franchise in winning civil liberties for all, and in getting the structure of the state suffused with various forms of associative life, various forms of democratic organisations.[1]

(यह विश्लेषण सत्य है। यह उस सीमा तक ही सत्य है जिस तक जन-साधारण को वयस्क मतदान का अधिकार नहीं मिल जाता, जब तक नागरिक स्वतंत्रता सबको प्राप्त नहीं हो जाती और राज्य का पूर्ण ढाँचा भिन्न-भिन्न प्रकार की संस्थाओं से, जो प्रजातन्त्रात्मक हैं, भर नहीं जाता।)

इसका अर्थ स्पष्ट रूप में है कि लेनिन का कहना ठीक है। वे केवल यह बात कहते हैं कि राज्य मज़दूरों का स्वयमेव हो जाएगा, जब सर्व मताधिकार हो जायेगा, जब सबको नागरिक अधिकार प्राप्त हो जायेंगे और जब राज्य में सब प्रकार की संस्थाएं प्रजातंत्रात्मक हो जायेंगी।

हमारा यह कहना है कि सर्वमताधिकार तभी मज़दूरों का राज्य ला सकेगा, जब देश में बहु संख्या में ऐसे मज़दूर बन जायेंगे जो विद्वानों और कार्यकुशल व्यक्तियों को अपना दास समझने लगेंगे।

अर्थात् जहाँ लेनिन इत्यादि सर्वमताधिकार को पूंजीपतियों का धोखा मानते हैं, वहाँ श्री अशोक मेहता सर्वमताधिकार को मज़दूरों

1. Ibid.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का राज्य लाने वाला मानते हैं।

हम समझते हैं कि यह बात समाजवादी एक बात छिपाकर कहते हैं। वे यह तो चाहते हैं कि सर्वमताधिकार हो, परन्तु वे यह भी नहीं चाहते कि सबको नागरिक स्वतन्त्रता हो। विचार करने तथा बोलने की स्वतंत्रता होगी तो लोग स्वेच्छा से राज्य करना विद्वानों का कार्य समझेंगे। यही कारण है कि भारत में दुनिया के एक बहुत बड़े समाजवादी श्री नेहरूजी के शासन काल में, बार-बार संविधान का संशोधन कर न्यायालयों के अधिकार सरकार के हाथ में दिये जाते रहे हैं। संविधान बनाते समय जो मूल अधिकार लोगों को दिए गये थे, उनमें कमी की जाती रही है।

लेनिन के देश में तो मज़दूरों का शासन माना जाता है, परन्तु वहाँ पर भी लिखने और बोलने की स्वतंत्रता नहीं है। रूस और चीन में एक भी समाचारपत्र ऐसा नहीं जो सरकार के अधीन न हो। कोई भी पुस्तक वहाँ छप अथवा वितरित नहीं हो सकती, जिसको सरकार स्वीकार न कर ले।

यहाँ भारत में, श्री अशोक मेहता के देश में, समाजवादी सरकार के अधीन यह किया जा रहा है कि समाचारपत्रों पर अनेक प्रकार के नियंत्रण लग रहे हैं। साथ ही कम्युनिस्ट समाचारपत्रों को अनेक प्रकार की सुविधाएँ दी जा रही हैं। श्री अशोक मेहता और श्री जवाहरलाल नेहरू के देश में भी, जहाँ डालमियाँ को बेईमानी करने पर कारावास और उसके व्यापार पर अधिकार हो सकता है, वहाँ उससे भी बुरी बेईमानी करने वाले कैरों और मालविया को पकड़कर मुक-दमा चलाना तो दूर, उनको अपना प्रचार करने के लिए सुविधाएँ दी जाती रही हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि दोनों (कम्युनिस्ट और समाजवादी) दलों के अनुसार राज्य निष्पक्ष नहीं रह सकता। यह सत्ताधारी दल के हित में ही हो जाता है।

यह बात तो मिथ्या है कि राज्य निष्पक्ष नहीं हो सकता। यह तो केवल इस बात को चरितार्थ करने के लिए है कि give the dog a

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

bad name and kill. (कुत्ते को मारने से पूर्व उसको पागल घोषित कर दो।) राज्य को मजदूरों की तानाशाही का यंत्र बनाने के लिए पहले यह कह दिया कि राज्य निष्पक्ष हो सकता ही नहीं। इस कारण इसको मज़दूरों के अधीन होना चाहिए।

समाजवादी भी केवल मात्र मज़दूर वर्ग का राज्य चाहते हैं। अशोक मेहता दूसरे दलों के साथ मिलकर सरकार बनाने (Coalition Government) को पसन्द नहीं करते।

आप लिखते हैं—

In times of economic difficulties there have been suggestions that there should be coalition governments. I believe such a coalition would be disastrous to the socialist movements.[1]

(यह सुझाव दिया जाता है कि आर्थिक कठिनाइयों के समय संयुक्त सरकार बना लेनी चाहिये। मेरा विश्वास है कि इस प्रकार की संयुक्त सरकार समाजवादी आन्दोलन के लिए अत्यन्त हानिकारक है।)

परन्तु रोजा लग्ज़म्बर्ग इसी विषय पर इस प्रकार लिखते हैं—

इसमें सन्देह नहीं कि बुर्जुआ समाज में ऐसा समय आ सकता है, जब मज़दूर वर्ग के हाथ में पूर्ण सत्ता आने की सम्भावना नहीं होती। परन्तु मज़दूर वर्ग को बुर्जुआ सरकार में जब सहयोग देना आवश्यक हो जाए तो ऐसे अवसर पर, मज़दूर वर्ग के प्रतिनिधि केवल शुष्क सिद्धान्तों के भ्रम में सांझे हितों की रक्षा में सहयोग देने से इन्कार नहीं कर सकते। आपके शब्द हैं—

In such a case, of course, the representatives of the working people would not have the right for love of abstract principle to refuse to defend the common cause. (Reform or Revolution—Rosa Luxemburg)[2]

1. Democratic Socialism, p. 52.
2. Ibid. p. 53.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रोजा लग्जम्बर्ग श्री मेहता से एक पग कम उग्र हैं । इस पर भी उद्देश्य, एक वर्गीय (मज़दूर वर्ग) राज्य स्थापित करना, में भिन्नता नहीं ।

श्री अशोक मेहता राज्य के प्रति तीन प्रकार का व्यवहार मानते हैं । अनुकूल, निष्पक्ष अथवा प्रतिकूल ।

अनुकूल व्यवहार उस राज्य से होना चाहिए जो,

...so organised that it helps the working people in their efforts at amelioration and emancipation.[1]

(ऐसा संगठित हो जो मज़दूर वर्ग के सुधार और उद्धार में सहायक हो ।)

ऐसे राज्य के आवश्यक लक्षण ये हैं—

...civil liberties, adult suffrage, responsible government and a whole complex of autonomous bodies, organised democratically.[2]

(नागरिक स्वतंत्रता, वयस्क मताधिकार, उत्तरदायी सरकार और सब प्रकार के संगठनों को प्रजातन्त्रात्मक होना ।)

यह सब-कुछ ठीक है । इसके लिए समाजवादी दल की सरकार होनी आवश्यक नहीं । अमरीका, इंग्लैंड और अन्य प्रजातन्त्रात्मक देशों में ये सब बातें हैं । इस पर भी समाजवादी दल सरकारों का विरोधी भी है ।

इंग्लैंड में तो टोरी सरकार के काल में ये सब गुण सरकार में उपस्थित थे और कदाचित् जब-जब इंगलैंड में समाजवादी सरकार बनी है वह टोरी सरकार से अधिक नागरिक स्वतन्त्रता का हनन करने वाली सिद्ध हुई है । वर्तमान इंग्लैण्ड की समाजवादी सरकार भारत की समाजवादी सरकार की शत्रु है और अनुपात में पाकिस्तान की मित्र ।

क्या अमरीका में सिविल लिबर्टीज़ संसार के किसी भी देश से कम हैं ? वास्तव में मेहताजी का उक्त कथन, जनता को भ्रम में डाल

1. Ibid. p. 43. 2. Ibid.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर समाजवादी दल का समर्थक बनाना मात्र है।

समाजवादी कम्युनिस्टों की भाँति मज़दूरों की तानाशाही लाना तो चाहते हैं, परन्तु वे इसको ऐसे ढंग से लाना चाहते हैं कि उनकी अपनी जान का भय न रहे। उक्त वचन सब मिथ्यावाद है। अधिक-से-अधिक यह कहा जा सकता है कि ये लोग कुछ अधिक बुद्धिशील हैं। ये जानते हैं कि उनके देश में वह परिस्थिति नहीं आयी जो १९१७ में रूस में थी और जो १९४६-४७ में चीन में थी।

१९१७ में कैसर ने मित्र राष्ट्रों के एक मित्र को धूल में मिलने के लिए लेनिन को करोड़ों रुपये का सोना देकर मास्को भेजा था और १९४६-४७ में अमरीका के पूर्व क्षेत्र में सुप्रीम-कमाण्डर ने च्यांग काई-शेक को धोखा देकर अधिकार कम्युनिस्टों के हाथ में दे दिया था। उसकी सहानुभूति कम्युनिस्टों से थी। यह बात मिथ्या है कि च्यांग काई-शेक का राज्य चोरों और ठगों का राज्य था।

ऐसे ही अवसर मिलने पर किसी भी देश के समाजवादी सब ऊँची-ऊँची बातें भूल जायेंगे।

आधारभूत सिद्धान्त उनके वही हैं जो कम्युनिस्टों के हैं। वे भी आर्थिक विचार से वर्ग मानते हैं; वे भी प्रोलिटेरिएट (labour workers) के हाथ में राज्य चाहते हैं; वे भी उत्पादन और वितरण का राष्ट्रीयकरण चाहते हैं; वे भी यह समझते हैं कि संसद न्यायाधिकरण (Judiciary) से ऊपर है। वे भी चाहते हैं कि राज्य के कामों में न्यायालय देख-रेख न कर सकें। इनका कम्युनिस्टों से यदि अन्तर है तो इस बात में है कि कम्युनिस्ट अपने उद्देश्यों और उपायों को छिपाने से घृणा करते हैं और समाजवादी प्रजातन्त्र की ओट में अपने इरादे छुपाकर रखते हैं। वे कहते हैं—

The concept of a class state, therefore, is valid within certain well-defined limits.[1]

(वर्ग राज्य का विचार ठीक है, यद्यपि कुछ सीमाओं के अन्दर)

यह निश्चित है कि समाजवादी दल केवल प्रजातन्त्रात्मक ढांचे

1. Ibid. p. 55.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में ही विजय प्राप्त कर सकता है, क्योंकि उसमें धोखा सुगमता से दिया जा सकता है। यदि राज्य द्वारा उद्योग क्षेत्र अपने हाथ में न लिया जाये तो प्रजातन्त्र द्वारा अनन्त काल तक राज्य मज़दूर वर्ग का नहीं बन सकता।

प्रश्न यह है कि ये कैसे विजय प्राप्त करेंगे? यह ढंग भी श्री अशोक मेहता ने बताया है। वह ढंग ध्यान देने योग्य है। आप लिखते हैं—

If it is possible to put positive content in the state, a critical approach is unhistorical, illogical, likely to hamper the growth of the socialist movement. If positive contents can be put, the attitude must be neutral, and as more and more positive content is put in the state, neutral attitude must change to a favourable one ....The more negative the state the more critical will be the approach. Then perhaps it will become necessary to capture power through extra-parliamentary means.[1]

(इसका अर्थ—यदि यह सम्भव हो कि राज्य में अनुकूल लोग (मंत्री) ढाले जा सकें तो झगड़े का उपाय इतिहास के तथा युक्ति के विपरीत होगा। सम्भावना यह है कि इस अवस्था में झगड़े से समाजवादी आन्दोलन में बाधा खड़ी हो जायेगी। उस समय दल को मौन रहकर अधिक और अधिक अनुकूल लोग (मंत्री) राज्य में लाने चाहिएं। ज्यों-ज्यों अनुकूल लोग (मंत्रीगण) बढ़ते जायेंगे, मौन व्यवहार अनुकूल व्यवहार में बदलना चाहिए···जितने अनुकूल लोग अधिक होंगे, अधिक अनुकूल व्यवहार किया जाना चाहिए। जितने प्रतिकूल लोग राज्य में होंगे उतना ही झगड़ा अधिक करना पड़ेगा। तब कदाचित् पार्लियामेंट से बाहर के उपाय प्रयोग करने पड़ेंगे। (ये बाहर के उपाय बल-विद्रोह के प्रतीक ही होंगे।)

1. Ibid. pp, 58-59.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह वक्तव्य भारत के योजना मंत्री का है। हम समझते हैं कि यह कम्युनिस्टों के बलपूर्वक अपना अधिकार पाने से कम स्पष्ट नहीं। इसका अभिप्राय यह है कि समाजवादी विचार के लोगों का मंत्री-मण्डल में लिया जाना सम्भव हो तो दल को मौन रहना चाहिए, झगड़ा नहीं करना चाहिए। ज्यों-ज्यों अधिक और अधिक अपने (समाजवादी) विचार के लोग मंत्री-मण्डल में चले जायें, त्यों-त्यों दल का व्यवहार सरकार के अनुकूल होता जाए। यदि समाजवादी विचार के लोग मन्त्री-मण्डल में न आ सकें तो झगड़ा करना और आवश्यक हो तो संसदीय उपायों से अन्य उपाय भी प्रयोग में लाये जाएँ।

ये संसदीय से अन्य के उपाय क्रान्ति, 'कूप' इत्यादि ही हो सकते हैं। यह स्पष्ट है कि यदि मन्त्री-मण्डल में प्रधान मन्त्री समाजवादियों के अनुकूल साथी मन्त्री-मण्डल में लेते जाएँ तब तो ठीक, नहीं तो क्रान्ति का बिगुल बजा दिया जाए।

भारत की संसद में समाजवादी दल कांग्रेस से बाहर है। वह एक विरोधी दल है, परन्तु उस दल के सहायक श्री अशोक मेहता मन्त्री-मण्डल में हैं। कदाचित् और भी हों। यदि तो इनकी संख्या निरन्तर बढ़ती जाये तो ठीक और यदि समाजवादी दल के विरोधी अधिक हों तो बगावत की जाए। यह है अभिप्राय मेहताजी का।

हम तो पहले ही यह समझते हैं कि कम्युनिस्टों और समाज-वादियों में यदि कोई अन्तर है तो यह कि कम्युनिस्ट जहाँ सांड की भाँति लड़ने वाले हैं, वहाँ समाजवादी लोमड़ी की भाँति मस्कीन हैं। यह ऐसी लोमड़ी हैं जो बिल्ली की भाँति पंजों में छुपे नाखून रखती है।

हमने इस भाग में समाजवाद के भिन्न-भिन्न रूपों और समाज-वाद के उद्देश्यों तथा उपायों पर प्रकाश डाला है। संक्षेप में ये इस प्रकार है—

१. ये मानते हैं कि समाज में दो वर्ग है। बुर्जुआ और प्रोलि-टेरिएट। बुर्जुआ सम्पत्ति रखने वाले और सम्पत्ति को उद्योग तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यापार में लगाने वाले को कहते हैं। प्रोलिटेरिएट वेतनधारी मजदूर को कहते हैं।

२. समाजवाद प्रोलिटेरिएट वर्ग का आन्दोलन है।

३. समाजवाद चाहता है कि प्रोलिटेरिएट वर्ग की दशा, राज्य पर प्रोलिटेरिएट वर्ग का अधिकार जमाकर सुधारी जाए।

४. समाजवादी चाहते हैं कि राज्य पर अधिकार कर उत्पादन और वितरण-यंत्र का राष्ट्रीयकरण किया जाये और पूर्ण समाज को सरकार से वेतन पाने वाला बना दिया जाए।

५. समाजवादी समझते हैं कि अर्थ-व्यवस्था से ही समाज के सब रीति-रिवाज और अन्य व्यवहार सम्बन्धित हैं और अर्थ-व्यवस्था पर नियंत्रण से सब समान हो जायेंगे और व्यक्ति में अन्तर बहुत कम हो जाएगा।

६. यदि तो दूसरे लोग सुगमता से राज्य समाजवादियों के हाथ में दें तो ठीक अन्यथा Extra-parliamentary methods प्रयोग किए जायें।

हमने इन सब बातों की विवेचना भी कर दी है।

समाजवाद पर इतना साहित्य लिखा गया है कि सबको यहाँ लिख सकना सम्भव नहीं। इस पर भी इसके मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों और गतिविधियों की विवेचना की है। इससे इस वाद की भयंकरता स्पष्ट हो जाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चतुर्थ भाग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथम अध्याय

धर्म-व्यवस्था

धर्म के क्या अर्थ हैं ? यह हम पुस्तक के प्रथम भाग में अति संक्षेप में लिख चुके हैं। हमने वहाँ बताया है कि धर्म दो प्रकार के हैं। एक है सनातन अर्थात् स्थायी धर्म। ये बदलते नहीं। दूसरे हैं सामयिक, अथवा स्थानीय अवस्था का धर्म। ये स्थान, काल और आयु के विचार से बदलते रहते हैं।

सनातन धर्मों में हमने दस धर्म गिनाए हैं। ये अपरिवर्तनशील हैं। ये हैं—धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धीः, विद्या, सत्य और अक्रोध। इनमें पाँच व्यक्तिगत हैं। व्यक्तिगत का अर्थ है जिनका मुख्य रूप में कर्त्ता के अपने साथ ही सम्बन्ध होता है। धृति, दम, शौच, धीः और विद्या। पाँच सामाजिक धर्म हैं। इनका सम्बन्ध कर्त्ता के अतिरिक्त दूसरों से भी होता है। ये हैं : क्षमा, अस्तेय, इन्द्रिय-निग्रह, सत्य और अक्रोध।

व्यक्तिगत धर्मों के विषय में इतना ही समझ लेना चाहिए कि इनमें राजनियम कुछ अधिक हित नहीं कर सकते। इनका सम्बन्ध प्रेरणा और सम्मति देने के साथ ही है।

उदाहरण के रूप में धृति की बात ली जा सकती है। धृति का अर्थ है किसी संकट-काल में धैर्य रखना। यह मनुष्य के लिए अत्यावश्यक व्यवहार होने पर भी राजनियम का विषय नहीं हो सकता। विद्वान लोग, वृद्ध जन और राज्याधिकारी संकटापन्न व्यक्ति को धैर्य रखने की राय ही दे सकते हैं। यह मन का विषय है। यह किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाह्यशक्ति से न तो धारण किया जा सकता है न ही धारण कराया जा सकता है।

इसी प्रकार दम का अर्थ है मन को काबू में रखना। किसी रोगी का चित्त मिठाई खाने को करता है। डाक्टर उसको कह सकता है कि मीठा खाने की ओर ध्यान मत करो। परन्तु मन के चाहने को रोका नहीं जा सकता। मन पर संयम रखना अत्यावश्यक है। मन पर संयम टूटता है तो फिर कर्म पर भी संयम नहीं रहता। इस पर भी कोई बलपूर्वक किसी के मन को संयत रखने की सामर्थ्य नहीं दे सकता। उसको प्रेरणा ही दी जा सकती है।

व्यक्तिगत सनातन धर्मों में धी और विद्या भी हैं। इनका अर्थ है बुद्धि और ज्ञान। बुद्धि से प्रयोजन है बुद्धि यंत्र को निर्मल करना और इसको विकास देना। इस प्रकार विद्या का अर्थ है ज्ञान-प्राप्ति। विद्या शिक्षा से भिन्न बात है। शिक्षा को अंग्रेजी में 'training' कहते हैं, अर्थात् लिखना, पढ़ना और गणित सीखना। यों तो योरोपीय परिभाषा में 'training' का अभिप्राय उतना ही लिखने-पढ़ने तथा गणित से है जितना शिशु को पाँचवीं श्रेणी तक सिखाया जाता है। परन्तु हमारा शिक्षा से अर्थ है भाषा लिखने-पढ़ने का उच्च-से-उच्च ज्ञान और उच्च गणित सीखना।

इन तीन 'आर' के माध्यम से जो ज्ञान प्राप्त होता है वह विद्या है। तीन 'आर' तो राजनियम के अधीन हो सकते हैं, परन्तु विद्या, राज-नियम तो क्या, किसी के भी नियमाधीन सिखायी अथवा सीखी नहीं जा सकती। इसके लिए मनुष्य अपने-आप ही प्रयत्न कर सकता है।[1]

भारतीय शास्त्र बुद्धि के विकास और ज्ञान की प्राप्ति को भी धर्म मानते हैं। अर्थात् बुद्धि निर्मल करना मनुष्य का धारण करने योग्य कर्त्तव्य है। इसी प्रकार ज्ञान प्राप्त करना मनुष्य का स्वतन्त्र रूप से अपना कर्त्तव्य है।

शौच के विषय में थोड़ा समझ लेना चाहिए। शौच का क्षेत्र

1. Three 'Rs'-Reading, Writing, Arithmatic.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुख्यतः तो मनुष्य के अपने तक ही सीमित है, परन्तु इसका प्रभाव दूसरों पर भी होता है। इस कारण इसका सार्वजनिक रूप समाज और राज्य के अधीन होता है। व्यक्तिगत रूप मनुष्य के अपने अधीन है।

सनातन सामाजिक धर्म तो ऐसे हैं कि इनके पालन का अवसर ही तब आता है जब दूसरा व्यक्ति उपस्थित हो। क्षमा तो किसी दूसरे को ही की जाएगी। इसी प्रकार अस्तेय अर्थात् चोरी न करने का तो विचार ही तब किया जा सकता है, जब किसी दूसरे का कोई पदार्थ सम्मुख हो। इन्द्रिय-निग्रह का प्रश्न भी तभी उपस्थित होता है जब कोई विषय-भोग की वस्तु उपस्थित हो। इसी प्रकार अक्रोध और सत्य की बात है।

अभिप्राय यह है कि जहाँ तक सनातन धर्मों का सम्बन्ध है उनमें से पाँच, जिनकी गणना हमने सामाजिक और सार्वजनिक धर्मों में कराई है, ऐसे हैं जिनके विषय में समाज अथवा राज्य का नियम और दण्ड-विधान हो सकता है।

यों तो भारतीय परम्परा यह है कि ये धर्म भी पालन-प्रेरणा से ही कराए जा सकते हैं, परन्तु इनका दूसरों पर प्रभाव होने से इनके विपरीत आचरण से दूसरों की रक्षा के लिए राज्य-नियम और दण्ड का विधान होता है।

जहाँ तक सनातन धर्मों का सम्बन्ध है समाज अथवा राज्य के बल पर इन छः (क्षमा, अस्तेय, इन्द्रिय-निग्रह, शौच, सत्य और अक्रोध) के विषय में नियम बना सकते हैं। दूसरे शब्दों में देश का पूर्ण दण्ड विधान (पीनल कोड) इन छः धर्मों के उल्लंघन को रोकने के लिए ही है। इनमें भी शौच को नगर-निगम के अधीन किया जा सकता है, अर्थात् शौच के विधि-विधान का भंग करना उस प्रकार का अपराध नहीं माना जाता, जैसे चोरी करना अथवा झूठ बोलना।

धर्म पालन कराने के लिए यदि पाँच सामाजिक धर्मों का प्रबन्ध कर लिया जाए तो हम समझते हैं कि धर्म-व्यवस्था का कार्य अति सरल हो जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ सामयिक, स्थानीय और अवस्था के अनुसार धर्म हैं। वे यद्यपि बदलते रहते हैं परन्तु उनको समझना अथवा उनका पालन करना इतना कठिन नहीं जितना आज समझा जा रहा है।

यदि तनिक गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाए तो इनको भी दो भागों में बाँटा जा सकता है। वे सामयिक धर्म जिनके पालन न करने से कर्त्ता के अतिरिक्त लोगों पर भी प्रभाव पड़ता है और वे सामयिक धर्म जिनके विरोध से कर्त्ता से अपना सम्बन्ध ही है।

पूर्व इसके कि हम इन धर्मों के व्यक्तिगत और सामाजिक विभाजन को समझें, पहले सामयिक धर्मों के विषय में इसकी- शास्त्रीय विवेचना समझ लें।

सब सामयिक धर्म, जिनका सनातन धर्मों से विरोध नहीं, उनको वर्णाश्रम धर्म के नाम से स्मरण किया जाता है। क्योंकि पूर्ण मानव-समाज जो सनातन धर्मों का विरोध नहीं कर रहा, चार वर्गों में विभक्त है और प्रत्येक मनुष्य का पूर्ण जीवन चार आश्रमों में बँटा है। इस कारण वर्णाश्रम धर्म को जान लेने से सामयिक धर्म के पूर्ण क्षेत्र का अध्ययन हो जाता है।

सनातन दस धर्मों और वर्णाश्रम धर्म से बाहर मानव-समाज के लिए कुछ भी नहीं। अतः वर्णाश्रम धर्म क्या है, इस पर लिखने से हम समाज-शास्त्र की विवेचना पूर्ण कर सकेंगे।

वर्णाश्रम धर्म को हम अस्थायी धर्मों में अर्थात् परिवर्तनशील धर्मों में मानते हैं। इसमें हमारी युक्ति यह है कि वे धर्म, काल और परिस्थितियों से बदलते रहते हैं।

उदाहरण के रूप में शास्त्र में ही लिखा है कि ब्रह्मचर्याश्रम २५, ३५, ४५, वर्ष की आयु तक चल सकता है। विद्यार्थी की अवस्था, योग्यता और जीवन-कार्य का अनुमान लगाकर ब्रह्मचर्य आश्रम छोटा-बड़ा हो सकता है। इसी प्रकार समाज में ब्राह्मण वर्ण के लिए लिखा है कि वह दान प्राप्त कर निर्वाह करे और अपने घर में तीन दिन से अधिक के प्रयोग का सामान न रखे। परन्तु समाज की आर्थिक व्यवस्था बदलने पर ब्राह्मण को इस नियम का उल्लंघन करने की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामर्थ्य दी गई है और दी जानी चाहिए। इस व्यवस्था का प्रयोजन यह था कि ब्राह्मण कहीं लोभ में फँसकर अपनी न्याय-दृष्टि को कुण्ठित न कर बैठे। साथ ही वह किसी का वेतनधारी सेवक न बन सके। सेवक ब्राह्मण अपने ज्ञान-विज्ञान को, लोभवश बेचने का स्वभाव बना लेगा तो फिर अधर्माचरण से धनी बने लोग ज्ञान-विज्ञान के मालिक बन जायेंगे। ज्ञान की नीलामी होने लगेगी और ब्राह्मण वेश्याओं की भाँति बिकते रहेंगे। ऐसा न हो सके, इसको सुगम बनाने के लिए ब्राह्मण को स्वतन्त्र जीविकोपार्जन के साधन देने आवश्यक हो गए।

इसी प्रकार वर्ण और आश्रम के सब धर्मों को देश तथा काल के अनुकूल करने की छूट दी गई थी। अतः वर्णाश्रम धर्म अस्थायी धर्मों के पूर्ण क्षेत्रों में व्याप्त है और ये देश, काल, अवस्था के अनुसार परिवर्तनशील हैं।

भारतीय पद्धति के सनातन धर्म और वर्णाश्रम धर्म को समझ लिया जाए तो मनुष्य समाज की पूर्ण धर्म-व्यवस्था समझ में आ सकती है।

सनातन धर्म के विषय में बताया जा चुका है। वर्णाश्रम धर्म के विषय में संक्षेप में अगले अध्यायों में बताया जा रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीय अध्याय

वर्ण-धर्म

मनुष्य मात्र को दो वर्गों में बांटा गया है। दैवी स्वभाव वाले और आसुरी स्वभाव वाले। दैवी और आसुरी स्वभावों में भेद हम पुस्तक के प्रथम भाग में बता आए हैं। समाज दैवी स्वभाव वालों की होती है। आसुरी स्वभाव वालों के संगठन को समाज नहीं कहा जा सकता। उसके घटकों में समान गति नहीं होती। यह दैवी स्वभाव वालों में ही सम्भव है, अर्थात् उनमें समाज में रहने की भावना रहती है। आसुरी स्वभाव वाले कामनाओं के पीछे भागने वाले होते हैं। सबकी कामनाएं समान नहीं होतीं, अतः सबकी गति समान अर्थात् समान मार्ग में जाने वाली नहीं होती। समाज उस जन-समूह को कहते हैं, जिसकी गति समान हो। गति का अर्थ है व्यवहार।

असुरों के भाव और उनका व्यवहार तो बलपूर्वक उनको विवश कर ही एक समान किया जा सकता है। दैवी स्वभाव वालों का सम भाव तो स्वभाव और स्वेच्छा से होता है।

दैवी सम्मति वालों को चार वर्णों में विभक्त किया गया है। यह बंटवारा इस प्रकार है। भगवद्गीता में लिखा है—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥[1]

कर्म, स्वभाव और गुणों के विचार से मनुष्यों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्णों में बांटा गया है।

1. भ० गी० १८-४१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्यों का यह बँटवारा समाजवादी बँटवारे से भिन्न प्रकार का है। इसमें सम्पत्ति रखने अथवा न रखने का विचार नहीं है। सम्पत्ति रखना अथवा न रखना, यह कुछ गुणों का परिणाम हो सकता है परन्तु यह स्वयं किसी प्रकार का गुण नहीं है।

उदाहरण के रूप में तूतिया की एक डली देखने पर आँख के मूर्तिपट (retina) पर कुछ ऐसा प्रभाव होता है जिसका नाम हमने नीलवर्ण रखा है। नीला दिखाई देना तूतिया के दाने के एक गुण का स्वभाव अर्थात् परिणाम है। यह गुण इस दिखाई देने वाले रंग से भिन्न बात है। प्रकाश की प्रकृति का ध्यान रखने वाले जानते हैं कि यह गुण तूतिया के दाने में प्रकाश की नीली किरणों के अतिरिक्त सब किरणों को अपने भीतर ही समेट लेने के कारण है। केवल नीली किरण ही लौटा दी जाती है और ये मनुष्य की आँख में ऐसा प्रभाव उत्पन्न करती हैं जिसको हम नीलवर्ण कहते हैं। तूतिया का सब किरणों को अपने में समेट लेने का गुण और केवल नीली किरणों को ही बाहर फेंकने का गुण एक बात है और इसका आँख पर प्रभाव दूसरी बात है।

इसी प्रकार कुछ लोगों का गुण है कि वे परिश्रम से धन उपार्जित करते हैं और उसमें से कुछ धन पूंजी के रूप में प्रयुक्त करते हैं। धन-उपार्जन गुण है और इस गुण का परिणाम है कि सम्पत्ति निर्माण होती है। सम्पत्ति-निर्माण धन-संचय का परिणाम हो सकता है। धन-उपार्जन गुण है। सम्पत्ति एकत्रित होना परिणाम है। कभी धन संचय करने का गुण तो होता है परन्तु यह सम्पत्ति के रूप में एकत्रित हो पूंजी नहीं बन पाती। संचित धन दान-दक्षिणा में व्यय हो जाता है अथवा अन्य व्यसनों में भी व्यय हो सकता है। अतएव धन पैदा करना और उसको सम्पत्ति के रूप में व्यय करना भिन्न-भिन्न बातें हैं। एक गुण है और दूसरा उसका सम्भावित परिणाम।

भारतीय समाजशास्त्र के अनुसार मनुष्यों की श्रेणियाँ गुण के कारण मानी गई हैं न कि इन गुणों के प्रभाव के कारण। गुण है परिश्रम से धन-उपार्जन करना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केवल गुण ही मनुष्य के श्रेणीबद्ध करने में पर्याप्त नहीं माना गया। गुण, स्वभाव और कर्म इन तीनों को मिलाकर मनुष्य की श्रेणियां बनती हैं। यों तो स्वभाव, गुण और कर्म परस्पर सम्बन्धित हैं। स्वभाव से गुण उत्पन्न होते हैं और गुण से ही कर्म किये जाते हैं। समाज में वर्ण-निर्माण का मुख्य सम्बन्ध तो कर्म से ही है। इस पर भी स्वभाव और गुण, कर्मों के उत्पन्न करने वाले होने से वर्ण-व्यवस्था में मुख्य माने गए हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि स्वभाव और गुण दोनों होते हैं परन्तु कर्म सम्पन्न नहीं होता। इस पर भी स्वभाव और गुण उपस्थित होने से भी वर्ण निश्चय किया जा सकता है।

उदाहरण के रूप में ब्राह्मण वर्ग के गुण कर्म इस प्रकार हैं :

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्म कर्मस्वभावजम्॥[१]

एक ब्राह्मण में शमः, दमः, शौचः, शान्तिः ये स्वभाव हैं। तप आर्जवम् आस्तिक्य ये गुण हैं और ज्ञान-विज्ञान (प्राप्त करना अथवा देना) ये कर्म हैं।

यह सम्भव है कि किसी पुरुष में शमः, दमः, शौच, शान्ति, तप और आर्जवम् आस्तिक्य हो परन्तु वह ज्ञान-विज्ञान का कर्म न कर सके। समाज उसको कर्म करने का अवसर ही न दे। इस पर भी स्वभाव और गुण होने पर वह ब्राह्मण माना जा सकेगा।

अतः भारतीय परम्परा के अनुसार मनुष्यों के वर्ग चार हैं। ये वर्ग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण के नाम से विख्यात हैं। ये वर्ग अर्थात् वर्ण, स्वभाव, गुण और कर्म तीनों के आधार पर निर्माण किये गए हैं। इस प्रकार के विभाजन को वर्ण-व्यवस्था कहते हैं।

संपत्ति रखना अथवा न रखना इन वर्गों का लक्षण नहीं। संपत्ति किसी के किसी कर्म का परिणाम हो सकती है और किसी अन्य के उसी कर्म का परिणाम नहीं भी हो सकती। अतः वर्ण-व्यवस्था में होना अथवा न होना कोई कारण नहीं माना गया।

इस वर्ण-व्यवस्था में ऊँच-नीच का भी प्रश्न नहीं। भगवद्गीता

१. भ० गी० १८-४२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में स्पष्ट लिखा है :

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥[1]

(अपने-अपने कर्म में लगा हुआ मनुष्य अपने जीवन में सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। शब्द है संसिद्धि। अर्थ है अपने उद्देश्य को भली प्रकार प्राप्त कर सकना।)

अतः ब्राह्मण का कार्य समाज में जितना अच्छा है उतना ही एक शूद्र, वैश्य अथवा क्षत्रिय का भी है। समाज में सबका अपना-अपना कार्य है और अपना-अपना स्थान है। समाज किसी को ऊंचा अथवा नीचा नहीं मान सकता। मनुष्य के स्वभाव तथा गुण के अनुसार उससे कर्म लेने से वह ऊँचा अथवा नीचा नहीं समझा जा सकता। ऊंच-नीच वेतन अथवा संपत्ति के अनुसार नहीं माननी चाहिये। इसका आधार दूसरा ही है। वह हम आगे चलकर बतायेंगे। यहाँ तो यह समझ लेना चाहिए कि समाज के सब घटक, चाहे वे किसी भी वर्ण के हों, मनुष्य होने के नाते सब समान हैं। यदि इस बात को और भी स्पष्ट किया जाये तो यह कहा जा सकता है कि मानव अधिकार (human rights) मनुष्य मात्र के समान हैं।

एक बात यहाँ और समझ लेनी चाहिये कि भारतीय परम्परा में वर्ण जन्म से नहीं माने गये। शास्त्र इस विषय में सर्वथा स्पष्ट है।

भारतीय समाज-शास्त्र की सबसे पुरानी और सर्वमान्य पुस्तक 'मनुस्मृति' में जहाँ वर्ण-धर्म का उल्लेख किया गया है, वहाँ स्वभाव, गुण और कर्म का उल्लेख तो किया है, परन्तु जन्म का उल्लेख नहीं है।

वहाँ लिखा है—

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः ।
मुखबाहूरुपाज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत् ॥
अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहञ्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥

१. भ० गी०, १८-४५ ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययन मेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥
पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदञ्च वैश्यस्य कृषिमेव च ।
एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥[1]

अर्थात्—इस सारे संसार का काम चलाने के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चारों वर्णों के कार्य की पृथक्-पृथक् कल्पना की है। ये ऐसे ही हैं, जैसे शरीर में मुख, बाहु, उरु और पाँव पृथक्-पृथक् कार्य करते हैं।

पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ कराना, दान देना और लेना ये कर्म ब्राह्मण के माने हैं।

प्रजाओं की रक्षा करना, वेद पढ़ना, दान देना, यज्ञ करना, ये कर्म क्षत्रियों के हैं।

पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार करना, खेती करना, धन का ब्याज लेना, ये वैश्य के कर्म हैं।

शूद्र के लिये एक ही कर्म हैं। वह अपने स्वामी का काम लग्न से करे। यहाँ और किसी अन्य स्थान पर भी यह नहीं लिखा कि ब्राह्मण का लड़का ब्राह्मण होता है। इसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के विषय में विचार कर लेना चाहिए।

यह बात तो लिखी है कि अपने पिता के कर्म पुत्र भी करने लगता है। यह बहुधा देखने में आता है, परन्तु साथ ही यह भी लिख दिया है—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणैश्चेति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥[2]

(शूद्र ब्राह्मण हो जाता है और ब्राह्मण शूद्र बन जाता है। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य भी अपने वर्ण से गिरकर दूसरे वर्ण में जा सकते हैं।)

---

१. मनु० १-८७-८८-८९-९०-९१ २. वही १०-६५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महाभारत में भी इस विषय पर स्पष्ट लिखा है—

शूद्रो राजन् भवति ब्रह्मबन्धुर्दुश्चारित्रो यश्च धर्मादपेतः ।
वृषलीपतिः पिशुनो नर्तनश्च राजप्रेष्यो यश्च भवेद् विकर्मा ।।
जपन् वेदानजपंश्चापि राजन् समः शूद्रैर्दासवच्चापि भोज्यः ।
एते सर्वे शूद्रसमा भवन्ति राजन्नेतान् वर्जयेद् देवकृत्ये ।।
यः स्याद् दान्तः सोमपश्चार्यशीलः सानुक्रोशः सर्वसहो निराशीः ।
ऋजुर्मृदुरनृशंसः क्षमावान् सर्व विप्रो नेतरः पापकर्मा ।।[1]

अर्थात्—जो ब्राह्मण दुश्चरित्र, धर्महीन, शूद्रजातीय, कुलटा स्त्री से सम्बन्ध रखने वाला, चुगलखोर, नाचने वाला राज-सेवक तथा दूसरे (वर्णों के) कर्म करने वाला होता है, वह ब्राह्मण पद से गिरकर शूद्र हो जाता है । जो मन और इन्द्रियों को संयम में रखने वाला, सोम याग करके सोम रस पीने वाला, ब्रह्मचारी, सब-कुछ सहन करने वाला, निष्काम, सरल, मृदु, क्रूरता-रहित और क्षमाशील हो, वही ब्राह्मण कहलाने योग्य है । उससे भिन्न जो पापाचारी है, उसे ब्राह्मण नही समझना चाहिए ।

इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि वर्ण-व्यवस्था में कर्म ही मुख्य कारण है ।

आज हिन्दू समाज में यह व्यवस्था नहीं देखी जाती । उसमें जन्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की बात प्रचलित है । इस पर भी यह शास्त्रोक्त नहीं । ऐसा प्रतीत होता है कि किसी प्रकार यह जन्म से वर्ण-व्यवस्था चली तो परतन्त्रता के कारण यह हटायी नहीं जा सकी । देश के स्वतन्त्र होने से जन्म-जात वर्ण-व्यवस्था हटती जाती है ।

यहाँ हमारा केवल इस बात को बताने से अभिप्राय है कि मानव-समाज में मुख्य रूप में चार प्रकार के कर्म हैं और समाज का विभाजन उनके अनुसार होना चाहिए । इस विभाजन का सम्बन्ध, जहाँ धन सम्पदा से नहीं, वहाँ इनका सम्बन्ध माता-पिता से भी नहीं ।

1. महा० भा०, शां०, ६३-४-५-८ ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनका सम्बन्ध कर्म से है और मनुष्य अपने-अपने वर्ण का कर्म करता हुआ सिद्धि प्राप्त कर सकता है। सिद्धि का अर्थ सफलता है। यह सफलता लौकिक हो सकती है और पारलौकिक भी हो सकती है।

यह है समाज का विभाजन। इसका प्रयोजन समाज में व्यवस्था रखना है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तृतीय अध्याय

आश्रम धर्म

मनुष्य के कर्म और कर्तव्य आयु के साथ भी बदलते हैं। अतः इन व्यक्तिगत धर्मों की भी व्यवस्था की गई है। इनको आश्रम-धर्म-व्यवस्था कहते हैं। ये धर्म भी अस्थायी हैं। ये मनुष्य में आवश्यक होते हुए भी सबके लिए और सब परिस्थितियों में एक समान नहीं हैं।

उदाहरण के रूप में लड़के-लड़की के लिए पच्चीस वर्ष की आयु तक अध्ययन का काल निश्चित है। परन्तु लड़कियाँ प्रायः इस आयु तक विवाह के योग्य मान विवाह दी जाती हैं। तब वे अध्ययन कर नहीं सकतीं। अथवा कुछ लड़के उच्च शिक्षा ग्रहण करने की योग्यता नहीं रखते। उनकी बुद्धि इतनी तीव्र होती ही नहीं कि वे उच्च शिक्षा ग्रहण कर सकें। ऐसे लड़कों का शिक्षा काल शीघ्र ही समाप्त हो जाता है।

यही बात संन्यास आश्रम की है। इसमें विधान यह है कि इस आश्रम में मनुष्य घर में न रहे और अपने ज्ञान और अनुभव का लाभ जन-साधारण को देता फिरे।

परन्तु जो मनुष्य स्वयं उच्च शिक्षा प्राप्त नहीं कर सका, साथ ही जिसका किसी कारण से अनुभव भी बहुत कम है, वह भला उक्त संन्यास आश्रम की बात कैसे कर सकेगा। ऐसा मनुष्य एक स्थान पर रहता हुआ भगवद्भजन ही कर सकेगा।

अतः यह समझ लेना चाहिए कि आश्रम धर्म भी देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते हैं।

महाभारत में इसके विषय में इस प्रकार लिखा है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वानप्रस्थं भैक्ष्यचर्यं गार्हस्थ्यं च महाश्रमम् ।
ब्रह्मचर्याश्रमं प्राहुश्चतुर्थं ब्राह्मणैर्वृतम् ।।
जटाधारणसंस्कारं द्विजातित्वमवाप्य च ।
आधानादीनि कर्माणि प्राप्य वेदमधीत्य च ।।
सदारो वाप्यदारो वा आत्मवान् संयतेन्द्रियः ।
वानप्रस्थाश्रमं गच्छेत् कृतकृत्यो गृहाश्रमात् ।।
तत्रारण्यकशास्त्राणि समधीत्य स धर्मवित् ।
ऊर्ध्वरेताः प्रव्रजित्वा गच्छत्यक्षरसात्मताम् ।।[1]

अर्थात्—ब्रह्मचर्य आश्रम, महान् गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम और संन्यास आश्रम—ये चार आश्रम हैं। चौथा आश्रम प्रायः ब्राह्मण ही ग्रहण करते हैं।

चूड़ा कर्म संस्कार के उपरान्त द्विजत्व को प्राप्त कर अर्थात् उपनयन लेकर वेदाध्ययन कर, गार्हस्थ्य आश्रम में अग्निहोत्रादि कर्म सम्पन्न कर संयमी स्त्री-पुरुष गृहस्थ आश्रम में कृतकृत्य होकर वानप्रस्थ में प्रवेश करें।

वहाँ पुरुष आरण्य शास्त्रों का अध्ययन करता हुआ, ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ चौथे आश्रम को ग्रहण करे। इस प्रकार संन्यास लेने वाला अविनाशी परमभाव को प्राप्त होता है।

यह विधान है आश्रमों का। साधारण रूप में ब्रह्मचर्य आश्रम की अवधि पच्चीस वर्ष की आयु तक की है। गृहस्थ आश्रम पचास वर्ष की आयु तक चलना चाहिये। तदनन्तर संन्यास आश्रम चलता है। इस पर भी यह तो है ही कि यह आयु का विधान बदल भी सकता है।

इस प्रकार वर्ण आश्रम धर्म में पूर्ण समाजशास्त्र समा जाता है। मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक सब प्रकार के कर्तव्यों को धर्म में बाँध दिया है। यह हम बता चुके हैं कि सनातन धर्म सब आश्रमों और वर्णों में अपरिवर्तनशील हैं। उनमें हेर-फेर नहीं हो सकता। परतु वर्ण धर्म तथा आश्रम धर्म देश, काल, आयु तथा परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते हैं।

---

१. वही शां० ६१-२, ३, ४५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन बदलने वाले धर्मों को कौन बदल सकता है। यह हम अगले अध्याय में लिखेंगे। धर्म व्यवस्था कौन दे सकता है? यह एक महान् प्रश्न है।

यहाँ तो हम केवल यही बताना चाहते हैं कि अस्थायी धर्मों की व्यवस्था क्या है? भारतीय परम्परा के अनुसार व्यक्ति और समाज के सब कर्तव्य इन दो प्रकार के, सनातन और परिवर्तनशील धर्मों में ही समा जाते हैं। परिवर्तनशील धर्म वर्ण धर्म और आश्रम धर्म में आ जाते हैं।

वर्तमान युग के समाजशास्त्री इस बात का हो-हल्ला करते देखे जाते हैं कि समय बदलने के साथ मानव समाज की परिस्थितियाँ बदल रही हैं और मानव धर्म भी बदलने चाहिए। यह बात ठीक है कि परिस्थितियाँ बदल रही हैं और धर्मों में परिवर्तन होना चाहिये। इसी कारण तो वर्णाश्रम धर्मों को अस्थायी अर्थात् परिवर्तनशील बताया है। इस पर भी यह निर्विवाद बात है कि मानव में कार्य करने के स्रोत तो वही के वही हैं, जो लाखों वर्ष पूर्व मनुष्य में विद्यमान थे।

कोई मनुष्य क्यों कार्य करता है, इसमें शास्त्र का मत यह है—

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥[1]

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय, ये तीन कर्म के प्रेरक हैं। कर्म की व्यवस्था करने के लिए ही धर्म का निर्माण हुआ है। कर्म के प्रेरक हैं (१) जानने वाला। इसको परिज्ञाता कहा है। (२) दूसरा प्रेरक ज्ञान और (३) तीसरा है उद्देश्य, जिसको ज्ञेय लिखा है। ये तीनों तो प्रेरक हैं। तीनों में मुख्य है ज्ञाता। ज्ञान और उद्देश्य तो केवल प्रेरणा देने वाले हैं। इस पर भी कर्म करना अथवा न करना परिज्ञाता के ही अधीन हैं। यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि परिज्ञाता और कर्त्ता में अन्तर है। परिज्ञाता होते हुए भी मनुष्य कर्त्ता नहीं भी हो सकता है। इस कारण अन्तर माना है।

कर्त्ता के कर्म करने में कौन-कौनसे हेतु हो सकते हैं? यह भी

१. भ० गी० १८-१८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शास्त्र में लिखा है—

पंचेमानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ॥[1]

यह सांख्य दर्शन में वर्णन किया है कि मनुष्य कर्म में क्या-क्या कारण हैं। ये पाँच लिखे हैं—(१) अधिष्ठान अर्थात् प्राप्तव्य उद्देश्य (२) कर्ता अर्थात् कर्म करने वाला (३) साधन (४) चेष्टाएँ (५) दैव।

उदाहरण के रूप में, कोई मनुष्य भारत से अमेरिका जाना चाहता है। इसमें अमेरिका अधिष्ठान हो गया। यदि कोई विद्यार्थी रसायन शास्त्र पढ़ना चाहता है तो साइंस पढ़ना अधिष्ठान माना जायेगा। इसी प्रकार कोई मनुष्य करोड़पति बनना चाहता है तो करोड़पति बनना अधिष्ठान हो गया।

दूसरा हेतु है कर्ता। उद्देश्य हो जाने के उपरांत भी कर्ता की इच्छा न हो तो कुछ नहीं हो सकेगा। अतएव अधिष्ठान बन जाने के उपरान्त भी कर्ता की इच्छा का होना कर्म के लिए अत्यावश्यक है।

कर्म में तीसरा हेतु साधन है। उद्देश्य बन गया कि अमेरिका जाना चाहिए। जाने वाले की इच्छा भी बन गई। इसके उपरांत भी जाना नहीं हो सकता, जब तक जाने के साधन न हों। धन तथा वाहन इत्यादि होने चाहिएँ। इसी प्रकार रसायनशास्त्र का ज्ञान, पढ़ने वाले विद्यार्थी का उद्देश्य बन गया। विद्यार्थी की इच्छा भी है, परन्तु अध्यापक, प्रयोगशाला और पुस्तकें इत्यादि के बिना पढ़ाई नहीं हो सकती।

चौथा हेतु है चेष्टा, अर्थात् प्रयत्न करना। उद्देश्य, कर्ता और साधन होने पर भी जब तक प्रयत्न नहीं किया जाएगा, तब तक कर्म नहीं होगा। विद्यार्थी के मन में इच्छा भी हो गई। कालेज, अध्यापक और प्रयोगशाला इत्यादि हो जाने पर भी जब तक विद्यार्थी प्रयत्न

१. भ० गी० १८-१३, १४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं करेगा, तब तक कर्म नहीं हो सकेगा।

पाँचवाँ हेतु है दैव। इसका अर्थ है भाग्य। इसको अदृश्य भी कहते हैं। जैसे पूर्व जन्म के कर्म हैं। वे दिखाई नहीं देते और उनके फल भी दिखाई नहीं देते। इनके फलस्वरूप कई बार पूर्व के चारों हेतु होते हुए भी कर्म नहीं हो पाता। अथवा फल प्राप्ति नहीं हो सकती। यह दैव के कारण माना जाता है।

हमने बताया है कि कर्म के प्रेरक तीन हैं। ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता। परिज्ञाता की इच्छा और प्रयत्न अत्यावश्यक है। इस पर भी कर्म के होने में हेतु पांच हैं। प्रेरणा और हेतु भिन्न-भिन्न अर्थ के सूचक हैं। पांच हेतु हैं—उद्देश्य, कर्ता, साधन, प्रयत्न और दैव। इनमें कर्ता मुख्य है।

इतना बताकर हम समाज-शास्त्रियों से पूछते हैं कि वे बतायें, क्या बदला है अथवा क्या बदल रहा है? इस प्रकार विचार करने से पता चलेगा कि कर्ता तो ज्यों-का-त्यों ही है; जैसा लाखों वर्ष पूर्व था, वैसा आज भी है। उसकी इन्द्रियाँ, मन और आत्मा तो वैसा का वैसा ही है। आखिर मनुष्य मन, शरीर और आत्मा का ही संयोग है न। अतः मनुष्य अर्थात् कर्ता में तो अन्तर पड़ा नहीं। अन्तर पड़ा है ज्ञान और साधनों में। शेष तीनों तो बदले नहीं। ज्ञान और साधनों से कर्म में अन्तर पड़ा है तो मात्रा और दिशा में ही पड़ा है।

मान लीजिये, कोई मनुष्य धन संचय करना चाहता है भोग करने के लिए। धन संचय करने में प्रेरकों में कामना और परिज्ञाता तो अपरिवर्तनशील ही हैं। कामना है धन का भोग। यह इन्द्रियों के विषय बदले नहीं। ये बदल नहीं रहे। इसी प्रकार ज्ञाता अर्थात् विषयों के ज्ञाता भी नहीं बदले। यह है आत्मा और मन। अतएव बदला है ज्ञान। यह बदलता रहता है उद्देश्य का ज्ञान और साधनों का ज्ञान।

इसी प्रकार हेतुओं में भी केवल साधन ही बदले हैं। साधनों के बदलने में भी ज्ञान की वृद्धि अथवा ह्रास ही कारण हो सकता है। अन्त में यह पता चलेगा कि प्रेरकों और हेतुओं में मुख्य कर्ता अधिष्ठान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और चेष्टा में अन्तर नहीं पड़ा।

इस कारण कर्म में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ा। अतः धर्म जो कर्म को व्यवस्थित करने के लिए विचार किया गया है, सिद्धान्त में नहीं बदला।

आज जो तकनीकी उन्नति हुई है और उससे अनेकानेक प्रकार के पदार्थ उपलब्ध होने लगे हैं, उनसे न तो कर्ता का निर्माण हुआ है, न ही उनकी कामनाओं का। अतः कर्म करने में धर्म-अधर्म की व्याख्या में अन्तर नहीं पड़ सकता।

विचार करिये कि रेल, तार, हवाई जहाज बन जाने से क्या चोरी करने की प्रवृत्ति में और चोरी करने की इच्छा-अनिच्छा में अन्तर पड़ा ? अन्तर पड़ा है तो चोरी करने की मात्रा में अथवा इसकी गति में, विधि में। जहाँ तक चोरी अर्थात् अधर्म का सम्बन्ध है, यह तो बदला नहीं।

अतएव हमारा यह कहना है कि परिवर्तनशील धर्म-व्यवस्था में भी सिद्धान्त रूप में कोई अन्तर नहीं पड़ने वाला।

कर्ता—आत्मा, मन और इन्द्रियों का संयोग—और कामनाएँ अर्थात् सुख की इच्छा और दुःख की निवृत्ति की अभिलाषा, तो बदली नहीं। साधनों में परिवर्तन हुए हैं। तकनीकी उन्नति का इतना मात्र परिणाम हुआ है। इससे कर्म और फिर उसकी व्यवस्था करने वाले धर्म में सैद्धान्तिक परिवर्तन की आवश्यकता नहीं आनी चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चतुर्थ अध्याय

धर्म में व्यवस्था देने वाले

यह तो हम लिख चुके हैं कि सनातन धर्मों में व्यवस्था देने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। सनातन धर्म तो सर्वत्र और सदा पालन करने के लिए हैं। वास्तव में व्यवस्था का विषय है अस्थायी धर्म। दूसरे शब्दों में वर्णाश्रम धर्म के विषय में समय-समय पर व्यवस्था देने की आवश्यकता है।

यह हमने बताया है कि वर्णाश्रम धर्म के अतिरिक्त समाज और व्यक्ति के लिए अन्य कुछ कर्तव्य ही नहीं। यदि कुछ है तो वे केवल एक व्यक्ति के अपने अन्तरात्मा से सम्बन्ध रखने वाली बातें। अर्थात् व्यक्ति के मोक्ष से सम्बन्ध रखने वाली बातें हैं। इस विषय में किसी दूसरे का सम्बन्ध नहीं है।

वर्णाश्रम धर्म में भी कुछ कर्तव्य ऐसे हैं, जिनमें कोई बाहर का व्यक्ति केवल सम्मति ही दे सकता है। उनमें किसी प्रकार का दण्ड-विधान नहीं हो सकता। जब हम दण्ड शब्द का प्रयोग करते हैं, तो हमारा अभिप्राय केवल राजदण्ड से ही नहीं। हम मानते हैं कि कुछ ऐसे काम हैं, जिनमें राजदण्ड प्रभावहीन होता है। उनमें केवल समाज द्वारा बहिष्कार, घृणा, निन्दा इत्यादि दण्ड ही प्रभावशाली सिद्ध होते हैं। इस प्रकार के दण्ड को सामाजिक स्वीकारोक्ति (Sanctions) का नाम दिया जाता है।

एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायेगी। कोई स्त्री-पुरुष वयस्क हैं। वे अपना सम्बन्ध बिना विवाह की रस्म के बना लेते हैं। उनके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस काम को राज्य की ओर से दंडित नहीं किया जा सकता। राज्य मना करे तो उसका मना करना प्रभावहीन ही होगा। वे राज्य के कर्मचारियों से ओझल हो सम्बन्ध बना लेंगे। वे राज्य की ओर से दंडित नहीं हो सकते। हाँ, इस अवस्था में उस पुरुष और स्त्री के सम्बन्धी, बिरादरी के लोग अथवा मुहल्ले तथा नगर के लोग उनका बहिष्कार कर सकते हैं। इस बहिष्कार का प्रभाव भी हो सकता है।

एक और उदाहरण ले सकते हैं। सिखों में उनके मतानुसार तम्बाकू पीना वर्जित है। कोई सिख सिगरेट पीता है तो वह राज्य से दंडित नहीं हो सकता। वह केवल सिख समाज की ओर से बहिष्कृत ही हो सकता है।

परन्तु हमारा कथन है कि कुछ वर्णाश्रम धर्म की बातें ऐसी हैं, जिनके उल्लंघन पर केवल सम्मति ही दी जा सकती है और दण्ड नहीं दिया जा सकता। हमारा अभिप्राय यह है कि न तो राजदण्ड और न ही समाज का बहिष्कार प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं।

उदाहरण के रूप में स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध, जब स्त्री रजस्वला हो, वर्जित है। इसमें बाहर के लोग, डाक्टर, वैद्य इत्यादि केवल सम्मति ही दे सकते हैं। यह दण्ड का विषय नहीं।

इसी प्रकार एक विद्यार्थी के लिए विद्याध्ययन धर्म है। एक कालेज का विद्यार्थी कालेज जाता है, श्रेणी में भी जा बैठता है, परन्तु पढ़ाई में ध्यान नहीं लगाता। भला इसके लिए क्या दंड हो सकता है?

अतः कुछ वर्णाश्रम धर्म ऐसे हैं जिनके पालन न करने के लिए किसी प्रकार का दंड-विधान नहीं हो सकता। न तो राज्य की ओर से और न ही समाज के बहिष्कार इत्यादि से।

प्रायः वर्णाश्रम धर्म ऐसे हैं जिनमें समाज के घटक ही दंड का विधान करते हैं। उनमें राज्य हस्तक्षेप नहीं कर सकता। जैसे परस्त्री-गमन है। जब स्त्री-पुरुष स्वेच्छा से ऐसा करें तो सामाजिक बहिष्कार ही इसका उपाय हो सकता है।

अतः वर्णाश्रम के प्रायः धर्म-पालन कराने के लिए प्रेरणात्मक उपाय (Prescription and persuasion) ही प्रयोग में लाये जा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकते हैं। इनमें राज्यदंड ठीक नहीं और सम्भव भी नहीं।

एक ब्राह्मण है। उसका स्वभाव ब्राह्मणों का है। उसमें गुण भी ब्राह्मणों के हैं परन्तु वह कार्य ब्राह्मणों के नहीं करता, अर्थात् एक मनुष्य जो शम, दम, शौच, शान्ति और आर्जव का स्वभाव रखता है, उसमें विद्या, ज्ञान-विज्ञान इत्यादि के गुण भी हैं, परन्तु वह पढ़ता-पढ़ाता नहीं, न ही यज्ञ कर्म करता-कराता है। भला ऐसे व्यक्ति के लिए भी कोई दंड होगा? उसके लिए केवल सामाजिक बहिष्कार ही एक उपाय है। उसकी समाज में उचित मान-प्रतिष्ठा का न होना ही उसको अपने कर्तव्य-पालन की प्रेरणा दे सकते हैं।

इसी प्रकार अन्य वर्णों के धर्म हैं; परन्तु प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यह प्रेरणा कौन करे और प्रेरणा का विषय कौन निश्चित करे!

वर्णाश्रम धर्म के दो भेद हैं। एक वे धर्म हैं जिनके पालन करने अथवा न करने पर समाज के दूसरे किसी एक अथवा अनेक घटकों पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरणस्वरूप, स्वास्थ्य के विषय में धर्म है कि भोजन उतना होना चाहिए, जितना मनुष्य पचा सकता हो। साथ ही वह ऋतु, काल, आयु और देश के अनुसार हो। एक कोई मनुष्य ऋतु, काल, आयु और देश का विचार न करता हुआ जो मन में आता है खाता चला जाता है। यह मनुष्य अधर्म तो करता है, परन्तु यह धर्म न तो राजदंड का विषय है और न ही किसी से बहिष्कार का। यह केवल ताड़ना और प्रेरणा का विषय ही हो सकता है। यह व्यक्तिगत धर्म है।

परन्तु जब कोई मनुष्य विवाह कर सन्तान उत्पन्न कर उसको सड़क पर फेंक देता है तो वह एक ऐसा अधर्म करता है जो व्यक्तिगत नहीं रह जाता। इससे कर्म करने वाले के अतिरिक्त किसी दूसरे पर भी प्रभाव पड़ता है। अतः यह वर्णाश्रम धर्म होते हुए भी सामाजिक धर्म का उल्लंघन है। इस कारण वह व्यक्ति न केवल समाज द्वारा बहिष्कार एवं घृणा का पात्र है, वरंच राज्यदंड का भी पात्र है।

अतः सनातन धर्मों की भांति वर्णाश्रम धर्म भी व्यक्तिगत और सामाजिक दो श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं। —श्रम धर्मों में भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक धर्मों का उल्लघन ही दंडित हो सकता है। दंड देने वाला राज्य हो सकता है। समाज भी बहिष्कार इत्यादि से दंड दे सकता है।

दंड देने में छः बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। (१) धर्म क्या है ? (२) अधर्म क्या है ? (३) अधर्म, कर्ता के अतिरिक्त किन घटकों को कष्ट दे रहा है। (४) यह कष्ट कितना है ? (५) अधर्म करने वाले को कितना और क्या दंड देना चाहिये (६) यह दंड किस प्रकार दिया जाये ?

इन सबका निर्णय कौन करे और किस आधार पर करे ? यह एक अति महत्व का विषय बन गया है।

उक्त छः बातों में धर्म-अधर्म और उसमें दड की मात्रा का निर्णय करने के लिए तो धर्मशास्त्रियों की आवश्यकता होती है। जो व्यक्ति धर्म अर्थात् कानून के विषय को जानता नहीं, साथ ही जिसका मनोविज्ञान में अध्ययन नहीं, वह कानून जैसे विषय में सम्मति नहीं दे सकता। दूसरे शब्दों में कानूनी मजलिस (Legislature) में वे ही सदस्य हो सकते हैं, जो उक्त गुण रखते हों। यह बात जनसाधारण के हित में है कि कानून बनाने वाली सभा में धर्म के ज्ञाता ही हों। अन्यथा वे धर्म को अधर्म घोषित कर देंगे और अधर्म को धर्म मान बैठेंगे। फिर अन्याय का विस्तार हो जाएगा।

धर्म-शास्त्रियों द्वारा निश्चय किये धर्म और उनके उल्लंघन में दंड का विधान करने के लिए निष्पक्ष, निस्पृह और समाजशास्त्र के जानने वाले लोग होने चाहिये। आज के काल में यह भावना बन गई है कि जनता के प्रतिनिधि ही उक्त दोनों प्रकार के कार्य करने में योग्य हैं और केवल वे ही योग्य हो सकते हैं। यह बात सर्वथा अयुक्ति-युक्त और अव्यावहारिक है। इसमें दोष यह है कि (१) जनता इस बात की परीक्षा करने की योग्यता रखती है कि अमुक व्यक्ति धर्म-कर्म का ज्ञाता है अथवा नहीं, कहा नहीं जा सकता। जनता के प्रतिनिधि जनता के बहुमत से ही निर्वाचित होंगे और बहुमत बुद्धिमानों का ही होगा, कोई नहीं कह सकता। मत-गणना बुद्धि की परीक्षा है, यह तो कोई मूर्ख ही मानेगा। (२) इसके अतिरिक्त जब धर्माधिकारी और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्याय-कर्ता जनता के मत से नियुक्त होंगे तो धर्म की व्यवस्था देते समय उनकी जनता की रुचि का सदा ध्यान रखना पड़ेगा। धर्म की माँग और जनता की माँग सदा एक ही होगी, सम्भव नहीं।

जनता का बहुमत सुख और सुविधा को तो पसन्द करता है, परन्तु धर्म और सुख-सुविधा पर्यायवाचक शब्द नहीं भी हो सकते। अतः न्यायशास्त्री और धर्म-व्यवस्था देने वाले जनता के प्रतिनिधि नहीं हो सकते। ये लोग किसी ऐसे मापदंड से नापने पड़ेंगे, जिसका सम्बन्ध शिक्षा, अनुभव और चरित्र से होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंचम अध्याय

धर्मानुसार शासन

शासन का अर्थ व्यक्तियों को शिकंजे में कसकर रखना नहीं है। इसके विपरीत यह भले लोगों को अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता का भोग कराने के निमित्त निर्माण किया गया है। मनुष्य की स्वतन्त्रता में बाधक कुछ प्राकृतिक विवशताएँ हैं। उदाहरण के रूप में एक मानव-शिशु बिना माता-पिता की सहायता के जीवित नहीं रह सकता और अपनी प्राकृतिक शक्तियों में विकास नहीं पा सकता। अतः यदि किसी शिशु को जीवित रखना है तो उसके पालन-पोषण का प्रबन्ध होना चाहिए। जो कोई भी उसके जीवन, मानसिक तथा आत्मिक विकास का सुचारु रूप से प्रबन्ध कर सके, उसकी नियुक्ति होनी चाहिए।

इन प्राकृतिक विवशताओं से यथासम्भव रक्षा समाज का कर्तव्य है। कुछ प्राकृतिक विवशताएँ ऐसी भी हो सकती हैं जिनमें समाज और कोई भी मनुष्य सहायक नहीं हो सकता। उदाहरण के रूप में जरा अवस्था और मृत्यु है।

मनुष्य की स्वतन्त्रता में बाधक मुख्य रूप में राजसी और तामसी प्रवृत्ति के लोग होते हैं। राज्य मुख्य रूप में ऐसे लोगों से, भले लोगों की रक्षा के लिए निर्माण किया गया है।

यह हम पुस्तक के पूर्व भागों में लिख चुके हैं कि कामनाओं की वृद्धि राजसी गुणों से होती है। जब कामनाएँ किसी मनुष्य की पूर्ति की सामर्थ्य से बढ़ जाती हैं, तब रजोगुणी मनुष्य तमोगुण के अधीन हो जाते हैं और वे दूसरों को अपने उचित परिश्रम तथा योग्यता से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्त अधिकार से वंचित करने लगते हैं। शासन ऐसे लोगों से भले लोगों की रक्षा के लिए बना है।

यही बात अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में होती है। व्यक्तियों की भाँति जातियाँ भी रजोगुण के अधीन कामनाओं को सीमा से अधिक बढ़ा लेती हैं। और फिर उनकी पूर्ति में तमोगुण के प्रभाव में आ जाती हैं। ऐसी जातियों से भली जातियों की रक्षा का भार भी भले देशों के शासन पर होता है।

अभिप्राय यह है कि शासन दैवी स्वभाव की जनता की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए निर्मित किया गया है। यह व्यक्तियों के अधिकारों को संकुचित करने के लिए नहीं बना।

मनुष्यों के अधिकार शासन निश्चित नहीं करता। शासन तो केवल अधिकारों की रक्षा के लिए निर्मित हुआ है। अधिकार धर्म-संगत होने चाहिएँ और इनका निश्चय धर्मशास्त्री ही कर सकते हैं। धर्मशास्त्री कौन हों इस विषय में हम पिछले अध्याय में लिख चुके हैं।

न्याय-संगत अधिकार क्या हैं? इनका निर्णय शासन के हाथ में दिया गया तो दुर्बल शासन भले लोगों के उन अधिकारों की, जिनकी वह रक्षा नहीं कर सकता, चिन्ता भी नहीं करेगा और आसुरी प्रवृत्ति वाले अर्थात् तमोगुणों के अधीन रजोगुणी लोग, भले लोगों को लूटकर खा जायेंगे।

यह बात एक उदाहरण से स्पष्ट करेंगे। मनुष्य कितनी सम्पत्ति रखे? इसका निर्णय तो वे लोग ही कर सकते हैं, जो सम्पत्ति के निर्माण की प्रक्रिया को जानते हैं और उसमें धर्म-संगत और अधर्म-संगत व्यवहार को समझते हैं। ये लोग शासन से पृथक् रहकर ही निर्णय करेंगे तो धर्म-संगत निर्णय दे सकेंगे। यदि सम्पत्ति रखने का निर्णय शासन के हाथ में होगा, तो उसके निर्णय में शासन की दुर्बलता अथवा सबलता प्रतिध्वनित हो उठेगी। जो शासन भले लोगों की सम्पत्ति की दुष्टों से रक्षा नहीं कर सकेगा वह सम्पत्ति की सीमा, इतनी कम कर देगा, जिसको कोई लूटने के लिए लालायित ही न हो सके।

जैसे यह बात सम्पत्ति के विषय में कही जा सकती है, वैसे ही यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी की धर्म-संगत आय के विषय में भी हो सकती है। यह बात उद्योग युग के आरम्भ में हुई थी। योरोप में जब उद्योगों में प्रगति होने लगी तो, उस समय वहाँ की सरकारें अति दुर्बल थीं और वे श्रमिकों के उचित वेतन भी उनको दिला नहीं सकीं। अतः श्रमिकों के श्रम को लूटने वाले मनमानी करते जाते थे।

उस समय सम्पत्ति और श्रम का मूल्य निश्चय करने वाला कोई ऐसा व्यक्ति नहीं था जो इन बातों की धर्म-युक्त व्यवस्था कर सकता और फिर उस व्यवस्था को शासन में लागू करने की सामर्थ्य रखता। उस समय सरकारें दुर्बल थीं। वे उद्योगपतियों एवं व्यापारियों के आश्रय थीं। अतः उनकी इच्छा के विरुद्ध न्याय का पक्ष भी ले नहीं सकीं।

आज भी यही बात हो रही है। सरकार सर्वसाधारण के अधीन है। इसे प्रति पाँच वर्ष के उपरान्त जनसाधारण से समर्थन प्राप्त करना पड़ता है। अतः जैसी बहुसंख्यक जनता है, वैसी ही धर्म-व्यवस्था बन रही है। बुद्धिमान, दूरदर्शी, निर्भीक, उत्साही और मेहनती कम संख्या में होने से, सरकार द्वारा बनाई धर्म-व्यवस्था, परिश्रम का मूल्य और सम्पत्ति का स्वामित्व काहिल, जाहिल और आलसी तथा भोग-विलास के इच्छुक लोगों के पक्ष में कर रही है। इस प्रकार सम्पत्ति अर्थात् परिश्रम का मूल्य सबका साँझा माना जा रहा है। यह इस कारण कि शासन धर्म-व्यवस्था देने वाला बन रहा है और शासन ऐसे लोगों के समर्थन पर निर्भर है, जिन में प्रायः आलसी, प्रमादी, अदूरदर्शी, अशिक्षित और बुद्धि के कोल्हू अधिक हैं।

हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि धर्म-व्यवस्था अर्थात् न्याय से कितना किसका है, का निर्णय न तो वे कर सकते हैं, जिनके अधिकार का निश्चय करना है, न ही शासन कर सकता है, जिसने शान्ति-व्यवस्था रखनी है।

मान लीजिए कि किसी नगर में लूट मच रही है। नगर के गुंडे भले लोगों को लूटने लगे हैं। वहाँ शान्ति-स्थापना के लिए पुलिस भेजी जाती है। उस पुलिस को ही न्यायकर्ता बना दिया जाता है, अर्थात्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसको यह निर्णय करने का अधिकार दे दिया जाता है कि किसका क्या है। पुलिस, जिसका काम शीघ्रातिशीघ्र शान्ति-व्यवस्था स्थापित करना है, वह जो जिसका लूटकर ले गया है, लूटने वाले का ही घोषित कर दे तो शान्ति कम-से-कम समय में स्थापित हो सकेगी।

यही बात आज भारत में हो रही है। एक समय सरकार ने तीन आदमियों का एक आयोग बनाया था, जो देश में राज्यों का पुनर्गठन करे। आयोग ने निश्चय किया कि बम्बई नगर महाराष्ट्र में जाये और हिमाचल प्रदेश पंजाब में मिला दिया जाये। नेहरू सरकार को यह समझ आया कि यह ठीक नहीं। सरकार जनता में असंतोष से डर गई और बम्बई को गुजरात में मिला दिया तथा हिमाचल प्रदेश को पंजाब में नहीं मिलाया गया। इसके उपरान्त मरहटों ने बम्बई में गुजरातियों को मारना-पीटना आरम्भ कर दिया। परिणाम यह हुआ कि बम्बई महाराष्ट्र में मिला दिया गया। इधर अकालियों ने धमकाना आरम्भ कर दिया। पंजाब का विभाजन भाषा के विचार से कर दिया और अकाली प्रसन्न हो गये।

हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि जो संस्था शान्ति स्थापित करने के लिए नियुक्त हो, वही धर्म-व्यवस्था देने वाली हो जाए तो धर्म-व्यवस्था उसकी इच्छानुसार दी जाने लगेगी जो शान्ति भंग करने की सामर्थ्य रखेगी। अतः यदि न्याय-अन्याय, हित-अहित, उचित-अनुचित का निर्णय शासन के हाथ में दे दिया गया तो जिसकी लाठी उसकी भैंस हो जायेगी। कुछ सहस्र गुंडे उपद्रव मचा शासन को अपने अनुकूल व्यवस्था देने के लिए विवश कर देंगे। शासन जिस कार्य के लिए नियुक्त है, वह कार्य बलशाली और उपद्रवियों की इच्छा के अनुसार होने लगेगा।

ये सब और अनेक अन्य उदाहरण इस बात के सूचक हैं कि शासन और धर्म-व्यवस्था देने वाले पृथक्-पृथक् होने चाहिये। धर्म-व्यवस्था स्थापित करने वाले विद्वान्, चरित्रवान्, धर्म-अधर्म के ज्ञाता और निष्पक्ष व्यक्ति होने चाहिये। शासन उस व्यवस्था को स्थापित करने वाला यन्त्र होना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक नवीनतम उदाहरण हमारे मत को और भी स्पष्ट कर देगा। २६ जनवरी १९६५ से देश की सरकारी भाषा हिन्दी होने वाली थी। मद्रास राज्य में कुछ सहस्र गुंडों ने हिन्दी के विरुद्ध उपद्रव करने आरंभ कर दिए। सरकार को शान्ति स्थापित करने के लिए संविधान में स्वीकृत हिन्दी को लागू करने की घोषणा रोकनी पड़ी। न केवल यह कि संविधान में स्वीकार की गई बात को बिना संविधान में संशोधन किये रद्द करना पड़ा, वरन् उन सब उपद्रव करने वालों और करोड़ों रुपयों की सरकारी और गैर-सरकारी सम्पत्ति को विनष्ट करने वालों को दंड से मुक्त करना पड़ा।

ये सब परिणाम हैं धर्म-व्यवस्था और न्याय को शासकों के हाथ में देने के। प्रश्न उपस्थित होता है कि कैसे इनको पृथक्-पृथक् रखा जाए? यह कुछ कठिन अवश्य है, परन्तु असम्भव नहीं। सब उचित और भले कार्य करने कठिन होते हैं। कठिनाई किसी उचित कार्य के करने में बाधा नहीं होनी चाहिए। भारतीय पद्धति से समाज में चार संगठन माने गये हैं। (१) धर्मशास्त्री (२) न्यायकर्ता (३) शासक (४) शिक्षक वर्ग।

पूर्ण समाज को प्रजा कहते हैं। प्रजा में से ही ये चारों संगठन बनेंगे। इनकी नियुक्ति की विधि एक-दूसरे से भिन्न है।

धर्मशास्त्री तो विश्वविद्यालयों के उच्च कोटि के विद्वानों में से नियुक्त अथवा निर्वाचित होने चाहिए। विद्वानों की एक मतदाता सूची बनायी जानी चाहिए। इस सूची में कौन सम्मिलित किए जा सकते हैं, संविधान में लिखा रहना चाहिए। उदाहरण के रूप में सर्वोच्च न्यायालय और सब उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश इसमें लिए जा सकते हैं। विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक इसमें लिए जा सकते हैं। देश में विद्वत्ता के लिए राष्ट्रपति से पदक प्राप्त व्यक्ति इसमें आ सकते हैं।

देश का यह विद्वत् मंडल बीस से पचास तक सदस्यों की एक समिति निर्वाचन कर सकता है। इस समिति का काम अस्थायी धर्मों की व्यवस्था देना हो। यह व्यवस्था देश का कानून हो। इससे देश के चारों वर्णों और चारों आश्रमों का काम चले।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) न्यायकर्ता (judges) तो केवल मात्र कानूनी कालेजों के अध्यापक और प्रधानाचार्य ही निर्वाचित करें। यदि ये लोग सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीशों का निर्वाचन कर दें और इन मुख्य न्यायाधीशों को अपने अधीन न्यायाधीशों की नियुक्ति का अधिकार दे दें, तो भी ठीक रहेगा।

इन दोनों कार्यों के लिए निर्वाचन सर्वसाधारण के मत से नहीं होना चाहिए।

(३) सर्वसाधारण को केवल शासक निर्वाचन करने का अधिकार देना चाहिए। राष्ट्रपति शासन का प्रमुख अधिकारी होना चाहिए और उसका निर्वाचन सर्वसाधारण के मतदान से होना चाहिए। राष्ट्रपति को सम्मति देने वाले मंत्री-मंडल के सदस्यों का निर्वाचन हो सकता है। नगर-निगमों का निर्वाचन हो सकता है। राज्य-प्रमुखों का निर्वाचन हो सकता है।

यह शासन प्रपंच न तो कानून बना सके, न ही न्यायकर्त्ता नियुक्त कर सके। यह शासन प्रपंच धर्म-शास्त्रियों से निश्चय किए विधि-विधान के अनुसार करे। इस प्रपंच के कार्य की देख-रेख भी न्याय संगठन (Judiciary) करे।

(४) शिक्षा संगठन इन तीनों से पृथक् होना चाहिए। यह किसी के अधीन नहीं हो सकता। यह राष्ट्रपति की देख-रेख में, परन्तु कार्य में विद्वत्-मंडल के अधीन होना चाहिए।

प्रस्तुत पुस्तक देश के संविधान से उतना ही सम्बन्ध रखती है, जितने से समाजवाद और धर्मवाद में अन्तर स्पष्ट हो सके। प्रजा का सीधा सम्बन्ध शासन से होता है और शासन की नियुक्ति प्रजा की रुचि और स्वीकृति से होनी चाहिए। यही युक्ति-संगत व्यवहार है। इस पर भी शासन और प्रजा दोनों धर्माधीन होने चाहिये। देश धर्म-व्यवस्था का उल्लंघन नहीं कर सकता।

परन्तु धर्म-व्यवस्था का निश्चय धर्म-शास्त्री ही कर सकते हैं। धर्म-सभा की नियुक्ति अथवा निर्वाचन विद्वानों के अधीन ही होना चाहिए। इसके साथ ही धर्म सभा में निर्वाचित होने के लिए कुछ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योग्यता अनिवार्य होनी चाहिए।

प्रजा और शासन दोनों धर्म-व्यवस्था के अनुसार आचरण रखेंगे। इसके लिए सेना और पुलिस राष्ट्रपति के अधीन होनी चाहिए। एक सीमा तक पुलिस पर अधिकार राष्ट्रपति का हो।

न्याय-संगठन तो यह देखने वाला संस्थान है कि देश के सब संगठन धर्मानुकूल कार्य करते हैं अथवा नहीं। धर्मशास्त्री भी अस्थायी धर्मों की व्यवस्था देते समय सनातन धर्मों का विरोध नहीं कर सकते।

यह धर्म-राज्य का एक सांकेतिक संविधान है। यह पूर्ण व्यवस्था नहीं है। इससे केवल यह स्पष्ट करना अभीष्ट है कि धर्म-राज्य का रूप किस प्रकार होना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षष्ठ अध्याय

समाजवादी राज्य और धर्म-राज्य में अन्तर

समाजवादी, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, दो मुख्य श्रेणियों में विभक्त हैं—एक कम्युनिस्ट और दूसरे समाजवादी।

कम्युनिस्ट देशों में रूस और चीन प्रमुख हैं। यों तो अलबानिया, चैकोस्लावाकिया, पोलैण्ड, हंगरी, रूमानिया इत्यादि देश भी हैं, जहाँ कम्युनिज़्म चलता है। इन सब देशों में एक वस्तु साँझी है। वह है कम्युनिस्ट पार्टी की तानाशाही।

तानाशाही से हमारा अभिप्राय यह है कि जिस पर किसी प्रकार का अंकुश न हो। मनुष्य के प्रत्येक प्रकार के कार्य पर अर्थात् उसके पूर्ण जीवन पर कम्युनिस्ट देशों में कम्युनिस्ट दल का अधिकार माना जाता है और कम्युनिस्ट दल पर किसी प्रकार का अथवा किसी भी विचार का अंकुश नहीं। इस कारण यह समझा जाता है कि कम्युनिस्ट देशों में कम्युनिस्ट दल की तानाशाही चल रही है।

उन देशों में जिनमें धर्म-व्यवस्था लागू रही है, वहां सब पर और सब समय में धर्म का अंकुश रहता है। धर्म विद्वान् लोगों द्वारा शास्त्रानुकूल निर्धारित होता है।

कम्युनिस्ट दल की तानाशाही प्रजासम्मत नहीं होती। कारण यह कि प्रजा और सोविएट पार्टी पर्यायवाचाक नहीं। सोवियत दल में कोई सदस्य नहीं बनाया जाता, जब तक सोविएट का मंत्री स्वीकार न करे। यह हम बता चुके हैं कि रूस में सोविएट के सदस्यों की संख्या प्रजा का केवल चार प्रतिशत हैं। ये चार प्रतिशत भी सोविएट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन्त्री की रुचि के आदमी ही होते हैं। सोविएट ही सरकार बनाती है। अतएव कम्युनिस्ट देशों में न केवल थोड़े-से लोग राज्य निर्माण करते हैं और शासन पर पूर्ण अधिकार रखते हैं, प्रस्तुत उनके अधिकारों पर किसी प्रकार की सीमा नहीं होती। वहाँ विद्वानों पर और उनके कथन और लेखों पर भी सोविएट दल का नियंत्रण रहता है। न तो देश की प्रजा का, न ही देश के विद्वानों का देश के शासन पर अथवा देश की धर्म-व्यवस्था (Law) पर किसी प्रकार का नियंत्रण होता है।

सबसे विकट बात कम्युनिस्ट राज्यों में यह है कि वहाँ पर किसी प्रकार का आधारभूत नियम, कानून अथवा न्याय नहीं। जो कुछ सोविएट निश्चय कर दे, वही न्याय होता है।

धर्म-व्यवस्था वाले देशों में समाज के सब संगठनों पर शाश्वत धर्मों का अंकुश रहता है। इसके साथ ही अस्थायी धर्मों पर विद्वानों का नियंत्रण रहता है। ऐसे देशों में धर्म सर्वोपरि माना जाता है। धर्म से हमारा अभिप्राय किसी मज़हबी फिलॉसफी से नहीं। इसका अर्थ है उस विचारधारा से, जिससे मनुष्य मोक्ष प्राप्ति की आशा रखता है। धर्म का सम्बन्ध इस प्रकार के सिद्धान्तों और विचारों से नहीं। ये विचार और सिद्धान्त कई प्रकार के हैं। धर्मतो एक स्थिर आचरण का नाम है। जब यह आचरण एक मनुष्य का किसी दूसरे, एक अथवा अनेक, व्यक्तियों से सम्बन्ध रखता है तब यह देश के कानून का रूप ले लेता है। दोनों में अन्तर इस बात में है कि कानून का तो केवल तब प्रयोग हो सकता है, जब कर्ता का कर्म किसी दूसरे पर प्रभाव उत्पन्न करने लगता है। घर में कुछ बातें ऐसी भी हैं, जिनके कर्ता का केवल अपने साथ ही सम्बन्ध रहता है। किसी दूसरे से उनका सम्बन्ध नहीं रहता। कानून व्यक्तिगत बातों से सम्बन्ध नहीं रखता।

जब हम राज्य के साथ धर्म के सम्बन्ध की बात करते हैं तो हमारा उन धर्मों से ही मतलब होता है, जिनका दूसरों से सम्बन्ध होता है।

धर्म-व्यवस्था वाले देशों में मनुष्यों के परस्पर व्यवहारों में भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ बातें हैं, जिनमें राज्य की उच्च-से-उच्च संस्था भी निरंकुश नहीं। इनका सम्बन्ध सनातन धर्मों से है। इनका उल्लंघन कहीं नहीं हो सकता।

रूस इत्यादि देशों में तो सत्य बोलने अथवा लिखने की भी स्वीकृति नहीं। कारण, वहाँ सत्य वह है जिसे वहाँ की सरकार सत्य मानने के लिए कहती है। भारत में भी सत्य का मापदंड उस व्यक्ति अथवा समुदाय के मनोभावों पर निर्भर करता है, जिसके विषय में लिखा अथवा कहा जाये। इस देश में मुहम्मद साहब का चित्र छपवाना भी अपराध है। सिक्ख समुदाय के विषय में यह लिखना भी वर्जित है कि गुरु नानक साहब के केश नहीं थे। अतः ये देश हैं, जहाँ सनातन धर्म पर भी प्रतिबन्ध हैं। यहाँ कानून तो है, परन्तु यहाँ धर्म-व्यवस्था नहीं है। धर्म-व्यवस्था वाले देशों में केवल इतना ही नहीं कि वहाँ सनातन धर्मों की मान्यता होती है, वरंच वहाँ पर कोई भी संस्था, अधिकार अथवा संगठन सनातन धर्मों का विरोध नहीं कर सकता। वहाँ कोई ऐसा कार्य भी नहीं हो सकता, जिससे इन सनातन धर्मों का उल्लंघन हो सके।

धर्म-व्यवस्था वाले देशों में एक बात यह भी है कि न्यायकर्त्ता शासन के अधीन नहीं होते। और वे शासन की भी देख-रेख धर्म की दृष्टि से करते हैं। अस्थायी धर्मों में भी व्यवस्था देने का अधिकार धर्मशास्त्रियों को होता है और शासन इनमें भी हस्तक्षेप नहीं कर सकता। शासन तथा समाज के सब अंग धर्म-व्यवस्था के अनुसार ही काम करते हैं।

कम्युनिस्टों के अतिरिक्त समाजवादी भी सम्पत्ति-विहीनों की तानाशाही चाहते हैं। कहे जानेवाले सब प्रजातन्त्र देश भी जब संसद को पूर्ण अधिकार-सम्पन्न (Sovereign) सस्था मानते हैं, तो वे संसद को धर्म-व्यवस्था निर्माण करने वाली संस्था भी मानते हैं। यह तभी हो सकता है, जब संसद में केवल विद्वान्, चरित्रवान और अनुभवी ही बैठ सकते हों। धर्म-व्यवस्थापकों में ये गुण होने अत्यावश्यक हैं। धर्म-व्यवस्था निर्माण करने वालों में एक बात होनी अत्यावश्यक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। वह यह कि ये लोग शासन से सर्वथा असम्बद्ध हों। संसदीय शासन वाले प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में कानून बनाने वाली संस्था और शासन देखने वाली संस्था एक ही होती है। अतः वे देश भी धर्म-व्यवस्था वाले देश नहीं। यदि शासन यंत्र को धर्म व्यवस्था का भी काम करने को दिया जाएगा तो वे शासन को सुगम करने के लिए धर्म को अपने अनुकूल बनाते चले जायेंगे। इससे व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हनन होता चला जाएगा।

भारत का ही उदाहरण लें तो पता चलेगा कि यहाँ संसद की सदस्यता के लिए किसी प्रकार की शिक्षा, अनुभव और चरित्र भी शर्त नहीं। संसद की सदस्यता के उम्मीदवार होने की केवल एक शर्त है कि वह पाँच व्यक्तियों के नाम प्रस्तावक के रूप में ले आए और एक निर्धारित धन-राशि सरकारी कोश में ज़मानत के रूप में जमा कर सके।

वह प्रत्याशी सफल घोषित किया जाएगा, जिसके पक्ष में मत अधिक होंगे। ये शर्तें धर्म में व्यवस्था देने वाले की नहीं हो सकतीं। धर्मशास्त्रियों को सामाजिक व्यवहार और जीवन का अनुभव होना चाहिए। साथ ही ये व्यक्ति चरित्रवान होने चाहिएँ जो किंचित् मात्र के प्रलोभन से धर्म का मुख न मोड़ दें।

वर्तमान व्यवस्था के अनुसार भारतीय संसद में उन व्यक्तियों के सदस्य बन सकने की सम्भावना है, जो बल-छल और धन तथा अन्य प्रलोभनों से मत-संग्रह कर सकते हैं।

अतएव भारत की संसद का नैतिक अधिकार नहीं कि वह देश में धर्म-व्यवस्था दे। इससे भी दोषपूर्ण बात यह है कि भारत में संसद् धर्म-व्यवस्था भी देती है और शासन भी चलाती है। यही कारण है कि कुछ गुंडों के उपद्रव मचाने से यह केवल विधि-विधान ही बदलने पर तैयार नहीं हो जाती, वरंच संविधान को भी ताक पर रखने के लिए तैयार हो जाती है। इस संसद के लिए न्याय-अन्याय, भलाई व बुराई और दीर्घकालीन हित-अहित से अधिक आवश्यक सामयिक शासन चलाना है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संसद में एक विशेषता यह है कि इसमें एक दल बहु संख्या में होने से शासक होता है और एक अथवा अधिक दल प्रतिपक्षी होते हैं। संसद में सदस्यों के निर्णय दलगत होते हैं। संसद में निर्णय लेते समय दल के सदस्यों को स्वतन्त्रता नहीं होती कि वे अपने मन से मत दें। प्राय: ऐसा होता है कि दल के सदस्यों में आवश्यक विषयों में मतभेद हो, परन्तु वे अपना स्वतन्त्र मत नहीं दे सकते। यह बात धर्म-संगत नहीं मानी जा सकती। धर्म-व्यवस्था देने वाली सभा में यह बात नहीं होनी चाहिए। यह तो ठीक है कि बहुमत का मान होना चाहिए, परन्तु सदस्यों के स्वतंत्र मतदान के उपरान्त।

धर्म-व्यवस्था में समाज तो प्रजा कहाती है। प्रजा में ही समाज के चारों संस्थानों के सदस्य निर्वाचित अथवा नियुक्त होते हैं, परन्तु जो जिस बात के योग्य हो, वही उस संस्थान में जा सकना चाहिए।

शासक तो प्रजा के वयस्क मत से निर्वाचित हो सकता है, परन्तु न्यायकर्त्ता, धर्म-व्यवस्था देने वाले और शिक्षक वर्ग तो योग्यता के आधार पर ही निर्वाचित होने चाहियें।

राष्ट्रपति का निर्वाचन निर्दलीय होना चाहिए। हाँ, राष्ट्रपति का सचिव-मंडल अथवा मन्त्री-मण्डल दलीय हो सकता है। इस पर भी यह आवश्यक है कि चुने जाने के उपरान्त उनको अपनी समयोचित सम्मति देनी चाहिए। निर्वाचन के उपरान्त वे दल से स्वतन्त्र होने चाहिएं। राष्ट्रपति समाज के तीनों संस्थानों अर्थात् धर्माचार्य, न्यायाधिकरण और शासन में ताल-मेल बैठाने का काम करे। इसी कारण इसका निर्दलीय होना आवश्यक है।

यह बात न तो समाजवादी व्यवस्था में हो सकती है, न ही संसदीय प्रजातंत्र में। संक्षेप में, इस प्रकार की व्यवस्था में ही देश में, समाज में तथा समाज के प्रत्येक अंग में, धर्म का अंकुश रह सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सप्तम अध्याय

समाजवाद की मुख्य बातें और धर्म

इस अध्याय में हम देखना चाहते हैं कि समाजवाद की मुख्य-मुख्य बातें धर्मानुकूल हैं अथवा नहीं।

(१) समाजवाद में माना जाता है कि समाज में दो वर्ग हैं। मजदूर वर्ग जो सम्पत्ति नहीं रखता और बुर्जुआ वर्ग जो सम्पत्ति रखता है।

यह बात धर्म-व्यवस्था में मान्य नहीं है। उसमें दो वर्ग हैं। धर्मानुकूल आचरण करने वाले और अधर्माचरण करने वाले। ये दो वर्ग जैसे सम्पत्ति रखने वालों में होते हैं, वैसे ही सम्पत्ति न रखने वालों में भी होते हैं। समाज के घटकों का परस्पर व्यवहार धर्मानुकूल होना चाहिए। जो धर्मानुकूल व्यवहार नहीं रखते, वे दूसरे वर्ग में हैं। इनका व्यवहार दण्डनीय हो। धर्माचरण का अभिप्राय है law और अधर्माचरण का है unlaw-ful।

(२) समाजवाद सम्पत्ति-विहीनों का राज्य पर अधिकार चाहता है।

यह भी धर्म-व्यवस्था के प्रतिकूल है। राज्य करना उनका अधिकार है जो क्षत्रिय स्वभाव रखते हैं। साथ ही जो क्षत्रिय कर्म करने की सामर्थ्य रखते हैं। क्षत्रियों के गुण, कर्म, स्वभाव इस प्रकार हैं—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥[1]

---

१. मनु० १—८९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(प्रजा की रक्षा करना, दान देना, स्वाध्याय, यज्ञ करना, विषय-वासना से बचना, ये पाँच क्षत्रियों के कर्म हैं। राज्य करने के लिए संपत्ति रखना अथवा न रखना कुछ अर्थ नहीं रखता।

(३) वर्ग-संघर्ष से समाज पर सामूहिक अधिकार प्राप्त करना, समाजवादियों का ध्येय है। इसका अर्थ है कि समाज की पूर्ण व्यवस्था पर सामूहिक अधिकार प्राप्त कर व्यक्ति का अधिकार निःशेष करना।

धर्म-व्यवस्था में समाज के घटकों के कर्तव्यों का नाम ही धर्म है। धर्म में व्यक्तिगत धर्म भी हैं और समष्टिगत धर्म भी। व्यक्तिगत धर्म उन कर्तव्यों को कहते हैं, जिनका सम्बन्ध किसी दूसरे से नहीं होता। समष्टिगत धर्म उन कर्तव्यों को कहते हैं जिनका प्रभाव कर्ता के अतिरिक्त दूसरों पर भी होता है। इस दूसरे प्रकार के कर्तव्यों पर ही समाज-व्यवस्था दे सकता है। समाज के अधिकार को बढ़ाकर व्यक्तिगत कर्तव्यों पर ले जाना धर्म-व्यवस्था के अनुकूल नहीं होगा। आज की विषम समाज में व्यक्ति के अनेक काम ऐसे हैं, जिनका संबंध कर्ता के अतिरिक्त घटकों से भी होता है। समाज उन कामों पर व्यवस्था देकर नियन्त्रण रख सकता है, परन्तु समाज घटकों को निजी कर्तव्यों के पालन करने अथवा न पालन करने पर विवश नहीं-कर सकता। एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो सकती है। एक कुली है। वह कोयला ढोने का काम करना नहीं चाहता। काम न मिलने पर बिना काम के रहना और बिना कमाई किए रहना पसन्द करता है, परन्तु कोयला ढोना नहीं चाहता। समाज अथवा कोई भी व्यक्ति उसको यह काम करने के लिए विवश नहीं कर सकता।

एक और उदाहरण दिया जा सकता है। एक स्त्री किसी पुरुष से विवाह करना नहीं चाहती। समाज उसे विवश नहीं कर सकता कि विवाह करे और अमुक पुरुष से ही करे।

कहने का अभिप्राय यह है कि उन कामों में भी, जिनका सम्बन्ध कर्ता के अतिरिक्त अन्य घटकों से होता है, समाज व्यवस्था तो कर सकता है, परन्तु वह किसी को विवश नहीं कर सकता कि वह काम किया ही जाए अथवा न किया जाए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५) समाजवाद का सिद्धान्त है कि आर्थिक प्रजातन्त्र हो। इसका अर्थ है कि पूर्ण अर्थ-व्यवस्था पर प्रजातांत्रिक नियन्त्रण हो। यह भी धर्म-व्यवस्था के विपरीत है।

धर्म-व्यवस्था के अनुसार, हमने बताया है, अर्थ-व्यवस्था के तीनों अंग (उत्पादन, वितरण और उपभोग) पृथक्-पृथक् तथा योग्य व्यक्तियों के अधीन होने चाहियें। इन तीनों में ताल-मेल बैठाने के लिए समाज अर्थात् राज्य यत्नशील रहना चाहिए, परन्तु समाज अथवा राज्य का इस पर अधिकार करने से इन कार्यों के संचालन में विघ्न पड़ने की संभावना है।

अर्थ-व्यवस्था के प्रत्येक अंग में भी कर्मचारी अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार काम करें। प्रत्येक अपने-अपने काम का स्वामी हो और उनकी सफलता और असफलता का उत्तरदायी हो। सबका सब कामों में हस्तक्षेप और अधिकार व्यवस्था को बिगाड़ेगा ही। यह किसी प्रकार लाभकर नहीं हो सकता।

उदाहरण के रूप में एक कारखाने में मैनेज़र, इंजीनियर, मशीन-मैन, फिटर, भंगी, चपरासी और अन्य अनेक प्रकार के काम करने वाले होते हैं। सब मिलकर कारखाने के काम में राय देने लगेंगे, तो कारखाना एक दिन में ठप्प हो जाएगा।

इसी प्रकार पूंजी लगाना, प्रबन्ध करना, कच्चा माल उपलब्ध करना, बना माल बेचना, माल ढोकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना, माल का ग्राहकों अर्थात् उपभोक्ताओं के पास बेचना इत्यादि सब काम इन भिन्न-भिन्न प्रकार के काम करने वालों की राय से किए गए तो सब व्यवस्था ठप्प हो जाएगी।

यदि उत्पादन, वितरण और उपभोग, तीनों बातों का निर्णय पूर्ण समाज के मतदान से हुआ करेगा, तो व्यक्ति के प्रत्येक जीवन-कार्य पर समाज का वोट होने लगेगा।

उपभोग पर समाज का नियन्त्रण होने से मनुष्य का जीवन पशु समान हो जायेगा। व्यक्ति के कुछ कामों का यहां उल्लेख करने से बात स्पष्ट की जायेगी। पाठक कल्पना कर सकेंगे कि उन कामों को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज के अधीन करने से, जीवन कैसा हो जायेगा।

मनुष्य के व्यक्तिगत कामों में सबसे प्रमुख पति-पत्नी सम्बन्ध है। इस पति-पत्नी सम्बन्ध में, यौन-सम्बन्ध के अतिरिक्त मकान, वस्त्र, भूषण, बच्चों का रहन-सहन और भोजन-व्यवस्था भी सम्मिलित हैं। कौन भला पुरुष है जो अपने इन सम्बन्धों में समाज का आदेश लेकर काम करेगा?

चीन में तो यह व्यवस्था भी कही जाती है कि पुरुष-स्त्री को एक नियत समय में एक बार ही मिलने दिया जाता है। वहाँ बच्चों की संख्या पर भी कानून से नियन्त्रण है।

सन्तान-निरोध के पक्ष अथवा विपक्ष में हम नहीं कह रहे। हमारा तो यह कहना है कि ये बातें पति-पत्नी के स्वेच्छा से स्वीकार करने की हैं देश के कानून से नहीं। इनके अतिरिक्त भी अनेक प्रकार के पारिवारिक कार्य हैं जिनमें समाज का हस्तक्षेप अवाञ्छनीय होगा।

उपभोग में समाज की सम्मति तो किसी भी प्रकार स्वीकार करना मनुष्य समाज को पशु बना देना होगा। मान लीजिये सरकार के पास मोटी धोतियाँ ही उपलब्ध हैं। इस कारण सरकार यह निर्णय लेती है कि देश की सब स्त्रियाँ मोटी धोतियाँ पहनें, तो कल्पना की जा सकती है कि समाज की क्या रूपरेखा बन जायेगी और किस प्रकार स्त्रियाँ इसे स्वीकार करेंगी। इसी प्रकार खाने-पीने के विषय में विचार किया जा सकता है।

हमारा यह निश्चित मत है कि उद्योग में, व्यवसाय में और उपभोग में प्रजातन्त्र लाने से मनुष्य समाज को पशुओं का बाड़ा बना दिया जायेगा। साथ ही उत्पादन-व्यवस्था बिगड़कर नाकारा हो जायेगी। व्यापार तो बैबल के बुर्ज पर काम करने वालों की भाँति एक महान् झगड़े का स्थल बन जायेगा।

(५) समाजवाद का एक अन्य सिद्धान्त है—उत्पादन और वितरण का राष्ट्रीयकरण। इसका अर्थ है कि राष्ट्र की प्रतिनिधि संस्था राज्य अर्थ-व्यवस्था के इन दोनों अंगों पर अधिकार कर ले। किसी व्यक्ति को स्वतंत्र रूप में, सरकारी नियन्त्रण के बाहर, उत्पादन और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वितरण न करने दिया जाये ।

धर्म-राज्य में यह सम्भव नहीं । पहले तो यह समझ लेना चाहिये कि उत्पादन और वितरण में प्रजातन्त्र और राष्ट्रीयकरण में अन्तर है। एक में तो उद्योग अथवा वितरण यन्त्र में लगे हुए सब व्यक्ति उस व्यवस्था में सम्मति देते हैं। इस विषय में हम ऊपर लिख चुके हैं। परन्तु राष्ट्रीयकरण का यह अर्थ है कि अर्थ-व्यवस्था के इन दोनों अंगों पर राज्य का पूर्ण अधिकार हो। उत्पादन तथा वितरण-यन्त्र की मालिक सरकार ही हो। यह धर्म-व्यवस्था के विपरीत इस कारण होगा कि उद्योग और वितरण पर उन लोगों का अधिकार हो जायेगा जो उसके योग्य नहीं। राज्य करना और व्यापार करना, दोनों भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रकृति के काम हैं। राज्य करना रजोगुण के स्वभाव वालों का काम है और उद्योग तथा व्यापार चलाना वैश्य प्रवृत्ति वाले मनुष्यों का।

इस कारण यदि तो राज्य व्यापारियों के हाथ में आ गया तो राज्य अपना कर्तव्यपालन नहीं कर सकेगा। यह भले लोगों की रक्षा करने के लिए दुष्ट और आतताइयों से सौदेबाज़ी करने लगेगा। साथ ही यदि व्यवसाय और उद्योग रजोगुणी लोगों के हाथ में चला गया तो उपभोक्ताओं पर अन्याय और अत्याचार होने लगेगा। ये व्यापारी लोग राज्य-बल से अपना घटिया माल उपभोक्ताओं को खरीदने के लिए विवश करने लगेंगे।

भारत की वर्तमान अवस्था में राज्य द्वारा चलाए उद्योगों और व्यवसायों का निरीक्षण करने पर हमारे उक्त कथन का स्पष्ट प्रमाण मिल सकता है। भारत सरकार ने नीपा में एक अखबारी कागज का कारखाना लगाया है। किन्हीं कारणों से कागज बहुत ही घटिया बनता है। यदि यह कारखाना किसी व्यक्ति का निजी होता तब या तो उसका दिवाला पिट चुका होता अथवा उसने कागज बढ़िया बनाने का प्रबन्ध कर लिया होता। सरकार में व्यवसायी वृत्ति के लोग न होने से पिछले दस वर्ष में भी कारखाने का उत्पादन उन्नत नहीं हुआ। कार-खाना सरकारी होने के कारण समाचार-पत्रों को यह घटिया कागज महंगे दामों पर खरीदना पड़ रहा है। यही अवस्था लोहे के उत्पादन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में हो रही है। सरकार बिजली निर्माण करने का देश में एकाधिकार लिये हुए है और बिजली बन्द हो जाने की इतनी घटनाएँ हो रही हैं कि जनता त्राहि-त्राहि कर रही है। दिन में कई-कई बार काम बन्द कर लाखों लोग बेकार बैठे रह जाते हैं।

सरकार उद्योगपति बन जायेगी तो उपभोक्ताओं को उनकी आवश्यकताओं की वस्तुएँ नहीं मिल सकेंगी। उपभोक्ताओं को वे वस्तुएँ खरीदनी पड़ेंगी जो सरकार बना सकेगी।

उद्योग और व्यवसाय के राष्ट्रीयकरण से वस्तुएँ भद्दी, महँगी और कुसमय मिलने लगेंगी। हमारा यह मत उन देशों के उत्पादन और वितरण की अवस्था देखकर बना है, जहाँ राष्ट्रीयकरण हो चुका है। रूस में सरकारी योजनाएँ चलते हुए ४० वर्ष के लगभग हो चुके हैं। वहाँ न तो पर्याप्त अन्न उत्पन्न होता है और न ही उपभोक्ताओं के उपभोग के अन्य पदार्थ। सबके लिए जूते, कमीजें तथा कोट-पतलून भी नहीं बन सकते। मकान भी अभी तक अपर्याप्त हैं। मास्को में भी गन्दी बस्तियां दिखाई देती हैं। चीन की अवस्था तो रूस से भी गयी-गुजरी है। भारत में जिन पदार्थों के उत्पादन का सरकार के पास एकाधिकार है, उनकी ही कमी मार्किट में दिखाई देती है। सरकार कोई पदार्थ निर्माण नहीं कर सकती जब तक उसके निर्माण का एकाधिकार वह नहीं ले लेती अथवा उसकी क़ीमतों पर नियन्त्रण नहीं कर लेती। जिन उद्योगों और व्यवसायों में सरकार के मुकाबले में व्यक्ति भी काम करते हैं, वहाँ सरकार कीमतों पर नियन्त्रण रख अपने को दिवाले से बचाने पर विवश होती है। ऐसी अवस्था में निजी काम करने वाले असीम लाभ उठा जाते हैं। उनको उत्पादन-मूल्य कम देना पड़ता है। सरकार अपने उत्पादन मूल्य को कम नहीं कर सकती।

निजी उत्पादनकर्ता वह वस्तु बनायेगा, जिसकी उपभोक्ताओं में मांग हो। सरकार वे पदार्थ निर्माण करेगी, जिसके करने की उसको सुविधा होगी। इसी बात में सब अन्तर पड़ जाता है। स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था में उद्योगपति मण्डी में दूसरों के मुकाबले में माल बेचता है और वह जानता है कि यदि वह उपभोक्ताओं को प्रसन्न नहीं कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकेगा तो उसका दिवाला पिट जायेगा। इस कारण अपने माल को मज़बूत, सुन्दर, उपयोगी, सस्ता और सरलता से प्रयोग में आ सकने वाला बनाता रहता है। सरकार का दिवाला तो पिट नहीं सकता। वह अपना घाटा राज्य-बल से अधिक दाम लेकर, कर लगाकर, और काम की मोनेपोली अपने पास रखकर पूरा कर सकती है।

इस सबमें दो कारण हैं। एक तो यह कि राज्य करने वाले रजोगुण रखने वाले होते हैं और व्यापार तथा उद्योगों में सतोगुण की आवश्यकता होती है। यदि व्यापार में सफल होने के लिए राज्य में सतोगुणी लोग भर दिये गये तो राज्य चौपट हो जायेगा। भारत की मुसीबत यही हो रही है कि ऐसे मन्त्रीगण हैं, जो व्यापार में सफल होते हैं तो राज्य-कार्य चौपट होने लगता है। यदि कोई मन्त्री राज्य-कार्य में कुशल होते हैं तो वे व्यापार में हस्तक्षेप कर लूट-खसूट करने लगते हैं।

राष्ट्रीयकरण की असफलता में दूसरा कारण है वेतनधारियों का व्यवसाय तथा उद्योग में स्वामित्व। वे उद्योग अथवा व्यवसाय के हानि-लाभ में हिस्सेदार तो होते नहीं और उनके चलाने का उत्तरदायित्व उन पर होता है।

ये सरकारी कर्मचारी अपनी नालायकी के कारण अथवा अपने लोभ-मोह के कारण व्यापार इत्यादि में घोटाला कर देते हैं। जनता को उस घोटाले के विषय में पता भी चलने नहीं दिया जाता। यदि कोई उस घोटाले का रहस्योद्घाटन करे तो दण्डित हो जाता है। अभी-अभी रूस में दो लेखकों को इसी अपराध के लिए सात-सात वर्ष का कठोर दण्ड दिया गया है।

समाजवाद का पूर्ण बल अर्थ-व्यवस्था में प्रजातन्त्र लाने और उद्योग तथा व्यापार के राष्ट्रीयकरण पर ही है। वास्तव में इन दोनों में ही पूर्ण समाजवाद आ जाता है। ये दोनों ही धर्म-व्यवस्था के विपरीत और अव्यावहारिक कर्म हैं।

(६) समाजवाद राज्य सम्पत्ति-विहीनों के हाथ में देने की बात करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पत्ति-विहीन दो प्रकार से उत्पन्न होते हैं। एक वे, जो सम्पत्ति-निर्माण की बुद्धि और सामर्थ्य तो रखते हैं, परन्तु संसार से विरक्त होकर संन्यास ले लेते हैं। दूसरी प्रकार के सम्पत्ति-विहीन वे होते हैं, जो इसके निर्माण की न तो बुद्धि रखते हैं न ही सामर्थ्य। इन दोनों प्रकार के व्यक्तियों के हाथ में राज्य की बागडोर देने से अनर्थ ही होगा। संन्यासी तो राज्य करेंगे नहीं और यदि राज्य जैसी वस्तु उनके हाथ में आ गयी तो वे शीघ्र ही सब-कुछ बांट देंगे और राज्य विघटित हो जायेगा। यदि संन्यासी राजा बना दिये गये तो निःसन्देह वे दुष्ट प्रवृत्ति के लोगों से छल लिये जायेंगे और वास्तव में राज्य दुष्टों के हाथ में चला जायेगा, भले ही वे दुष्ट लोग देश के भीतर ही रहते हों।

दूसरी प्रकार के सम्पत्ति-विहीन वे हैं, जो सम्पत्ति-निर्माण की योग्यता ही नहीं रखते। ये लोग अपनी असमर्थता के कारण राज्य, जो स्वयं एक महान् सम्पत्ति है, का प्रबन्ध नहीं कर सकेंगे। अन्त में इसका भी परिणाम वही होगा जो संन्यासी लोगों के हाथ में राज्य देने से हो सकता है। राज्य अनधिकारी और दुष्टों के हाथ में चला जायेगा।

हमने यह पहले बताया है कि राज्य रजोगुण-प्रधान लोगों का कार्य है। रजोगुण तो प्रत्येक में न्यूनाधिक मात्रा में उपस्थित होता है। परन्तु राज्य वे ही कर सकते हैं, जो मेरे और तेरे की भावना को बहुत बड़े पैमाने पर चलाने की योग्यता रखते हों। और फिर इन राजाओं में श्रेष्ठ राजा वे हो सकते हैं जो इस मेरे और तेरे की भावना को रखते हुए अपने को एक जाति अथवा राज्य से एकमय मान लें। ऐसे लोग विरले ही हो सकते हैं। ये राजा होते हैं और इनका राज्य चलता है, यदि ये अपनी कामनाओं की पूर्ति का समन्वय अपनी जाति अथवा देश की कामनाओं से कर दें।

समाज में सम्पत्ति-विहीनों का राज्य स्थापित हो गया तो वे उक्त गुण रख नहीं सकेंगे और परिणाम यह होगा कि वे स्वयं एक शोषक गुट बन जायेंगे और राज्य-शक्ति रखने के कारण वे घोर अत्याचार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने वाले हो जायेंगे। यही आशय है मिलोवान डिजलास का, जो उसने अपनी पुस्तक 'द न्यू क्लास' में प्रकट किया है। रूस में और अब चीन में भी कम्युनिस्ट पार्टी एक ऐसा वर्ग बन गया है जो देश की पूर्ण संपत्ति को अपने ही भोग में प्रयोग कर रहा है। कम्युनिस्ट दल सब देशों में बहुत ही अल्पसंख्यक लोगों का एक दल है। यह दल देश का अधिकांश धन सेना और पुलिस पर व्यय करता है। इसमें कारण यह है कि देश के भीतर अथवा बाहर के लोग, जो उनकी इस कुनीति को जान जाते हैं, उनसे राज्य न छीन सकें।

यह हमारा निश्चित मत है कि रजोगुण संपन्न लोग, जो जाति और देश को एक समझ अपनी राजसी प्रवृत्ति को देश अथवा जाति के लिये प्रयोग कर सकते हैं, बहुत ही विरले हो सकते हैं। जब बहुत रजोगुणी मिल जायेंगे तो वे मिलकर लूट-खसूट ही करेंगे। यही समाजवादी राज्य में हो सकता है।

हमारे इस कथन को भारत के कांग्रेसी समाजवादी बहुत भली-भांति सिद्ध कर रहे हैं। रूस और चीन में भी, जहाँ तक वहाँ के समाचार मिल रहे हैं, यही कुछ हो रहा है। ये लोग राज्य सत्ता रखने के कारण प्राय: दण्ड से बच जाते हैं और देश के लोग निस्सहाय बन, सहन करने के अतिरिक्त अन्य कुछ कर नहीं सकते।

राज्य की कला यही है कि रजोगुणी लोगों के हाथ में राज्य हो, परन्तु उन पर अंकुश हो सात्त्विक गुण वालों का।

(१७) समाजवादी यह मानते हैं कि कानून बनाना और न्याय करना भी सर्वसाधारण के अधीन होना चाहिये। अत: कानून-निर्माता और न्यायकर्ता जनता के प्रतिनिधि होने चाहियें। सार्वजनिक न्यायालय और मुकद्दमे होने चाहियें।

ये समाजवादियों के समाघोष और दावे हैं।

यह धर्म व्यवस्था की बात नहीं। धर्म व्यवस्था में माना यह जाता है कि धर्म का एक रूप है जो सनातन अर्थात् अपरिवर्तनशील है। उनका पालन तो सबके लिए अनिवार्य है। इन धर्मों में से वे, जिनका सम्बन्ध कर्ता के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों से होता है, उनके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उल्लंघन करने पर न्यायालय दण्ड देते हैं। इन सनातन धर्मों के अतिरिक्त समाज को समय-समय पर बदलती परिस्थितियों में कुछ धर्मों की व्यवस्था करनी पड़ती है। इसके विषय में कानून अथवा नियमोपनियम वे लोग ही बना सकते हैं, जो सनातन धर्म के भाव को समझते हों और जो देश, काल तथा कल्याण-अकल्याण का ज्ञान व अनुभव रखते हों।

सनातन धर्मों के उल्लंघन में दण्ड का विधान करने वाले और बदलते कानूनों का विरोध करने वालों को दण्ड देने वाले वे लोग हो सकते हैं जो स्वयं धर्म का पालन करने वाले हों तथा जो निष्पक्ष, निर्भय, काम-क्रोध तथा लोभ से ऊपर हों। ये जन-साधारण नहीं हो सकते।

धर्म व्यवस्था यह है कि शासन केवल रक्षा का कार्य करे। कानून-निर्माता विद्वान, सदाचारी और धर्मशास्त्र (Law) के ज्ञाता हों। और न्यायकर्ता वे लोग हों, जो न केवल विद्वान हों, वरंच स्वतन्त्र, निष्पक्ष, निर्भय और दयावान् हों। शासन प्रजा का प्रतिनिधि होना चाहिए। प्रतिनिधि, मतदान के अतिरिक्त ढंग से भी हो सकता है।

प्रजातन्त्र के अर्थ हम केवल यह समझते हैं कि अधर्मयुक्त राज्य को प्रजा हटा सकने की सामर्थ्य रखे। शासन सदा न्यायाधिकरण के अधीन कार्य करे और प्रजा न्यायाधिकरण का समर्थन करने वाली हो तो धर्म-राज्य सम्भव है।

(८) लोक-कल्याण और समाजवाद शब्द पर्यायवाचक समझे जाते हैं। बेकारों की सहायता, शिक्षा, चिकित्सा, वृद्धों के प्रबन्ध, सड़कों का निर्माण तथा होटल, धर्मशालाएँ इत्यादि बनाना और इसी प्रकार के सार्वजनिक कार्य समाजवाद के उद्देश्य समझे जाते हैं।

यह बात गलत है। इनका समाजवाद से किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं। समाजवाद का जहाँ-जहाँ भी लक्षण दिया गया है, वहाँ कर्मचारी वर्ग की प्रभुसत्ता का ही उल्लेख है। उसमें कर्मचारी (worker) और सम्पत्ति-रहित (Proletariate) की ही प्रभुसत्ता का आयोजन है। समाज के ये लोग उक्त और अन्य लोग कल्याण के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्य कर सकेंगे, आवश्यक नहीं।

यह हम बता चुके हैं कि कर्मचारी और सम्पत्ति-विहीनों के अतिरिक्त अन्य वर्ग हैं विचारक, लेखक, वक्ता, उपदेशक, धर्मशास्त्री, न्यायकर्ता, जो न तो कर्मचारी वर्ग में हैं, न ही वे किसी के अधीन काम करना पसन्द करेंगे। इनके अतिरिक्त अर्थ-व्यवस्था में भी कुछ लोग सदा ऐसे रहते हैं जो कर्मचारी वर्ग में स्वीकार ही नहीं किए जा सकते। वे प्रबन्धक के नाम से जाने जा सकते हैं। उनके पास पूंजी होना आवश्यक है। बिना पूंजी के अर्थ-व्यवस्था का संचालन नहीं हो सकता। उद्योग और व्यवसाय में लगाने के लिए पूंजी चाहे तो हिस्सेदार (Shareholders) दें, बैंक ऋण-रूप में दें, अथवा सरकार दे। कोई भी दे। पूंजी प्रबंधकों को मिलनी चाहिए, तभी उद्योग तथा व्यापार चल सकते हैं।

प्रबन्धकों को कार्य में पूंजी लगाकर खतरे में डालनी होती है। अतः प्रबन्धक केवल वेतनधारी नहीं हो सकते। वे वेतनधारी कर्मचारी से बहुत-कुछ अधिक होने चाहिए। ये ऐसे लोग हों, जो साहसी, उद्यमी और उत्तरदायित्व अनुभव करने वाले हों। ऐसे आदमी को मालिक कहते हैं और वे मालिक होने का प्रतिकार लेते हैं।

यह सब-कुछ हम पूर्व के अध्यायों में वर्णन कर चुके हैं। परन्तु इनका लोक-कल्याण से क्या सम्बन्ध है? लोक-कल्याण के काम तो होने चाहिए। सरकार करे चाहे उद्योग और व्यवसाय के मालिक करें। यह कर लेकर धन एकत्रित करके किए जाएँ या दान-दक्षिणा से किए जाएँ, ये होने चाहिए।

वास्तव में लोक-कल्याण के कार्य दो प्रकार के हैं। एक वे, जो सरकार के अतिरिक्त कोई व्यक्ति कर ही नहीं सकता। उदाहरण के रूप में सड़कें इत्यादि बनवाना अथवा नगरों में सफाई इत्यादि का प्रबन्ध करना। इस प्रकार के कामों को नगर निगम के काम कहा जा सकता है। ये प्रायः सब सभ्य देशों में नगर-निगम करती हैं और इसके लिए नगरों में रहने वाले सरकार को टैक्स देते हैं। इनके अतिरिक्त दूसरी प्रकार के लोक-कल्याण के ऐसे कार्य भी हैं, जो निजी रूप में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्ति दान-दक्षिणा के रूप में अधिक कुशलता से कर सकता है। अस्पताल, धर्मशाला, होटल, विद्यालय, अपाहिज और बूढ़ों के पालन-पोषण का प्रबन्ध और इसी प्रकार के काम सम्बन्धित व्यक्ति अधिक कुशलता और सुगमता तथा कम व्यय में कर सकते हैं। उदाहरण के रूप में वृद्धों के पालन का प्रश्न है। वृद्धों के सम्बन्धी इसका प्रबन्ध अधिक भली-भांति कर सकेंगे।

इस दूसरे प्रकार के कार्य यदि सरकारी रूप में किए जाएँगे तो सत्ताधारी वर्ग और सत्ताधीशों के प्रियजनों का ही कल्याण होगा और तब वे कार्य लोक-कल्याण न रहकर कुन्बापरवरी के क्षेत्र में आ जाएँगे। सभी समाजवादी देशों में (और अर्ध-समाजवादी भारतवर्ष में भी) अस्पताल, स्कूल, विश्वविद्यालय, अपाहिज गृह इत्यादि सत्ताधीश दल और अधिकारियों के सम्बन्धियों और प्रियजनों के लाभ के लिए रह जाते हैं। इनसे जब कुछ बच जाता है तो फिर साधारण लोगों को भी कुछ मिल जाता है।

एक दूसरी प्रकार के लोक-कल्याण के कार्यों में कुछ ऐसे कार्य हैं जिनको एक व्यक्ति भली-भांति कर नहीं सकता। उस अवस्था में भी वे कार्य सार्वजनिक सभा-समाजों के द्वारा किए जाने ही हितकर होंगे।

हमारा यह निश्चित मत है कि लोक-कल्याण के कार्य समाजवाद की उपज नहीं। समाजवाद के विचार के जन्म से पहले भी ये होते थे और अब भी होते हैं, जहाँ सम्पत्ति-विहीनों की प्रभुसत्ता नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अष्टम अध्याय

निष्कर्ष

(१) सम्पत्ति के आधार पर समाजवाद मनुष्यों में वर्गों की कल्पना करता है। इसमें श्रेष्ठ और दुष्ट का विचार न होने से यह अधर्म पर आधारित है।

(२) सम्पत्ति मानव-परिश्रम का स्थिर रूप है। समाजवाद परिश्रम के इस रूप को मान्यता नहीं देता। परिश्रम को मान्यता न देना अधर्म है।

(३) समाजवाद में जो बात स्पष्ट रूप में क्षम्य मानी है, वह व्यक्ति के लिए क्षम्य नहीं मानी। धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय, उचित-अनुचित, समष्टि और व्यक्ति दोनों पर सब बातें समान रूप में लागू होती हैं। यदि ऋण पर ब्याज, मकान का भाड़ा इत्यादि समाज को समष्टि रूप में हलाल है तो ये एक व्यक्ति को भी हलाल हो सकते हैं। सम्पत्ति पर आय की मात्रा क्या हो और उस आय का प्रयोग किस-किस प्रकार हो, केवल नियंत्रण के विषय हैं और वह नियंत्रण दोनों, समष्टि और व्यक्ति, के लिए समान होने चाहिए। समाजवाद में ऐसा नहीं है। यह धर्म विपरीत है।

(४) समाजवाद अपना आर्थिक प्रपंच राज्य द्वारा चलाना चाहता है। अर्थ की उपलब्धि और इसका वितरण राज्य के हाथ में होने से न्यायपूर्ण ढंग से होना असम्भव है। यह बात विशेष रूप में आपत्ति-जनक है, जब राज्य प्रजातन्त्रात्मक हो। अर्थ-व्यवस्था उन लोगों के हाथ में देने से, जिनकी अपनी स्थिति लोगों के मतदान पर निर्भर हो,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ का वितरण अनधिकारियों के लाभ में होने लगेगा।

धर्मतन्त्र अर्थ का वितरण उन लोगों के हाथ में होता है, जो अर्थ की उपलब्धि में योगदान देते हैं। राजा, मन्त्री-गण और सरकारी कर्मचारी अर्थ-उपलब्धि में सक्रिय भाग नहीं लेते। अतः उनका अधिकार नहीं कि वे उसके वितरण में हस्तक्षेप करें। वे सदा अनुत्तरदायित्वपूर्ण मिलकियत ही रख सकते हैं। इसके परिश्रम करने वालों को सदा हानि रहेगी। श्रमिक वर्ग इन राजनीतिक नेताओं की राजनीति के गुलाम हो जायेंगे। एक सत्ता-रहित मालिक को सन्मार्ग दिखाना सुगम होता है। इसकें विपरीत एक सत्ताधीश को ठीक मार्ग पर लाना अधिक कठिन है। यदि असम्भव कहें तो अधिक ठीक होगा।

धर्म-व्यवस्था में अर्थ-व्यवस्था वैश्य प्रवृत्ति के लोगों के हाथ में रहती है और राज्य क्षत्रिय प्रवृत्ति के लोगों के हाथ में। इस अवस्था में अर्थ-व्यवस्था पर राज्य का सुनियन्त्रण सुगम होता है।

(५) आर्थिक प्रजातन्त्र के अर्थ यह लिए जाते हैं कि किसी कारखाने अथवा उद्योग का प्रबन्ध उसमें सब काम करने वालों के मतानुसार हो।

यह व्यवस्था धर्मानुसार नहीं। इसमें योग्यता का विचार नहीं है। जो व्यक्ति जिस कार्य के योग्य हो, उसके अतिरिक्त कार्य उनसे लिया जाने लगेगा। कारखाने अथवा उद्योग में लगे सब लोगों का समन्वय करने वाला कोई व्यक्ति होना चाहिए। यह कई व्यक्ति मिलकर भी कर सकते हैं। इस समन्वय पर ही किसी उद्योग का मुख्य आधार है। इस समन्वय पर ही कार्य की सफलता निर्भर होती है। यह समन्वय करने वाला योग्यता के आधार पर नियुक्त होना चाहिए। साथ ही उसका, सफलता-असफलता में पूर्ण उत्तरदायित्व होना चाहिए। योग्यता और उत्तरदायित्व कर्मचारियों के मतदान से निश्चय नहीं हो सकता। इसमें व्यक्ति के कार्य की सफलता अथवा असफलता से उसका सम्बन्ध होना चाहिए। दूसरे शब्दों में इस समन्वय करने वाले अधिकारी का मालिक होना अथवा कार्य के हानि-लाभ से सम्बन्धित होना अत्यावश्यक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म-व्यवस्था में मालिक के भाग पर नियन्त्रण तो हो सकता है, परन्तु जितना भी भाग हो उसका सम्बन्ध हानि-लाभ से होना आवश्यक है।

आर्थिक प्रजातन्त्र के ये अर्थ भी लिये जाते हैं कि किसी उद्योग अथवा व्यापार के प्रबन्ध में भले ही सबकी सम्मति न ली जाए, पर उसके लाभ के वितरण में सब काम करने वालों की सम्मति ली जाए। इसका अर्थ यह है कि व्यवसाय का हानि-लाभ का चिट्ठा व्यवसाय में लगे सब व्यक्तियों की अनुमति से स्वीकार किया जाया करे।

यह एक व्यर्थ की बात ही है। कारण यह कि हानि-लाभ का चिट्ठा तो उन आधारों पर ही बनाया जाया करेगा अर्थात् लाभ का वितरण तो उन नियमों-उपनियमों के अनुसार ही होगा जो सरकार द्वारा स्वीकार किये गए होंगे। वास्तविक बात यह है कि कर्मचारियों को बोनस तो निश्चित नियम से ही मिलेगा। और चिट्ठा बनाने में हानि-लाभ तथा अन्य बातों में धोखाधड़ी तो न्यायालय के हस्तक्षेप का विषय है।

राष्ट्रीयकरण उन साधनों का तो किया जा सकता है, जो प्रकृति की ओर से किसी देश अथवा जाति को उपलब्ध हुए हैं। अभिप्राय यह कि भूमि का राष्ट्रीयकरण हो सकता है। इसी प्रकार उन पदार्थों का राष्ट्रीयकरण किया जा सकता है जो भूमि में से निकलते हैं। परन्तु मानव-परिश्रम का राष्ट्रीयकरण तो किसी व्यक्ति की सम्पत्ति छीनने के समान हो जायेगा। यह चोरी अथवा डाका डालने के तुल्य होगा। यह तो माना जा सकता है कि प्रत्येक मनुष्य के परिश्रम में समाज का सहयोग है। उस सहयोग का मूल्य समाज को अथवा समाज जिसको भी उस सहयोग का अधिकारी समझे, मिलना चाहिए, परन्तु परिश्रम करने वाला व्यक्ति मुख्य है। न केवल परिश्रम से प्राप्त धन का वह मुख्य भागीदार है, वरंच सरकारी अथवा समाज से नियुक्त किसी अन्य अधिकारी को, उसका भाग देने के पश्चात् बचे शेष का भोग अथवा वितरण उसका ही अधिकार है।

भूमि अथवा भूमि से निकलने वाले खनिज पदार्थों का मूल्य तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरकार भूमि के लगान और खानों पर रायल्टी के रूप ले लेती है। सरकार अपनी शान्ति व्यवस्था इत्यादि की सेवाओं के लिए कर ले लेती है। इसके उपरान्त मानव परिश्रम से प्राप्त धन का उपभोग और उसका दान-दक्षिणा इत्यादि में वितरण का अधिकार तो श्रमिक का ही है। यह धर्म-व्यवस्था है। समाजवाद इसके विपरीत होने से अधर्म ही हो सकता है।

वास्तव में समाजवाद और व्यक्तिगत पूंजीवाद (जैसा कि दुर्बल राज्यों में देखा जाता है) दोनों एक ही प्रकार की व्यवस्थाएँ हैं। दोनों में श्रमिकों के श्रम के फल के वितरण करने का अधिकार, श्रमिक के अतिरिक्त लोगों के हाथ में देने का आयोजन है।

समाजवाद ने वही कुछ किया है, जो आज से एक सौ वर्ष पूर्व एक पूंजीपति करता था। अन्तर केवल यह किया है कि व्यक्ति के स्थान एक विचार के कुछ लोगों का गुट शोषक बन गया है। सबसे पापयुक्त बात समाजवाद ने यह की है कि उस शोषक गुट को राज्य-सत्ता से भी सम्पन्न कर दिया है। इस कारण इस गुट के शोषण से बचना किसी व्यक्ति के शोषण से बचने से कहीं अधिक कठिन है। यदि एक वाक्य में कहा जाए तो वह यह है कि समाजवाद और धर्म-तन्त्र दो सर्वथा विरोधी हैं। समाजवाद मानव-कल्याण का सूचक नहीं हो सकता। कारण यह कि यह शाश्वत धर्म का विरोधी वाद है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषयानुक्रमणिका

अ

अकर्म विकर्म ६१.२२
अजामेकां (श्वे० उप० ४-५) ४५.५
अद्वैतवाद द्वैतवाद ४६४—५४.१९
अधिकार का निश्चय कौन करे ? ३२३.११—३२६.९
अनुपाजित आय ७३.२२—७५.९
अनुबन्धं क्षयं (भ० गी० १८-२५, २२) ८४.२८
अन्तवन्त इमे देहा (भ० गी० २-१८) ५२.२०
अरस्तू ८९.४
अर्थ का रूप प्राकृत पदार्थ ७२.५—७२.२८
अर्थ के रूप (चल एवं अचल) ७१.२१—७२.४
अर्थ परिश्रम का रूप ७१.२—७१.२०
अर्थ-व्यवस्था ७०.१—७६.२८, १२७.९—१२८.२१, १३०.१—१३१.१०
अर्थ-व्यवस्था कम्युनिज्म में १३८.२०—१३९.१६
अर्थ-व्यवस्था का उद्देश्य १२८.२२—१२९.८
अर्थ-व्यवस्था का राष्ट्रीयकरण १३८.६—१४०.२३
अर्थ-व्यवस्था जीवन स्तर १३९.१७—१४०.२३
अर्थ-व्यवस्था पर नियन्त्रण सरकारी १३५.९—१३६.१२
अर्थ-व्यवस्था पूंजीवाद १४०.६—१४०.१०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ व्यवस्था में प्रतिस्पर्धा १३६.७—१३६.१३,
१३७.१३—१३७.१७
अर्थ-व्यवस्था में समानता एवं सम्पत्ति १६३.१७—१६६.९
अशोक मेहता और प्रजातंत्र २८९.८—२९०.१
अशोक मेहता और राज्य से व्यवहार २९२.४—२८२.१६
अशोक मेहता और राज्य हस्तगत
करने के उपाय २९४.८—२८४.२८
अशोक मेहता और संयुक्त परिवार २९१.९—२९१.१६
अस्य वामस्य (ऋ० १-१४६-१) ४२.२३
अहमिन्द्रो (ऋ० १०-४८-५) ४२.१

आ

आत्म तत्त्व इन्द्रियातीत ३८.१४—३८.२८
आत्म तत्त्व की अनुभूति ३९.१—३९.१७
आत्म तत्त्व के लक्षण न्याय दर्शन से १२.८—१२.११
आत्म तत्त्व के लक्षण वैशेषिक से १२.१२—१२.२१
आत्म तत्त्व दो १५.१७—१५.२१
आत्म तत्त्व दो अथवा एक ३९.१८—४०.२४
आत्म तत्त्व पाश्चात्य वैज्ञानिकों के अनुसार ३१.१—३३.२१
आत्म तत्त्व भारतीय दर्शन के अनुसार ३३.२२—३६.९
आत्म सम्भाविता (भ० गी० १६-१७) २१६.७
आत्मानं रथिनं (कठो० १-३-३, ४) ५३.२२
आर्थिक वर्ग मिथ्या १७२.१४—१७२.२२
आर्थिक समानता १५८.१—१६६.९
आर्थिक समानता अस्वाभाविक १६०.९—१६०.१८
आर्थिक समानता का अर्थ १५८.१—१६०.८
आददीत बलि चापि (म० भा० शा० ६९-२५) १११.१०
आदि युद्ध में कर्म-विकर्म ५६.११—५७.२५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपूर्यमाणम··· (भ० गी० २-७०) ६०.८
आश्रम धर्म ३११.१
आस्तिकवाद ७.२७—८.१०

इ

इन्द्रियाणि (भ० गी० ३-४२) ५४.६

ई

ईशा वास्यमिदं (यजु० ४०-१) ४१.२०
ईक्षतेनाशब्दम् (ब्र० सू० १-१-४) ३८.७
ईसाई मत और बुद्धिशील लोग १७७.१७

उ

उत्पादनकर्ता १२७.२४—१२८.१५
उत्पादन पर नियंत्रण १३२.५—१३३.२६
उत्पादन में भागीदार और नियंत्रण १२८.२—१३३.४
उद्योग व्यापार राज्याधीन २६४.५—२६६.१०
उपभोक्ता की क्रय-शक्ति १३४.१—१३५.८
उपार्जित-अनुपार्जित आय ७३.२२—७६.७

ए

एंजल और स्टेट २७२.९—२८१.२६, २८३.२८—२८५.२
एतज्ज्ञेयं (श्वे० उप० १-१२) ४४.२५

औ

औलिवर लाज-सर ३१.११—३३.१०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋ

ऋग्वेद (आश्विना पुरुदंसा १-३-२) २८.६
ऋग्वेद (अग्निमीले १-१-१) २१.१६
ऋग्वेद (अग्निर्होता १-१-५) २७.२०
ऋग्वेद (ऋचो अक्षरे १-१६४-३९) ४१.११
ऋग्वेद (द्वा सुपर्णा १-१६४-२०) १५.१९
ऋग्वेद (वायो तव १-२-३) २७.२७

क

कठोपनिषद् (यस्मिन्निदं १-१-२९) १८.६
कम्युनिज्म की अव्यवहारिकता २४६.१—२५२.७
कम्युनिष्ट मेनिफेस्टो अर्थ तथा सभ्यता १५१.१३—१५२.२
कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो धनिक वर्ग १५३.२५—१५५.११
कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो वर्ग व्यवस्था १५१.१—१५२.२
कर्म का आधार ३१३.१६—३१५.११
कर्म मीमांसा ५५.१—५६.१०
कर्म से वर्ण परिवर्तन ३०८.२४—३०९.१७
कार्य जो राज्य करे तो हानि ११८.१८—११८.२७
कार्य जो राज्य के करने योग्य नहीं ११८.११—११८.१७
कार्य जो राज्य दूसरों से अच्छा कर सकता है ११८.२—११८.१०
कार्य जो राज्य ही कर सकता है ११७.१०—११८.१
कैपिटल—अर्थ-व्यवस्था २२३.१—२२८.२३
कैपिटल—अर्थ-व्यवस्था का सारांश २४३.१—२४५.२१
कैस्पर होज़र ८२.१४—८२.२९

ग

ग्राहक (मंडी) १२७.१२—१२७.२३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

च

चतुर्भिरपि (मनु० ६.९१, ९२) ६५.२
चार्टरिज़्म १८४.११—१८५.५
चार्ल्ज़ फॉरार १९४.१—१९८.२७
चेतन-जड़ में भेद १२.२—१२.४

ज

जगत् की उत्पत्ति २२.१०—२२.२७
जन्तु और योनि १४.२०—१५.७
जीवन के लक्षण वर्तमान विज्ञान के अनुसार १३.२७—१४.४
जीवन भारतीय मत तथा वर्तमान वैज्ञानिक मत १२.२८—१४.११
जीवात्मा उपनिषद् में ४३.२८—४५.१४
जीवात्मा वेदों में ४२.२०—४३.१७

ड

डार्विन का विकासवाद २०.४—२१.१, २९.१—२९.८
ड्यूज़नबरी में भूल १६२.६—१६३.१४
ड्यूज़नबरी सिद्धान्त १६०.१९—१६२.८

त

तमूचुस्तत्र (म० भा० शा० ५९-१७३) ७८.८
तामसी ज्ञान ८४.२८—८५.१४

थ

थेल्ज़ १७.८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द

द्वा सुपर्णा (ऋ० १-१६४-२०) ४३.१२
द्वाविमौ (भ० गी० १५-१६, १७) ४६.२

ध

धर्म ६४.१—६६.२६
धर्म अर्थ का सम्बन्ध ७६.१०—७२.२८
धर्म अर्थ काम ६४.१—६४.१२, ७०-१—७१.१
धर्म और शासन ३२२.१—३२८.१०
धर्म और समाजवाद—विरोध ३२४.१—३४५.२१
धर्म तथा दंड विधान ६८.६—६६.२६
धर्म में जिनके लिए दण्ड नहीं ३१७.११—३२१.८
धर्म में जिनके लिये दण्ड है ३१६.२१—३१६.२६

न

न चायुर्वेद शास्त्रे (सुश्रुत शरी० १-१७, १८) ५१.८
नचिकेता (कठो० १-१-२६) १८.५—१८.१२
न वै राज्यं (म० भा० शा० ५६, १४,१५) ५६.१४
नष्टायां प्रतिपत्तौ (म० भा० शा० (५६-१७ से २०) ५७.१२
नाराजकेषु (म० भा० शा० ६७.५) ११०.१४
निर्धन वर्ग की मीमांसा १५२.११—१५३.२०
नीति शास्त्र का प्रादुर्भाव ५६.२६—६१.१
न्यायकर्ता ३२७.१—३२८.१

प

पंचैमानि महाबाहो (भ० गी० १८.१३, १४) ३१४.२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूंजी-निर्माण २३५.१—२४२.२८
पूंजी से लाभ की भावना २६१.२—२६४.४
पूंजीपति का धन बढ़ता ही है २४०.१२—२४५.२६
पूंजीपति तथा समाजवाद २६१.१६—२६४.४
परमात्मा वेदों में ४१.१०—४२.१७
परमेनाइडस १७.८
परिवार ८७.१—८७.२६
परिश्रम और पूंजी (कैपिटल में) २२६.१—२३१.२७
परिश्रम और माध्यम (साधन) १२५.२८—१२६.८
परिश्रम ग्राहक १२६.२६—१२७.८
परिश्रम में प्रोत्साहन १२६.६—१२६.२६
परिश्रम में राज्य और समाज का योगदान १२४.१—१२५.२७
परिश्रम में सहयोगी माध्यम ७३.१५—७३.१६
पृथक्त्वेन (भ० गी० १८-२१) ८१.५—२५६.१५
प्राणियों की श्रेणियाँ १४.१२—१४.२१
प्राणी में तीन तत्त्व १६.५—१६.१२

फ

फेबियन और मूल्य २४८.४—२४६.२६
फेबियनिज़्म २४७.११—२५२.७
फ्रेडरिक नीज्शे १७.२७

ब

बलिषष्ठेन (म० भा० शा० ६६-२५) १११.१५
बहुशाखा (भ० गी० २-४१ से ४४) ८६.१५
बुद्धि का विकास (वेदानुसार) २७.१८—२८.२४
बुद्धि की विशेषता ६१.११—६१.१५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बृहदारण्यक उपनिषद् (सृष्टि उत्पत्ति) २२.८
ब्रह्मा के मानस-पुत्र २७.१०—२७.१७
ब्राह्मण के कर्म स्वभाव एवं गुण ३०६.११—३०६.१९
ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशां (भ० गी० १८-४१) ३०४.१६
ब्राह्मणा मे महाभागा (म० भा० शा० ५६.१०९) १११.१

भ

भागवत पुराण (सृष्टि उत्पत्ति) २२.२८—२३.५
भारतीय विचार (सृष्टि उत्पत्ति) २९.९—२९.१५
भूमि अर्थ का रूप ७२.११—७२.२८

म

मजदूर कौन १७३.१८—१७५.२९
मजदूर वर्ग का राज्य १७२.२३—१७३.१२
मनुष्य उत्पत्ति २०.१—३०.८
मनुष्य उत्पत्ति बृहदारण्यक उप० में २२.१०—२२.२७
मनुष्य उत्पत्ति भारतीय दर्शन में २१.२—२२.२७
मनुष्य क्या है ११.१—१२.१, १८.२४—१९.१०
मनुष्य बुद्धिशील ८९.९—८९.२८
मनुष्य-पशु में अन्तर ५८.१७—५९.२०
मनुष्य में ह्रास ८३.१५—८३.२५
महदाख्यं (सांख्य १-७१) ५०-१८
माध्यम (साधन) परिश्रम १२६.९—१२६.२६
मांग और प्रदाय १३६.१३—१३७.१२
मानसिक-दासता अंग्रेजी काल में ५.१०—६.१५
मानसिक दासता कांग्रेस काल में ६.२७—७.२०
मानसिक स्वतन्त्रता मुसलमानी काल में ५.५—५.९, ६.१६—६.१७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मार्क्स और एंजल २०७.१—२२२.६
मैनिफेस्टो आलोचना २१२.१९—२२२.६
मैनिफेस्टो और कर्मचारी आन्दोलन २०९.३— २१०.८
मैनिफेस्टो और स्टेट २६९.१६—२७०.२
मैनिफेस्टो कम्युनिस्ट चरित्र २११.१५—२१२.१८
मैनिफेस्टो जर्मनी २११.८—२११.१४
मैनिफेस्टो तथा पूर्वकाल के समाजवादी २१०.९—२११.७
मैनिफेस्टो में मशीनों का प्रभाव २०८.१७—२०९.२
मैनिफेस्टो में वर्ग २०७.१६—२०८.१६
मैलिनोविस्की ९६.२९
मैकिवर आर० एम० ११५.१९—११७.४
मोक्ष तथा मज़हब ६२.४—६३.१७

य

यद्यप्यस्य (म० भा० शा० ५८-२३) ११०.७

र

रजोगुण की उत्पत्ति ८१,३—८१.१७
रागी कर्मफलं (भ० गी० १८-२७) २६४.१३
राजा ब्राह्मण के आदेश में ११०.१७
राज्य ७७.१—८५.१२
राज्य कम्युनिज़म की दृष्टि में २७५.१९—२७७.२३
राज्य का अन्तर्राष्ट्रीय कार्य १२१.१५—१२३.१२
राज्य का कर्त्तव्य ११०.१—११४.१८, १२०.८—१२०.१३
राज्य की प्रथम स्थापना (भारतीय कल्पना) ७७.४ —७९.५
राज्य की प्रथम स्थापना (योरोपीय कल्पना) ७९.१४—८०.१७
राज्य तथा धन की प्राप्ति ११२.९—१११.१९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्य तथा सांस्कृतिक संस्थान ११५.६—११७.६
राज्य पर नियन्त्रण ११६.१६—१२०.४
राज्य में सेना और पुलिस (एंजल) २७८.१८—२८०.१५
राज्य-रहित व्यवस्था ८४.१०—८४.१७
राज्य-व्यवस्था (वर्तमान युग में) ११४.१६—११५.३
राज्य समाजवादियों की दृष्टि में २६७.१२—२८१.२६, २८६.१६—२८६.२४
राज्याधिकार सीमित ११६.१३—११६.१५
रॉबर्ट ओवन १६६.१—२०६.२८
रूसी समाज की त्रिज्या ६६.२६—६८.४
रूसो १७.२३
रोजा लग्ज़मबर्ग २६१.१७—२६१.२६

ल

लाभ (कैपिटल के अनुसार) २३१.२३—२३४.१५
लेनिन और प्रजातन्त्र २७२.१८—२८३.२३
लेनिन और स्टेट २८८.१६—२८६.५

व

वर्ग १४१.१—१४५.११
वर्ग (आर्थिक दृष्टि से) भूल १५५.१२—१५७.२६
वर्ग आर्थिक १४५.१०
वर्ग मार्क्सवादी १४४.१४—१५१.२१
वर्ण धर्म ३०४.१—३१०.४
वर्तमान विज्ञान एवं नास्तिक्य १८.१८—१८.२३
वानप्रस्थं (म० भा० शा० ६१-२ से ५) ३१२.१—३१२.१५
वाल्टेयर १७.२३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकर्म की उत्पत्ति ५७.२७—५८.१६
विकासवाद अभारतीय ८३.२६—८४.५
वेदः स्मृतिः सदाचारः (मनु० २-१२) १२१.१
वैन्यस्ततस्ता (म० भा० शा० ५९-१०३) ७८.१९
वृजिनं च (म० भा० शा० ५७-१४) ११०.४
व्यक्ति और समाज ९३.१—१०९.६
व्यक्तिगत धर्म समाज धर्म ६६.२६—६८.३

श

श्रमिक कैपिटल में २२६.९—२२६.१४,
श्रमिक विवेचना २२७.६—२२८.१३
श्वेताश्वतर (ज्ञा ज्ञौ… १-९) १५.२२
श्वेताश्वतर (एको हि रुद्रो ३-२) २१.२१
शासन ३२७.८—३२७.१७
शासन और शिक्षा ३२७.१८—३२७.२१
शासन स्वतन्त्रता का रक्षक ३२२.१—३२३.१०
शूद्रोब्राह्मणतामेति (मनु० १०-६५) ३०८.२४
शूद्रो राजन् भवति (म० भा० शा० ६३-४, ५, ८) ३०९.२

स

संयुक्तमेतत्क्षरं (श्वे० उप० १-८) ४४.२
सहंतपरार्थत्वात (सां० १-६६) ३८.११—५०.२२
सत्वरजस-तमसां (सां० १-६१) ४८.२६
सनातन धर्म तथा अस्थायी धर्म ६४.१६—६६.३
स पर्यगाच्छुक्र (मनु० ४०-८) ४१.२३
समन्वय जगत् में ३७.२५—३८.५
समाज ८६.१—९२.१४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज और टोला (गैंग) ६६.६—६६.१०
समाज और राज्य में भेद १००.५—१००.१५
समाज और वर्ग १४१.१—१५७.२६
समाज और राज्य ११०.१—१२३.१२
समाज के नियम पालन कराने ६६.१३—१०५.१४
समाज के आश्रय मनुष्य ६०.१५—६१.२२
समाज की त्रिज्या ८७.२७—६१.१६
समाज (स्वतंत्र) की त्रिज्या ६१.२३—६२.१४
समाज के प्रथम सुधारक १८१.१८—१८३.६
समाज सुधार और कम्युनिज्म १७२.१०—१८७.२०
समाज छोड़ने की स्वतन्त्रता ८७.२७—८८.२६
समाज छोड़ने पर प्रतिबन्ध ८८.२७—८६.२
समाज में बल प्रयोग ६६.१३—१००.११
समाज, राज्य और अर्थ १२४.१—१४०.२३
समाज समुदाय ८६.१—८६.२०
समाज से बाहर करने के उपाय १०५.१५—१०८.२३
समाजवाद (परिभाषा) १६६.७—१७०.५
समाजवाद का यथार्थ रूप २५५.१—२५७.२७
समाजवाद की अयुक्तता २५७.२८—२५६.२५
समाजवाद की कल्पना १७७.१३—१८२.२२
समाजवाद में अकिंचन ८.१६—६.१
समाजवाद में वर्ग १७२.१४—१७२.२३
समाजवाद में राज्य २६०.२७—२६१.१८
समाजवादी राज्य तथा धर्म-राज्य ३२६.१—३३३.२६
सात्विक ज्ञान ८१.२१—८२.४
सामाजिक व्यवहार में बुद्धि ८६.६—१०३.१२
सायंस और दर्शन शास्त्र १६.१४—१७.५
सुकरात १७.६, १७.११—१७.१६
सेंट साइमन १८८.१—१६३.२३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सृष्टि की उत्पत्ति (पुराणों में) २२.२१—२३.२८
सृष्टि की उत्पत्ति (वर्तमान युग में) २४.११—२५.१२
सर्वभूतेषु (भ० गी० १८-२०) ८१.२३
सर्वस्यास्यतु (मनु० १-८७ से ९१) ३०७.२४—३०८.२०
स्व उन्नति ८२.५—८२.२०
स्वत: ज्ञान नहीं ३७.३—३७.१८
स्थिर बुद्धि ९०.४—९०.१२
स्पिनोजा १७.२२
स्वेषु धर्मेषु (म० भा० शा० ६०-१६) ११४.१४
स्वे स्वे कर्मण्य (भ० गी० १८-४५) ३०७.२

ह

हरिक्लिप्टस १७.८
हर्बर्ट स्पेन्सर १७.२३
हिन्दू समाज की त्रिज्या ६६.९—६६.२८

क्ष

क्षत्रियस्यापि (म० भा० शा० ६०-१३, १४) ११४.५

ज्ञ

ज्ञाज्ञौ (श्वे० १-९) ४४.६
ज्ञानं ज्ञेयं (भ० गी० १८-१८) ३१३.१७
ज्ञान ईश्वर से ३७.१९—३३.२४, ८२.२१—८२.२६
ज्ञान स्वयं अनुभव से ३६.१०—३६.१९

• •

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Central Library
167920
Gurukula Kangri (Deemed to be University) Haridwar

श्री पुरुषोत्तम नागेश ओक की खोजपूर्ण रचनाएं

	मूल्य पेपर बैक संस्करण
फल ज्योतिष (ज्योतिष के विचार पक्ष तथा ज्योतिष विद्या पर अनूठी पुस्तक)	२५.००
वैदिक विश्व राष्ट्र का इतिहास-१	३०.००
वैदिक विश्व राष्ट्र का इतिहास-२	४०.००
दिल्ली का लाल किला लाल कोट था	२०.००
भारत में मुस्लिम सुल्तान-१	३०.००
भारत में मुस्लिम सुल्तान-२	२०.००
ताजमहल मन्दिर भवन है	२०.००
भारतीय इतिहास की भयंकर भूलें	३०.००
कौन कहता है अकबर महान् था ?	३०.००
विश्व इतिहास के विलुप्त अध्याय	१६.००
लखनऊ के इमामबाड़े हिन्दू भवन हैं	१५.००
फतहपुर सीकरी हिन्दू नगर है	२०.००

भारती साहित्य सदन
३०/९०, कनॉट सरकस, (मद्रास होटल के नीचे)
नई दिल्ली-११०००१

081
167920
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

पुस्तकालय
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
वर्ग संख्या R 089.9143 GUR-D आगत संख्या 167920

पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित 30वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए। अन्यथा 50 पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब शुल्क लगेगा।

081
167920
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

GURUKUL KANGRI LIBRARY

	Signature	Date
Access No.		
Class No.		
Cat No.		
Tag etc.		
E.A.R.		
Recomm. by.		
Data Ent. by		
Checked		

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar